

सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

पूज्य पिता जी को

सूरपूर्व ब्रजभाषा के उन भ्रूत लेखकों की स्मृति
में, जिनकी रचनाएँ सूर-साहित्य के विशाल भवन
के निर्माण के लिए नींव में द्य गईं।

पूज्य पिता जी को

सूरपूर्व मजभाषा के उन भ्रूत लेखकों की स्मृति
में, जिनकी रचनाएँ सूर-साहित्य के विशाल भवन
के निर्माण के लिए नींव में दव गईं।

तद्भव शब्दों का एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषद् विकसित और परिवर्तित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ जाने से भाषा भी बदली सी जान पड़ने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनोंको शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा। शास्त्र मत की दृढ़ प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में, और साहित्य की भाषा में भी, तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि यह उतनी नवीन थी नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी ने तत्कालीन साहित्य की भाषा का जा मथन किया है उससे यह व्यक्तव्य और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है। शिवप्रसादजी १२वीं से चौदहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रंथोंकी भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सूरदास के पूर्व के कई अज्ञात और अल्पज्ञात ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने इस काल की भाषा, साहित्य और काव्य रूपों का बहुत ही उद्बोधक परिचय दिया है। इस निबन्ध में १४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के बीच लिखे गये ब्रजभाषा साहित्य का जो अब तक अज्ञात या अल्पज्ञात था, समुचित आकलन होने के कारण, सूरदास की पहले की ब्रजभाषा की वृद्धि शृंगार का उचित निर्धारण हो जाता है।

विद्वानों की धारणा रही है कि ब्रजभाषा में सगुण भक्ति का काव्य ब्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबन्ध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है। सगुण भक्ति का ब्रजभाषा काव्य सूरदास के पूर्व आरम्भ हो चुका था जिसका सकेत प्राकृतपैंगलम् तथा अन्य अपभ्रंश रचनाओं में चित्रित कृष्ण और राधा के प्रेम परक प्रसंगों तथा स्तुतिमूलक रचनाओं से मिलता है। जैन काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानों के मन में अभी उतना आकर्षण नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य के आदिवाल में लिखा था कि इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझ जाना चाहिए। शिवप्रसादजी ने सूरपूर्व ब्रजभाषा के जैन काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्व भी दिखाया है।

तद्भव शब्दों का एकमात्र राज्य था। इस बीच धीरे धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईपद् विकसित और परिवर्तित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली सी जान पड़ने लगी। भक्ति के नवीन आन्दोलन ने अनेक लौकिक जन-आन्दोलनोंको शास्त्र का पल्ला पकड़ा दिया और भागवत पुराण का प्रभाव बहुत व्यापक रूप से पड़ा। शास्त्र मत की दृष्टि प्रतिष्ठा ने भी बोलचाल की भाषा में, और साहित्य की भाषा में भी, तत्सम शब्दों के प्रवेश को सहारा दिया। तत्सम शब्दों के प्रवेश से पुरानी भाषा एकाएक नवीन रूप में प्रकट हुई, यद्यपि यह उतनी नवीन थी नहीं। मुझे प्रसन्नता है कि शिवप्रसादजी ने तत्कालीन साहित्य की भाषा का जा म्पन किया है उससे यह स्पष्ट और भी पुष्ट और समर्थित हुआ है। शिवप्रसादजी १२वीं से चौदहवीं शताब्दी तक के उपलब्ध ग्रंथों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण करके अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। सूरदास के पूर्व के कई अज्ञात और अल्पज्ञात ब्रजभाषा कवियों की रचनाओं के आधार पर उन्होंने इस काल की भाषा, साहित्य और काव्य रूपों का बहुत ही उद्बोधक परिचय दिया है। इस निबन्ध में १४वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी के बीच लिखे गये ब्रजभाषा साहित्य का जो अब तक अज्ञात या अल्पज्ञात था, समुचित आकलन होने के कारण, सूरदास की पहले की ब्रजभाषा की त्रुटित शृंखला का उचित निर्धारण हो जाता है।

विद्वानों की धारणा रही है कि ब्रजभाषा में सगुण भक्ति का काव्य ब्रजप्रदेश में वल्लभाचार्य के आगमन के बाद लिखा जाने लगा। शिवप्रसाद जी के इस निबन्ध से इस मान्यता का उचित निरास हो जाता है। सगुण भक्ति का ब्रजभाषा काव्य सूरदास के पूर्व आरम्भ हो चुका था जिसका सकेत प्राकृतपौगलम् तथा अन्य अपभ्रंश रचनाओं में चित्रित कृष्ण और राधा के प्रेम परक प्रसंगों तथा स्तुतिमूलक रचनाओं से मिलता है। जैन काव्य के विषय में हिन्दी विद्वानों के मन में अभी उतना आकर्षण नहीं हुआ है जितना होना चाहिए। मैंने हिन्दी साहित्य के आदिकाल में लिखा था कि इधर कुछ ऐसी मनोभावना दिखाई पड़ने लगी है कि धार्मिक रचनाएँ साहित्य में विवेच्य नहीं हैं। मुझे यह बात उचित नहीं मालूम होती। धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश का होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझ जाना चाहिए। शिवप्रसादजी ने सूरपूर्व ब्रजभाषा के जैन काव्य का बहुत सुन्दर और सन्तुलित विवेचन किया है तथा पूर्ववर्ती अपभ्रंश और परवर्ती ब्रजभाषा काव्य के अध्ययन में उसका उचित महत्त्व भी दिखाया है।

आभार

सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य का इतिहास अत्यंत अस्पष्ट और कुहाह्लन्नप्राय रहा है। सूरदास का ब्रजभाषा का आदि कवि मानने में ब्रजभाषा के प्रमी चित्त को उल्लास और गर्व का अनुभव भले ही हाता हा, जा स्वाभाविक है, क्योंकि आरम्भिक अवस्था में इतनी महती काव्योपलब्धि किसी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है, किन्तु सत्यामिनिबन्धी और भाषा विकास के अनुसंधित्नु निरंतर उस टूटी हुई शृंखला के सधान की आशा से परिचालित हाते रहे हैं जिसने अपनी पृष्ठभूमि पर सूर जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली महाकवि को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु अनुसंधायकों की यह आशा आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कभी भी फलपती नहीं हुईं क्योंकि दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक क ब्रज साहित्य का सधान पुस्तकों में नहीं उन ज्ञात अधिज्ञात भांडारों में हा सकता था जा अद्यावधि अत्यन्त स्थित हैं और अपनी उदरस्थ सामग्री के विषय म अक्लरनीय मौन धारण किए हुए हैं।

सन् १९५३ में गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूरपूर्व ब्रजभाषा साहित्य के सधान का यह कार्य मुझे सौंपा ता मैं उस अज्ञात सामग्री की प्राप्ति के विषय म किंचित् आशावित जरू था, किन्तु अपनी समित शक्ति और भांडारों में दधी सामग्री की पुष्कल राशि का भी मुझे पूरा ध्यान था। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और न जाने अन्य कितनी भाषाओं में लिखे हस्तलेखों, गुटकों म से सूर पूर्व ब्रजभाषा की सामग्री खोज निकालना तथा भिन्न भिन्न लिपियों में लिखे इन अग्राध्य लेखों के विचित्र अक्षरों को उकीलने के बाद भी जो सामग्री मिलती, उसकी प्रामाणिकता के विषय में सदेह हीन हा पाना एक कठिन कार्य था। जयपुर पुरातत्त्व मंदिर के सभाय सचालक मुनिजिन विजय जी, आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, अमय जैन पुस्तकालय गीबानेर के सचालक श्री अरचन्द नादंग, श्रीमुज मथुरा के श्री ब्रजवल्लभ शरण, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकारी जन, अनूप सस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कई अल्पज्ञात भांडारों के उरसाही जनों ने यदि मेरी सहायता न की हाती, ता ब्रजभाषा की इस शुण्ठि कड़ी को जाडने का यह मर्किंचित् प्रयत्न भी समभव न हो पाता।

हस्तलेखों म प्राप्त सामग्री के अलावा सूर पूर्व ब्रजभाषा से सम्बद्ध प्रकाशित सामग्रा का भी उक्त दृष्टि से अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी भी भाषा की मध्यान्तरित अवस्था का अध्ययन उसकी पूर्ववता और परवता अवस्था के सम्यक् आकलन के बिना समभव नहीं है। सूर पूर्व ब्रजभाषा के स्वरूप निर्धारण के सम्य परवता ब्रजभाषा से उसके सम्बंधों का निरूपण करते समय डा० धीरेंद्र वमा की पुस्तक 'ब्रजभाषा' से बहुत सहायता मिली। लेखक उनके प्रति अपना निमग्न आभार व्यक्त करता है।

इस प्रबंध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र कराने में अन्य भी कई सजना ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग के अध्यक्ष डा०

आभार

सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य का इतिहास अत्यन्त अस्पष्ट और कुहान्धुवप्राय रहा है। सूरदास का ब्रजभाषा का आदि कवि मानने में ब्रजभाषा के प्रमी चित्त को उल्लास और गर्व का अनुभूत भले ही हाता हा, जा स्वाभाविक है, क्योंकि आरम्भिक अवस्था में इतनी महती काव्योपलब्धि किमी भी भाषा के लिए गौरव की वस्तु हो सकती है, किन्तु सत्याभिनिवेश और भाषा विकास के अनुसंधित्सु निरंतर उस टूटी हुई शृंखला के सधान की आशा से परिचालित हाते रहे हैं जिसने अपनी प्रभूमि पर सूर जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली महाकवि को प्रतिष्ठापित किया। किन्तु अनुसंधायकों की यह आशा आधारभूत प्रामाणिक सामग्री के अभाव में कभी भी फलपत्ती नहीं हुईं क्योंकि दसवीं शताब्दी से सोलहवीं तक क ब्रज साहित्य का सधान पुस्तकों में नहीं उन ज्ञात अविज्ञात भांडारों में हा सकता था जा अव्यावधि अस्पष्टस्थित हैं और अपनी उदारस्थ सामग्री के विषय म अकल्पनीय मौन धारण किए हुए हैं।

सन् १९५३ में गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जब सूरपूर्व ब्रजभाषा साहित्य के सधान का यह कार्य मुझे सौंपा ता मैं उस अहात सामग्री की प्राप्ति के विषय म किंचित् आशावित जरू था, किन्तु अपनी सामित शक्ति और भांडारों में दबी सामग्री की पुष्कल राशि का भी मुझे पूरा ध्यान था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और न जाने अन्य कितनी भाषाओं में लिखे हस्तलेखों, गुटकों म से सूर पूर्व ब्रजभाषा की सामग्री खोज निकालना तथा भिन्न भिन्न लिपियों में लिखे इन अग्राह्य लेखों के विचित्र अक्षरों को उकीलने के बाद भी जो सामग्री मिलती, उसकी प्रामाणिकता के विषय में संदेह हीन हा पाना एक कठिन कार्य था। जयपुर पुरातत्त्व मंदिर के सभाय सचालक मुनिजिन विजय जी, आमेर भांडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, अभय जैन पुस्तकालय बीकानेर के सचालक श्री अरचन्द नाइगा, धीमुज मधुरा के श्री ब्रजवल्लभ शरण, काशी नागरीप्रचारिणी सभा के अधिकारी जन, अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कई अल्पज्ञात भांडारों के उत्साही जनों ने यदि मेरी सहायता न की हाती, ता ब्रजभाषा की इस घुटित कड़ी को जाडने का यह यत्किंचित् प्रयत्न भी समभव न हो पाता।

हस्तलेखों म प्राप्त सामग्री के अलावा सूर पूर्व ब्रजभाषा से संरद्ध प्रकाशित नामग्रा का भी उच्च दृष्टि से अध्ययन आवश्यक प्रतीत हुआ। किसी भी भाषा की मध्यान्तरित अवस्था का अध्ययन उसकी पूर्ववृत्ता और परवृत्ता अवस्था के सम्यक् आकलन के बिना समभव नहीं है। सूर पूर्व ब्रजभाषा के स्वरूप निर्धारण के सम्य परवृत्ता ब्रजभाषा से उसके सन्धों का निरूपण करते समय डा० धीरेंद्र वमा की पुस्तक 'ब्रजभाषा' से बहुत सहायता मिली। लेखक उनके प्रति अपना निमग्न आभार व्यक्त करता है।

इस प्रबंध के लिए उपयोगी सामग्री एकत्र कराने में अन्य भी कई सजना ने अपना अमूल्य सहयोग दिया है। गुवाहाटी विश्वविद्यालय के असमिया विभाग के अध्यक्ष डा०

विषय-सूची

(अंक परिच्छेदसंख्या के सूचक हैं)

१. प्रास्ताविक

ब्रजभाषा के उदय-काल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की धारणाएँ, १-२-सत्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा के आकस्मिक उदय माने जाने के कारण ३-४ इस मान्यता की श्रुतियाँ और सीमाएँ : मध्यदेशीय भाषा की महतो परम्परा १७ वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का उदय मानने से त्रुटित-विक्रमी दसवीं से १६ वीं शताब्दी तक की मध्यन्तरित त्रुटित शृंखला के पुनर्निर्माण का प्रस्ताव-आधारभूत सामग्री और उसका पुनर्निरीक्षण-५-१२, ब्रजभाषा सम्बन्धी कार्य, आरम्भिक ब्रजभाषा के अध्ययन के अभाव में इन कार्यों की अपूर्णता १३-१४, आदिकालीन तथा भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि-आरम्भिक ब्रज-काव्य, इस साहित्य के तथाकथित अभाव के कारण परवर्ती साहित्य के अध्ययन में उत्पन्न कठिनाइयाँ—साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और काव्यरूपों के अध्ययन के लिये दसवीं से सोलहवीं शताब्दी के ब्रजसाहित्य का सधान आवश्यक १५-१७

२. ब्रजभाषा का रिक्त : मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

मध्यदेश-उसकी भाषा-परम्परा का ब्रजभाषा के रिक्त के रूप में अध्ययन, १८-भारतीय आर्यभाषा का आरम्भ-छन्दस्, १९-आर्यभाषा के अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती विभाजन—इस विभाजन के भाषा शास्त्रीय आधार—इनकी विशेषताएँ और श्रुतियाँ, २०-वैदिक भाषा की ध्वनि प्रक्रिया : स्वर सप्रसारण, स्वरमत्ति, स्वरगम तथा र-ल की विनिमेषता—ब्रजभाषा के विकास में इनका योग, २१-वाक्य विन्यास में कर्ता, कर्म, क्रिया का अनुक्रम, उपसर्ग और भाषा विशिष्टता, २२-मध्यदेशीय छन्दस् के ब्राह्मणों में परिगृहीत रूप से सञ्चित का निर्माण—बौद्ध भारत में भाषा स्थिति, २३-२४-अशोक के शिलालेखों की भाषा-रू के विभिन्न परिवर्तन, आदि स्वर-श्लेष तथा अन्य ध्वनि विकार, २५-पालि : मध्यदेश की भाषा-पालि भाषा के ध्वनि-तत्त्व और रूप-तन्त्र का विश्लेषण, ब्रजभाषा के निर्माण में इनका प्रभाव, २६-२७-नाटकों की प्राकृतें : महाराष्ट्री शौरसेनी का कनिष्ठ रूप-प्राकृतों में ध्वनि और रूप संबंधी विकास—नव्य आर्य भाषा पर इनका प्रभाव, २८-२९-शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशेषताएँ, ३०-अपभ्रश : ध्वनि और रूप-ब्रजभाषा के गठन—निर्माण में इसका योग, ३१-३४ ।

३. ब्रजभाषा का उद्गम गौरीसेनी अपभ्रश (विक्रमी १०००-१२००)

अपभ्रश और नव्य आर्य भाषाएँ, ३५-३६-शौरसेनी अपभ्रश कहा की भाषा थी—मध्यदेश से इसका सम्बन्ध, ३७-४०-प्राकृत व्याकरण में हेमचन्द्र सकलित दोहों की भाषा—देशी विदेशी विद्वानों की धारणा कि यह भाषा मध्यदेशीय है, ४१-कुल्लेक गुजराती विद्वानों

विषय-सूची

(अंक परिच्छेदसंख्या के सूचक हैं)

१. प्राम्ताविक्र

ब्रजभाषा के उदय-काल के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की धारणाएँ, १-२-सत्रहवीं शताब्दी में ब्रजभाषा के आकस्मिक उदय माने जाने के कारण ३-४ इस मान्यता की ज़ुटिया और सीमाएँ : मध्यदेशीय भाषा की मद्दती परम्परा १७ वीं शताब्दी में ब्रजभाषा का उदय मानने से ज़ुटित-विक्रमी दसवीं से १६ वीं शताब्दी तक की मध्यन्तरित ज़ुटित शृङ्खला के पुनर्निर्माण का प्रस्ताव-आधारभूत सामग्री और उसका पुनर्निरीक्षण-५-१२, ब्रजभाषा सम्बन्धी कार्य, आरम्भिक ब्रजभाषा के अध्ययन के अभाव में इन कार्यों की अपूर्णता १३-१४, आदिकालीन तथा भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि-आरम्भिक ब्रज-काव्य, इस साहित्य के तथाकथित अभाव के कारण परवर्ती साहित्य के अध्ययन में उत्पन्न कठिनाइयाँ—साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और काव्यरूपों के अध्ययन के लिये दसवीं से सोलहवीं शताब्दी के ब्रजसाहित्य का सघान आवश्यक १५-१७

२. ब्रजभाषा का रिक्त : मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

मध्यदेश-उसकी भाषा-परम्परा का ब्रजभाषा के रिक्त के रूप में अध्ययन, १८-भारतीय आर्यभाषा का आरम्भ-छन्दस्, १९-आर्यभाषा के अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती विभाजन-इस विभाजन के भाषा शास्त्रीय आधार-इनकी विशेषताएँ और ज़ुटिया, २०-वैदिक भाषा की ध्वनि प्रक्रिया : स्वर सप्रसारण, स्वरमत्ति, स्वरगम तथा २-ल की विनिमयता-ब्रजभाषा के विकास में इनका योग, २१-वाक्य विन्यास में कर्ता, कर्म, क्रिया का अनुक्रम, उपसर्ग और भाषा विशिष्टता, २२-मध्यदेशीय छन्दस् के ब्राह्मणों में परिगृहीत रूप से सस्कृत का निर्माण-बौद्ध भारत में भाषा स्थिति, २३ २४-अशोक के शिलालेखों की भाषा-ऋ के विभिन्न परिवर्तन, आदि स्वर-लोप तथा अन्य ध्वनि विकार, २५-पालि : मध्यदेश की भाषा-गलि भाषा के ध्वनि-तत्त्व और रूप-तत्त्व का विश्लेषण, ब्रजभाषा के निर्माण में इनका प्रभाव, २६-२७-नाटकों की प्राकृतों : महाराष्ट्री शौरसेनी का कनिष्ठ रूप-प्राकृतों में ध्वनि और रूप संबंधी विकास-नव्य आर्य भाषा पर इनका प्रभाव, २८-२९-शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशेषताएँ, ३०-अपभ्रंश : ध्वनि और रूप-ब्रजभाषा के गठन-निर्माण में इसका योग, ३१-३४।

३. ब्रजभाषा का उद्गम गौरीसेनी अपभ्रंश (विक्रमी १०००-१२००)

अपभ्रंश और नव्य आर्य भाषाएँ, ३५-३६-शौरसेनी अपभ्रंश कहा की भाषा थी-मध्यदेश से इसका सम्बन्ध, ३७-४०-प्राकृत व्याकरण में हेमचन्द्र संकलित दोहों की भाषा-देशी विदेशी विद्वानों की धारणा कि यह भाषा मध्यदेशीय है, ४१-कुछेक गुजराती विद्वानों

पद रचना का आरम्भ, १६७—ग्वालियरी भाषा . क्या अलग भाषा थी—मिर्जा खा के व्याकरण में ग्वालियरी ब्रजभाषा के अन्तर्गत मानी गई, ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग, १६८—१७० ।

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

सघार अग्रवाल का प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११), १७१, कवि, परिचय, रचना, काव्य-वस्तु, १७२—१७३—जापू मणियार का हरिचन्द पुराण (विक्रमी १४५३), १७४, रचनाकाल भाषा और साहित्य का परिचय १७५, विष्णुदास (सवत् १४६२), कवि परिचय, रचनायें और भाषा १७६—१७८, कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (वि० १५१६) हस्तलेख परिचय, रचनाकाल, आदि का विवरण, १७६, कथा-वस्तु १८०—१८१, डूंगर बावनी (वि० १५३८) १८२—१८३, मानिक कवि की बैताल पचीसी (विक्रमी १५४६) १८४—१८५, कवि ठक्कुरसी (विक्रमी १५५०) रचना भाषादि, १८६, छिट्ठाई वार्ता (विक्रमी १५५० के लगभग) रचनाकार, काल निर्णय, भाषा-साहित्य १८७—१८६, घेघनाथ की गीता-भाषा (विक्रमी १५५७) परिचय, १६०—१६१, चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५७ सवत् के लगभग) परिचय और काल निर्माण १६२, चतुर्भुज का नेमिेश्वरगीत (सवत् १५७१), १६३—घर्मदास का घर्मोपदेश (सवत् १५७८), १६४—छोड़ल (१५७८) रचनायें, पञ्चसहेली और बावनी की प्रतिर्था काव्य भाषादि १६५—१६८—वाचक सहज सुन्दर का रतनकुमार रास (१८२ सवत्) १६६ ।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

गुरुग्रन्थ के ब्रज कवि, २००—नामदेव, कवि परिचय, रचनाकाल, रचनायें-भाषा २०१—२०२—त्रिलोचन, परिचय और रचना २०३—जयदेव, गुरु ग्रन्थ के पद, प्राकृतपैंगलम् के पदों से इनकी भाषा की तुलना, जीवनवृत्त, २०४—वेनी, २०५—सधना, २०६—रामानन्द, जीवन वृत्त, रामानन्द की हिन्दी रचनायें, २०७—२०८—कबीर की भाषा, २०९—२१२—रैदास कवि परिचय, पद, प्रह्लादचरित, भाषा, २१३—२१५—पीपा, २१६—घन्ना भगत, २१७—नानक—जीवन वृत्त, पंजाबी और ब्रज रचनाओं का निर्णय, २१८—२१९ ।

अन्य कवि

हरिदास निरञ्जनी, निरञ्जन सम्प्रदाय का परिचय, कवि, काल निर्णय, हस्तलेखों के आधार पर जन्मतिथि का निर्धारण—रचनायें, भाषा, २१०—२२०—निम्बाके सम्प्रदाय के कवि, २२१—श्रीभट्ट, हरिव्यास देव और परशुराम देव का काल निर्धारण, २२२—विप्रमतीसी का लिपिकाल, परशुराम वाणो का रचनाकाल—परशुराम सागर की रचनायें विप्रमतीसी से कबीर की इसी नाम की रचना का साम्य, काव्य और भाषा, २३२३—२५—तत्त्ववेत्ता, २२७—नरहरि भट्ट जीवन वृत्त रचना-काल-नरहरि भट्ट की भाषा-प्वनि और रूपतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ, २२८—२३४—मीरावादी, जीवन वृत्त सम्बन्धी शोध का निष्कर्ष, २३५—मीरा के गीतों की भाषा, २३६—रचनायें, २३७—सगीतकार कवियों की रचनायें—सगीत और ब्रजभाषा, २३८—तुसरो, जीवन वृत्त, रचनायें भाषा, २३९—२४०—गोपाल नायक—काल निर्णय

पद रचना का आरम्भ, १६७—ग्वालियरी भाषा . क्या अलग भाषा थी—मिर्जा खा के व्याकरण में ग्वालियरी ब्रजभाषा के अन्तर्गत मानी गई, ब्रजभाषा शब्द का प्रयोग, १६८—१७० ।

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

सधार अग्रवाल का प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११), १७१, कवि, परिचय, रचना, काव्य-वस्तु, १७२—१७३—जाधू मणियार का हरिचन्द पुगण (विक्रमी १४५३), १७४, रचनाकाल भाषा और साहित्य का परिचय १७५, विष्णुदास (संवत् १४६२), कवि परिचय, रचनायें और भाषा १७६—१७८, कवि दामो की लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (वि० १५१६) हस्तलेख परिचय, रचनाकाल, आदि का विवरण, १७६, कथा-वस्तु १८०—१८१, झूंगार बावनी (वि० १५३८) १८२—१८३, मानिक कवि की बैताल पचीसी (विक्रमी १५४६) १८४—१८५, कवि ठक्कुरसी (विक्रमी १५५०) रचना भाषादि, १८६, छिटाई वार्ता (विक्रमी १५५० के लगभग) रचनाकार, काल निर्णय, भाषा-साहित्य १८७—१८८, घेघनाथ की गीता-भाषा (विक्रमी १५५७) परिचय, १९०—१९१, चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५७ संवत् के लगभग) परिचय और काल निर्माण १९२, चतुर्भुजदास का नेमिश्चरगीत (संवत् १५७१), १९३—धर्मदास का घर्मोपदेश (संवत् १५७८), १९४—छोड़ल (१५७८) रचनायें, पञ्चसहेली और बायनो की प्रतिर्था काव्य भाषादि १९५—१९८—वाचक सहज सुन्दर का रतनकुमार रास (१८२ संवत्) १९६ ।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

गुरुग्रन्थ के ब्रज कवि, २००—नामदेव, कवि परिचय, रचनाकाल, रचनायें-भाषा २०१—२०२—त्रिलोचन, परिचय और रचना २०३—जयदेव, गुरु ग्रन्थ के पद, प्राकृतपैगलम् के पदों से इनकी भाषा की तुलना, जीवनवृत्त, २०४—वेनी, २०५—सधना, २०६—रामानन्द, जीवन वृत्त, रामानन्द की हिन्दी रचनायें, २०७—२०८—कधीर की भाषा, २०९—२१२—रैदास कवि परिचय, पद, प्रह्लादचरित, भाषा, २१३—२१५—पीपा, २१६—धन्ना भगत, २१७—नानक—जीवन वृत्त, पञ्जाबी और ब्रज रचनाओं का निर्णय, २१८—२१९ ।

अन्य कवि

हरिदास निरञ्जनी, निरञ्जन सम्प्रदाय का परिचय, कवि, काल निर्णय, हस्तलेखों के आधार पर जन्मतिथि का निर्धारण—रचनायें, भाषा, २१०—२२०—निम्बार्क सम्प्रदाय के कवि, २२१—श्रीभट्ट, हरिव्यास देव और परशुराम देव का काल निर्धारण, २२२—विप्रमतीसी का लिविकाल, परशुराम वाणी का रचनाकाल—परशुराम सागर की रचनायें विप्रमतीसी से कधीर की इसी नाम की रचना का साम्य, काव्य और भाषा, २२३—२२५—तत्त्ववेत्ता, २२७—मरहरि भट्ट जीवन वृत्त रचना-काल-नहरि भट्ट की भाषा-व्यक्ति और रूपतत्त्व सम्बन्धी विशेषताएँ, २२८—२३४—भीरावाई, जीवन वृत्त सम्बन्धी शोध का निष्कर्ष, २३५—मीरा के गीतों की भाषा, २३६—रचनायें, २३७—सगीतकार कवियों की रचनायें—सगीत और ब्रजभाषा, २३८—रुसरो, जीवन वृत्त, रचनायें भाषा, २३९—२४०—गोपाल नायक—काल निर्णय

के निर्धारित-लक्षण, संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश की कथाओं में अन्तर, प्राचीन ब्रजकथा-काव्य ३८७-३९०—रासक और रासो । रासक का विकसितशील अर्थ और स्वरूप, आलंकारिकों के लक्षण—मसृण रासक से लीला काव्यों का उद्भव-सन्देश, रासक और पृथ्वी राजरासो, ३९१-३९२ लीला काव्य: लक्षण और विकास लोकात्मक काव्य प्रकार,—नृत्य और गेयता-ब्रजभाषा के लीला काव्य, ३९३-३९५—गङ्गाश्रुत और बारहमासा—शास्त्रीय और लौकिक पद्य, उद्दीपन काव्य, संयोग और वियोगकी स्थितियोंसे इसके रूपका सम्बन्ध—पिंगल, ब्रज, गुजराती, मैथिली, राजस्थानीके बारहमासोंका सन्तुलनात्मक अध्ययन ३९६-३९८—वेलि-काव्य ३९९-४०० बावनी ४०१-०२—विप्रमतीसी ४०३—गेय मुक्तक—गीतियों के विकास का इतिहास, लक्षण, ब्रज में गेय पदों का स्वरूप ४०४-६—मगल काव्य ४०७ ।

६. उपमहार

भाषा और साहित्य के विवेचन से प्राप्त निष्कर्ष और उपलब्धियाँ । ४०८-१६

१०. परिशिष्ट

१४ वीं से १६ वीं विक्रमी शताब्दी में लिखी गई रचनाओंके हस्तलेखोंसे उद्धृत अर्थ ।

११. संदर्भ ग्रन्थ-सूची

के निर्धारित-लक्षण, संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश की कथाओं में अन्तर, प्राचीन ब्रजकथा-काव्य ३८७-३९०—रासक और रासो । रासक का विकसिनशील अर्थ और स्वरूप, आलंकारिकों के लक्षण—मसृण रासक से लीला काव्यों का उद्भव-सन्देश, रासक और पृथ्वी राजरासो, ३९१-३९२ लीला काव्य: लक्षण और विकास लोकात्मक काव्य प्रकार,—नृत्य और गेयता—ब्रजभाषा के लीला काव्य, ३९३-३९५—पद्मस्तु और बारहमासा—शास्त्रीय और लौकिक पद्य, उद्दीपन काव्य, संयोग और वियोगकी स्थितियोंसे इसके रूपका सम्बन्ध—पिंगल, ब्रज, गुजराती, मैथिली, राजस्थानीके बारहमासोंका सन्तुलनात्मक अध्ययन ३९६-३९८—वेलि-काव्य ३९९-४०० बावनी ४०१-०२—विप्रमतीसी ४०३—गेय मुक्तक—गीतियों के विकास का इतिहास, लक्षण, ब्रज में गेय पदों का स्वरूप ४०४-६—मंगल काव्य ४०७ ।

२. उपमहार

भाषा और साहित्य के विवेचन से प्राप्त निष्कर्ष और उपलब्धियाँ । ४०८-१६

१०. परिशिष्ट

१४ वीं से १६ वीं विक्रमी शताब्दी में लिखी गई रचनाओंके हस्तलेखोंसे उद्धृत अथ ।

११. संदर्भ ग्रन्थ-सूची

प्रास्ताविक

§ १. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। ऐसा समझा जाता है कि केवल पचास वर्षों में इस भाषा ने अपने साहित्य की उत्कृष्टता, मधुरता और प्रगल्भता के बल पर उत्तर भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख भाषा के रूप में उसका प्रभाव समूचे देश में स्थापित हो गया और गुजरात से बंगाल तक के विभिन्न भाषा-भाषियों ने इसे 'पुरुषोत्तम-भाषा' के रूप में अपनाया तथा इसमें काव्य प्रणयन का प्रयत्न भी किया। एक ओर महाप्रभु बल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की आदरास्पद संज्ञा दी क्योंकि यह उनके आराध्य देव कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा थी, दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सहृदयों ने इसे 'भाषामणि' की प्रतिष्ठा प्रदान की। डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी के अभिजात साहित्य के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित इस भाषा को प्रधानतम बोली (*Dialectos Praecipua*) कहा है। इसे वे मध्यदेश की आदर्श भाषा मानते हैं।¹ श्रष्टछाप के कवियों की रचनाओं का सौष्ठव और सौन्दर्य अप्रतिम था। उनके संगीतमय पदों से आकृष्ट होकर सम्राट् अकबर इस भाषा के भक्त हो गए। डा० चाटुर्भा ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर के सदृश एक विदेशी विजेता के लिये जो भाषा केवल मनोरंजन और साहित्यिक औत्सुक्य का प्रयोग-मान थी वही उसके भारतीयकृत पौत्र सम्राट् अकबर के काल तक पूर्णतया प्रचलित स्वाभाविक

1 It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the *dialectos praecipua* and may well be considered as typical of Midland Language: on the Modern Indo Aryan Vernaculars, PP 10

प्रास्ताविक

§ १. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा में अत्यन्त उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। ऐसा समझा जाता है कि केवल पचास वर्षों में इस भाषा ने अपने साहित्य की उत्कृष्टता, मधुरता और प्रगल्भता के बल पर उत्तर भारत की सर्वश्रेष्ठ भाषा का स्थान ग्रहण कर लिया। भक्ति-आन्दोलन की प्रमुख भाषा के रूप में उसका प्रभाव समूचे देश में स्थापित हो गया और गुजरात से बंगाल तक के विभिन्न भाषा-भाषियों ने इसे 'पुरुषोत्तम-भाषा' के रूप में अपनाया तथा इसमें काव्य प्रणयन का प्रयत्न भी किया। एक ओर महाप्रभु बल्लभाचार्य ने इसे पुरुषोत्तम भाषा की आदरास्पद संज्ञा दी क्योंकि यह उनके आराध्य देव कृष्ण की जन्म-भूमि की भाषा थी, दूसरी ओर काव्य और साहित्य के प्रेमी सद्बुद्धों ने इसे 'भाषामणि' की प्रतिष्ठा प्रदान की। डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी के अभिजात साहित्य के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित इस भाषा को प्रधानतम बोली (Dialectos Praecipua) कहा है। इसे वे 'मर्यादेश' की आदर्श भाषा मानते हैं। अष्टाध्याय के ऋषियों की रचनाओं का सौन्दर्य और सौन्दर्य अप्रतिम था। उनके संगीतमय पदों से आकृष्ट होकर सम्राट् अकबर इस भाषा के भक्त हो गए। डा० चाटुर्पां ने इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'बाबर के सदृश एक विदेशी विजेता के लिये जो भाषा केवल मनोरंजन और साहित्यिक औत्सुक्य का प्रयोग-मात्र थी वही उसके भारतीयकृत पौत्र सम्राट् अकबर के काल तक पूर्णतया प्रचलित स्वामाविक

1 It is a form of Hindi used in literature of the classical period and is hence considered to be the dialectos praecipua and may well be considered as typical of Midland Language: on the Modern Indo Aryan Vernaculars, PP 10

ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।^१ वर्माजी ने स्पष्ट कहा कि प्रन्वीराज रासो की भाषा मध्यकालीन ब्रजभाषा है, राजस्थानी नहीं; जैसा कि साधारणतया समझा जाता है किन्तु इस रचना के 'सदेहात्मक और विनादप्रस्त' होने के कारण इसे वे ब्रजभाषा के अध्ययन में सम्मिलित न कर सके। इसीलिए डा० वर्मा ने भी ब्रजभाषा का वास्तविक आरम्भ सूरदास के साथ ही स्वीकार किया। उन्होंने लिखा कि 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक आरम्भ उस तिथि से होता है जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु बल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के सम्मुख नियमित रूप से कीर्तन की व्यवस्था करने का सकल्प किया। सूरदास ब्रजभाषा के सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कवि हैं।'^२ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्जा ने स्पष्ट रूप से सूरदास को ब्रजभाषा का आरम्भिक कवि तो नहीं कहा किन्तु ब्रजभाषा का जो उदयकाल बताया, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उनके मतानुसार 'ब्रजभाषा १६वीं शताब्दी में प्रकाश में आई,^३ हालांकि उसी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्जा लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा १२०० से १८५० ईस्वी तक के सुदीर्घकाल के अधिकांश भाग में सारे उत्तरी भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हद तक पञ्जाब की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'^४ डा० ग्रियर्सन ने सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम कवि नहीं स्वीकार किया। उनके मत से १२५० के चन्द्रबरदाई ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। १६वीं शताब्दी में सूरदास इस भाषा के दूसरे कवि दिखाई पड़ते हैं। बीच के ३०० वर्षों का साहित्य शिल्कुल अन्धकार में पड़ा हुआ है।'

§ ३ उपर्युक्त विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि ये सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा की स्थिति स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रामाणिक सामग्री के अभाव में सूरदास के पहले की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का कोई समुचित विश्लेषण प्रस्तुत न कर सकने की विवशता भी व्यक्त करते हैं।

§ ४ आरम्भिक ब्रजभाषा का परिचय-सकेत देनेवाली जो कुछ सामग्री इन विद्वानों को प्राप्त भी वह इतनी अल्प, विकीर्ण और अव्यवस्थित थी कि उस पर कोई विस्तृत विचार सम्भव न था। जो कुछ सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी, उसकी प्रामाणिकता सन्देह थी, इसलिए उसके परीक्षण का प्रश्न ही नहीं उठा। सन्तों की रचनाओं का भाषागत विवेचन नहीं हुआ, और उसे 'मिश्रित,' 'सधुक्कड़ी' या 'लिचड़ी' भाषा नाम देकर काम चलता किया गया। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का भी सही उपयोग न होने के कारण सूरदास के पहले की ब्रजभाषा का इतिहास पूर्णतः अलिखित ही रह गया। मध्यदेश की भाषा परम्परा छान्दस्य या वैदिक भाषा से आरम्भ होकर शौरसेनी अरभ्रश तक प्रायः अविच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। ब्रजभाषा का उदय यदि १६वीं शताब्दी के अन्त में मान लिया जाता है तो इस मही परम्परा का कुछ सौ वर्षों का इतिहास छूट जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इस

१. ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, पृ० २०

२. वही पृ० २१-२२

३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० १९५

४. वही पृ० १८६

5 Linguistic Survey of India Vol IX Part I P 71-73

ब्रजभाषा के प्राचीन इतिहास पर विशेष प्रकाश डाल सके।^१ वर्माजी ने स्पष्ट कहा कि प्रन्वीराज रासो की भाषा मध्यकालीन ब्रजभाषा है, राजस्थानी नहीं; जैसा कि साधारणतया समझा जाता है किन्तु इस रचना के 'सदेहात्मक और विवादप्रस्त' होने के कारण इसे वे ब्रजभाषा के अध्ययन में सम्मिलित न कर सके। इसीलिए डा० वर्मा ने भी ब्रजभाषा का वास्तविक आरम्भ सूरदास के साथ ही स्वीकार किया। उन्होंने लिखा कि 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य का वास्तविक आरम्भ उस तिथि से होता है जब गोवर्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर का निर्माण पूर्ण हुआ और महाप्रभु वल्लभाचार्य ने भगवान् के स्वरूप के सम्मुख नियमित रूप से कीर्तन की व्यवस्था करने का सकल्प किया। सूरदास ब्रजभाषा के सर्वप्रथम तथा सर्वप्रधान कवि हैं।'^२ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने स्पष्ट रूप से सूरदास को ब्रजभाषा का आरम्भिक कवि तो नहीं कहा किन्तु ब्रजभाषा का जो उदयकाल बताया, उससे यही निष्कर्ष निकलता है। उनके मतानुसार 'ब्रजभाषा १६वीं शताब्दी में प्रकाश में आई,'^३ हालांकि उसी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर डा० चाटुर्ज्या लिखते हैं कि 'ब्रजभाषा १२०० से १८५० ईस्वी तक के सुदीर्घकाल के अधिकांश मात्रा में सारे उत्तरी भारत, मध्यभारत तथा राजपूताना और कुछ हद तक पञ्जाब की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा बनी रही।'^४ डा० ग्रिफ़िन ने सूरदास को ब्रजभाषा का प्रथम कवि नहीं स्वीकार किया। उनके मत से १२५० के चन्द्रवरदाई ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं। १६वीं शताब्दी में सूरदास इस भाषा के दूसरे कवि दिखाई पड़ते हैं। बीच के ३०० वर्षों का साहित्य बिल्कुल अन्धकार में पड़ा हुआ है।^५

§ ३ उपर्युक्त विद्वानों के मतों का विश्लेषण करने पर स्पष्ट मालूम होता है कि ये सभी विद्वान् किसी न किसी रूप में सूरदास के पूर्व ब्रजभाषा की स्थिति स्वीकार करते हैं, किन्तु प्राभाषिक सामग्री के अभाव में सूरदास के पहले की ब्रजभाषा और उसके साहित्य का कोई समुचित विश्लेषण प्रस्तुत न कर सकने की विवशता भी व्यक्त करते हैं।

§ ४ आरम्भिक ब्रजभाषा का परिचय-संकेत देनेवाली जो कुछ सामग्री इन विद्वानों को प्राप्त थी वह इतनी अल्प, विकीर्ण और अव्यवस्थित थी कि उस पर कोई विस्तृत विचार सम्भव न था। जो कुछ सामग्री प्रकाशित हो चुकी थी, उसकी प्रामाणिकता सदिग्ध थी, इसलिए उसके परोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठा। सन्तों की रचनाओं का भाषागत विवेचन नहीं हुआ, और उसे 'मिथित,' 'सधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' भाषा नाम देकर काम चलता किया गया। इस प्रकार प्राप्त सामग्री का भी सही उपयोग न होने के कारण सूरदास के पहले की ब्रजभाषा का इतिहास पूर्णतः अलिखित ही रह गया। मध्यदेश की भाषा परम्परा छान्दस् या वैदिक भाषा से आरम्भ होकर शौरसेनी अरभ्रश तक प्रायः अविच्छिन्न रूप में ही प्राप्त होती है। ब्रजभाषा का उदय यदि १६वीं शताब्दी के अन्त में मान लिया जाता है तो इस महती परम्परा का कुछ सौ वर्षों का इतिहास छूट जाता है और ऐसा जान पड़ता है कि इस

१. ब्रजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९५४, पृ० २०

२. वही पृ० २१-२२

३. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४, पृ० १९५

४. वही पृ० १८६

५. Linguistic Survey of India Vol IX, Part I P 71-73

गए। मुसलमानों के आक्रमण, मिश्रण और मेलजोल से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण १३ वीं शताब्दी के आसपास दिल्ली मेरठ की भाषा को ज्यादा तरजीह मिली और पंजाबी तथा लड़ी बोली के मिश्रण से उत्पन्न यह नई भाषा पारसी शब्दों के साथ रेखता या 'हिंदवा' के नाम से चल पड़ी। किन्तु उस नई भाषा को परम्पराप्रिय चेतना की आर से कोई बड़ा प्रस्ताहन न मिला। हिन्दुओं की सांस्कृतिक परम्परा का निर्वाह मुसलमानी प्रभाव से अस्पष्ट अन्य बालिया द्वारा ही होता रहा। ब्रजभाषा इनमें मुख्य थी जिसका साहित्य राजपूत दरबारों और धार्मिक संस्थानों द्वारा सुरक्षित हो सकता था किन्तु मुसलमानों के आक्रमण का सबसे बड़ा प्रभाव इन सांस्कृतिक केन्द्रों पर ही हुआ, और यत्किंचित् साहित्य सामग्री भी जिसके प्राप्त होने की आशा हो सकती थी, नष्ट हो गई। ईस्वी सन् की दसवीं और १४ वीं शताब्दी के बीच मध्यदेश में देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य बहुत कम निरूता है। इसका प्रमुख कारण इस आक्रमण को माना जा सकता है। किन्तु जो साहित्य प्राप्त है, वह नितान्त उपेक्षणीय नहीं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही खिया है कि 'इस अवकाश युग को प्रकाशित करने वाली ना भी सामग्री मिल जाये उसे सावधानी से जिला रराना कर्त्तव्य है। क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की समावना लेकर आई है, उसने पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की घडकन ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के सयत और सुचिन्तित वाक्पाठव का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी हाती है।'

अपभ्रंश भाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें अधिकाश पश्चिमी अपभ्रंश का है। १३ वीं शताब्दी के आसपास के साहित्य में प्रान्तीय प्रभाव मिलने लगते हैं। गुजरात देश की रचनाओंमें प्राचीन राजस्थानी के तत्व तथा सिद्धांत क गानों (दाहों में नहीं) की भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा या भाषाओं का प्रभाव दिखाई पडता है। फिर भी ६०० से १२०० तक का अपभ्रंश साहित्य अधिकाशत शौरसेनी अपभ्रंश का ही साहित्य है। परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं में हम ब्रजभाषा के विकास बिन्दु पा सकते हैं। बहुत से विद्वान् इन रचनाओं की भाषा को केवल शौरसेनी अपभ्रंश नाम के आधार पर ही ब्रजभाषा (शौरसेनी भाषा) से सम्बद्ध नहीं मानना चाहते, किन्तु यदि ध्वनि और रूपतत्वों की दृष्टि से इसे प्रमाणित किया जाये तो अवश्य ही यह सम्बन्ध साधारण कदा जायेगा। आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के ठीक बाद की जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दाहें हैं। गुलेरी जी ने बहुत पहले नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग २ अंक ५ में हेमचन्द्र के दाहों तथा इसी तरह के कुछ अन्य कुटुल दाहों का सकलन 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्रकाशित कराया। गुलेरी जी ने जब इस सग्रह को प्रस्तुत किया था तब इनके आधार ग्रन्थों का न तो व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक सपादन हुआ था और न ता इनके भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी मूल्यों का कोई विवेचन ही किया गया था। गुलेरी जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ इन दाहों में पुरानी हिन्दी के भाषा-तत्वों को छूटने का प्रयत्न किया। अपभ्रंश की जा भी सामग्री उस समय उपलब्ध थी उसका गभीर अध्ययन उन्होंने किया था और यही कारण है कि उन्होंने इन दाहों की भाषा को अपभ्रंश से भिन्न

गए। मुसलमानों के आक्रमण, मिश्रण और मेलजोल से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण ११ वीं शताब्दी के आसपास दिल्ली मेरठ की भाषा को ज्यादा तरजीह मिली और पंजाबी तथा खड़ी बोली के मिश्रण से उत्पन्न यह नई भाषा फारसी शब्दों के साथ रेखता या 'हिंदवा' के नाम से चल पड़ी। किन्तु उस नई भाषा को परम्पराप्रिय चेतना की आर से कोई बड़ा प्रस्ताहन न मिला। हिंदुओं की सांस्कृतिक परम्परा का निर्वाह मुसलमानी प्रभाव से अत्यंत अन्य बालिया द्वारा ही होता रहा। ब्रजभाषा इनमें मुख्य थी जिसका साहित्य राजपूत दरबारों और धार्मिक संस्थानों द्वारा सुरक्षित हो सकता था किन्तु मुसलमानों के आक्रमण का सबसे बड़ा प्रभाव इन सांस्कृतिक केन्द्रों पर ही हुआ, और यत्किंचित् साहित्य सामग्री भी जिसके प्राप्त होने की आशा हो सकती थी, नष्ट हो गई। ईस्वी सन् की दसवीं और १४ वीं शताब्दी के बीच मध्यदेश में देशी भाषा में लिखा हुआ साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्रमुख कारण इस आक्रमण को माना जा सकता है। किन्तु जो साहित्य प्राप्त है, वह नितान्त उपेक्षणीय नहीं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस अवकाश युग को प्रकाशित करने वाली ना भी सामग्री मिल जाये उसे सावधानी से जिला रखना कर्त्तव्य है। क्योंकि वह बहुत बड़े आलोक की समावना लेकर आई है, उसने पेट में केवल उस युग के रसिक हृदय की घडकन ही नहीं, केवल सुशिक्षित चित्त के सयत और सुचिन्तित वाक्पाठ्य का ही नहीं, बल्कि उस युग के सम्पूर्ण मनुष्य को उद्भासित करने की क्षमता छिपी हाती है।'

अपभ्रंश भाषा का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें अधिकांश पश्चिमी अपभ्रंश का है। १३ वीं शताब्दी के आसपास के साहित्य में प्रान्तीय प्रभाव मिलने लगते हैं। गुजरात देश की रचनाओंमें प्राचीन राजस्थानी के तत्व तथा सिद्धांत कानों (दाहों में नहीं) की भाषा में पूर्वी प्रदेश की भाषा या भाषाओं का प्रभाव दिखाई पडता है। फिर भी ६०० से १२०० तक का अपभ्रंश साहित्य अधिकांशतः शौरसेनी अपभ्रंश का ही साहित्य है। परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचनाओं में हम ब्रजभाषा के विकास बिन्दु पा सकते हैं। बहुत से विद्वान् इन रचनाओं की भाषा को केवल शौरसेनी अपभ्रंश नाम के आधार पर ही ब्रजभाषा (शौरसेनी भाषा) से सम्बद्ध नहीं मानना चाहते, किन्तु यदि ध्वनि और रूपतत्वों की दृष्टि से इसे प्रमाणित किया जाये तो अवश्य ही यह सम्बन्ध साधारण कदा जायेगा। आगे इस पर विस्तार से विचार किया गया है।

१२वीं शताब्दी के ठीक बाद की जो सामग्री प्राप्त होती है, उसमें सबसे महत्वपूर्ण हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के अपभ्रंश दाहे हैं। गुलेरी जी ने बहुत पहले नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग २ अंक ५ में हेमचन्द्र के दाहों तथा इसी तरह के कुछ अन्य कुटुम्ब दाहों का संकलन 'पुरानी हिन्दी' के नाम से प्रकाशित कराया। गुलेरी जी ने जब इस सग्रह को प्रस्तुत किया था तब इनके आधार ग्रन्थों का न तो व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक संपादन हुआ था और न ता इनके भाषा तथा साहित्य सम्बन्धी मूल्यों का कोई निवेचन ही किया गया था। गुलेरी जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ इन दोहों में पुरानी हिन्दी के भाषा-तत्वों को हूँदने का प्रयत्न किया। अपभ्रंश की जा भी सामग्री उस समय उपलब्ध थी उसका गभीर अध्ययन उन्होंने किया था और यही कारण है कि उन्होंने इन दाहों की भाषा को अपभ्रंश से भिन्न

ही हुए दीखते हैं न नव्य भाषाओं के समी लक्षण स्पष्ट रूप से उद्भिन्न ही हो पाए हैं। उत्तर भारत में इन दिनों संस्कृत, प्राकृत और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त तीन और प्रबल भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। राजस्थान-गुजरात के क्षेत्र में गुर्जर अपभ्रंश से विकसित तथा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित देशी भाषा जिसे डा० तेसितोरो ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है, शौरसेनी अपभ्रंश के मूलक्षेत्र मध्यदेश में अवहट्ट और पिंगल नाम से साहित्यिक अपभ्रंश का ही एक कनिष्ठ रूप प्रचलित था जिसकी आत्मा मूलतः नव्य भाषाओं से अनुप्राणित थी किन्तु जिसपर शौरसेनी अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव था। पूर्वी क्षेत्रों में कोई महत्वपूर्ण सामग्री नहीं मिलती किन्तु ज्योतिरीश्वर ठाकुर के दस्युरत्याकर, कीर्तिलता के कुछ प्रयोगों और बौद्ध सिद्धों के कविपय गीतों की भाषा के आधार पर एक व्यापक पूर्वी भाषा के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ट और पिंगल ब्रजभाषा के पुराने रूप हैं। इनके नाम, रूप तथा ऐतिहासिक विकास का विस्तृत विवरण तीसरे अध्याय 'संक्रान्ति-कालीन ब्रजभाषा' में प्रस्तुत किया गया है। संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा की दोनों शैलियों, अवहट्ट शैली तथा पिंगल या चारण शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन उक्त अध्याय का विषय है। अवहट्ट चूँकि प्राचीन परम्परा का अनुगामी था इसलिए इसमें मध्यदेशीय नव्य भाषा के तत्व उतनी मात्रा में नहीं मिलते जैसा कि पिङ्गल रचनाओं की भाषा में, फिर भी अवहट्ट ब्रजभाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध कहा जा सकता है। अवहट्ट की रचनाओं में प्राकृत पैंगलम्, सन्देशरासक, कीर्तिलता, नेमिनाथ चौपई, धूलिमहदपागु आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में ब्रजभाषा के बीजाक्षुर वर्तमान हैं। पिङ्गल की प्रामाणिक रचनाओं में श्रीधर व्यास का रणमल्लछन्द, प्राकृतपैंगलम् के हम्मीर-सम्बन्धी तथा अन्य चारण शैली के पद गद्दीत होते हैं। पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक छन्दों की भाषा तथा परवर्ती सस्तरणों की भाषा की मुख्य विशेषताएँ तथा इनमें समुपलब्ध ब्रजभाषा के तत्वों का विश्लेषण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

§ ८. संक्रान्तिकाल (१२वीं-१४वीं) में उपर्युक्त अनहट्ट और पिङ्गल अथवा चारण शैली के अतिरिक्त ब्रजभाषा के बोलचाल के रूप की भी कल्पना की जा सकती है। पिङ्गल या अवहट्ट जन सामान्य की भाषाएँ नहीं थीं। पिङ्गल और अवहट्ट उस काल की साहित्यिक भाषाएँ थीं अर्थात् कृत्रिम भाषाएँ। ब्रजभाषा का एक क्षेत्रीय रूप भी रहा होगा। मध्यदेश में बोली जानेवाली ब्रजभाषा के तत्कालीन रूप के अनुमान का कोई आधार नहीं है। १२वीं १६वीं के बीच के कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। औक्तिक का अर्थ है उक्ति या बोली। इस प्रकार के ग्रन्थों में तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिये हुए हैं। इनमें से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नहीं है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर (जिसमें तीन उक्ति-ग्रन्थ संकलित हैं) तथा मुग्धावबोध औक्तिक आदि रचनाएँ संक्रान्तिकालीन देश्य भाषा रूपों के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकती हैं। इनमें से उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना काशो में हुई है, मुग्धावबोध की गुजरात में तथा उक्ति रत्नाकर की रचनाएँ गुजरात-राजस्थान में लिखी हुई हैं। इनकी भाषा के संतुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम औक्तिक ब्रजभाषा अर्थात् बोलचाल की ब्रजभाषा का एक अनुमानित (Hypothetical) रूप निर्धारित कर सकते हैं। परवर्ती ब्रजभाषा में भी प्रायः दो रूप मिलते हैं औक्तिक शैली और चारण

ही हुए दीखते हैं न नव्य भाषाओं के समी लक्षण स्पष्ट रूप से उद्भिन्न ही हो पाए हैं। उत्तर भारत में इन दिनों संस्कृत, प्राकृत और साहित्यिक अपभ्रंश के अतिरिक्त तीन और प्रवल भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। राजस्थान-गुजरात के क्षेत्र में गुर्जर अपभ्रंश से विकसित तथा साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश से प्रभावित देशी भाषा जिसे डा० तेसीतोरों ने प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी नाम दिया है, शौरसेनी अपभ्रंश के मूलक्षेत्र मध्यदेश में अवहट्ट और पिगल नाम से साहित्यिक अपभ्रंश का ही एक कनिष्ठ रूप प्रचलित या जिसकी आत्मा मूलतः नव्य भाषाओं से अनुप्राणित थी किन्तु जिसपर शौरसेनी अपभ्रंश का भी पर्याप्त प्रभाव था। पूर्वी क्षेत्रों में कोई महत्वपूर्ण सामग्री नहीं मिलती किन्तु ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर, कीर्तिख्या के कुछ प्रयोगों और बौद्ध सिद्धों के कतिपय गीतों की भाषा के आचार पर एक व्यापक पूर्वी भाषा के स्वरूप की कल्पना की जा सकती है। अवहट्ट और पिगल ब्रजभाषा के पुराने रूप हैं। इनके नाम, रूप तथा ऐतिहासिक विकास का निरस्त विवरण तीसरे अध्याय 'संक्रान्ति-कालीन ब्रजभाषा' में प्रस्तुत किया गया है। संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा की दोनों शैलियों, अवहट्ट शैली तथा पिगल या चारण शैली का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन उक्त अध्याय का विषय है। अवहट्ट चूँकि प्राचीन परम्परा का अनुगामी था इसलिए इसमें मध्यदेशीय नव्य भाषा के तत्व उतनी मात्रा में नहीं मिलते जैसा कि पिङ्गल रचनाओं की भाषा में, फिर भी अवहट्ट ब्रजभाषा से घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध कहा जा सकता है। अवहट्ट की रचनाओं में प्राकृत पँगलम्, सन्देशरासक, कीर्तिख्या, नेमिनाथ चौपई, थूळिमहाराग आदि अत्यन्त महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं, जिनकी भाषा में ब्रजभाषा के बीजाकुर वर्तमान हैं। पिङ्गल की प्रामाणिक रचनाओं में भीष्म व्यास का रणमल्ललुन्द, प्राकृतपँगलम् के हमीर-सम्बन्धी तथा अन्य चारण शैली के पद शरीत हांते हैं। पृथ्वीराजरासो के प्रामाणिक छप्पयों की भाषा तथा परवर्ती सस्वरणों की भाषा की मुद्गर विरोपताएँ तथा इनमें समुपलब्ध ब्रजभाषा के तत्वों का विश्लेषण भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

§ ८. संक्रान्तिकाल (१२वीं-१४वीं) में उपर्युक्त अग्रहट्ट और पिङ्गल अथवा चारण शैली के अतिरिक्त ब्रजभाषा के बोलचाल के रूप को भी कल्पना की जा सकती है। पिङ्गल या अवहट्ट जन सामान्य की भाषायें नहीं थीं। पिङ्गल और अवहट्ट उस काल की साहित्यिक भाषाएँ थीं अर्थात् कृत्रिम भाषाएँ। ब्रजभाषा का एक क्षेत्रीय रूप भी रहा होगा। मध्यदेश में बोली जानेवाली ब्रजभाषा के तत्कालीन रूप के अनुमान का कोई आधार नहीं है। १२वीं १४वीं के बीच के कुछ औक्तिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। औक्तिक का अर्थ है उक्ति या बोली। इस प्रकार के ग्रन्थों में तत्कालीन बोलियों के व्याकरण दिये हुए हैं। इनमें से कोई भी मध्यदेशीय उक्ति या बोली का ग्रन्थ नहीं है। उक्तिव्यक्तिप्रकरण, उक्ति रत्नाकर (जिसमें तीन उक्तिग्रन्थ संकलित हैं) तथा मुग्धावबोध औक्तिक आदि रचनायें संक्रान्तिकालीन देश्य भाषा रूपों के अध्ययन में बहुत सहायक हो सकती हैं। इनमें से उक्तिव्यक्ति प्रकरण की रचना काशी में हुई है, मुग्धावबोध का गुजरात में तथा उक्ति रत्नाकर की रचनाएँ गुजरात-राजस्थान में लिखी हुई हैं। इनकी भाषा के संतुलनात्मक अध्ययन के आधार पर हम औक्तिक ब्रजभाषा अर्थात् बोलचाल की ब्रजभाषा का एक अनुमानित (Hypothetical) रूप निर्धारित कर सकते हैं। परवर्ती ब्रजभाषा में भी प्रायः दो रूप मिलते हैं औक्तिक शैली और चारण

हयत्ता मान ली जाती है। आचार्य शुक्ल ने सन्तों की भाषा के सिलसिले में इस 'सधुकडी' शब्द को बार-बार प्रयुक्त किया है। डा० रामकुमार वर्मा अपने आलोचनात्मक इतिहास में निर्गुणसत-काव्य की भाषा पर विचार करते हुए लिखते हैं 'सन्त काव्य की भाषा बहुत अपरिष्कृत है। सन्त काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है, पुरां हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी।'^१ मुख्य भाषा क्या थी, इसकी चर्चा नहीं की गई, प्रभाव अवश्य बताया गया। वस्तुतः सन्तों की भाषा को समझने के लिए हमें सम्पूर्ण उत्तर भारत की तात्कालिक भाषा स्थिति को समझना होगा। सन्तों के पहले एक सुनिश्चित काव्य भाषा थी अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश जो बाद में विकसित होकर ब्रजभाषा के प्राचीन रूप 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई पिंगल उस काल की सर्वव्यापक साहित्य भाषा थी। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप पिंगल नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों द्वारा गृहीत हुआ। पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यमालीन ब्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।'^२ वस्तुतः यह पिंगल सम्पूर्ण उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में व्याप्त हो गया था। पिंगल को ही तासी हिन्दुई कहते हैं। पिंगल या प्राचीन ब्रजभाषा के साथ-साथ दिल्ली, मेरठ की पश्चिमी हिन्दी, पञ्जाबी के प्रभाव के साथ फारसी शब्दों के संमिश्रण से 'रेखता' भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी जो बाद में काफी प्रचलित और व्यापक भाषा हो गई। सन्तों का साहित्य इन दोनों भाषाओं में लिखा गया है। मिश्रण, खिचड़ी, या सधुकडी विशेषण 'रेखता' में लिखे साहित्य की भाषा को ही दिया जा सकता है, क्योंकि उसी में खड़ी, पञ्जाबी, राजस्थानी और फारसी का मिश्रण हुआ था। रेखता का अर्थ ही मिश्रण होता है। काव्यभाषा पिंगल अथवा पुरानी ब्रजभाषा वा साहित्य अत्यन्त परिष्कृत और शुद्ध भाषा में है, क्योंकि इसके पीछे एक लम्बी परम्परा थी, यह भाषा काफी सशक्त रूप ग्रहण कर चुकी थी।

§ ११. ब्रजभाषा के आरम्भिक विकास को समझने के लिए सन्त साहित्य की भाषा पर विचार होना चाहिए। सन्तों की रचनाओं का सबसे पुराना लिखित रूप गुरुग्रन्थ (१६६१ विक्रमी) में उपलब्ध होता है। गुरुग्रन्थ की रचनाओं में दोनों शैलियों की हिन्दी-कविताएँ संकलित हैं। ब्रजभाषा कविताओं की संख्या भी काफी है करीब ५० प्रतिशत। गुरुग्रन्थ साह्य की रचनाओं में ब्रजभाषा का काफी प्राचीन रूप सुरक्षित है। नामदेव की ब्रजभाषा सुरदास की ब्रजभाषा से स्पष्टतः पुरानी मालूम होती है। बहुत से विद्वान् सन्तों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हैं। डा० दीनदयाल गुप्त नामदेव की भाषा को सुरदास की भाषा की पूर्वपीठिका तो मानते हैं किन्तु उनके मत से 'इस भाषा के नामदेव-कृत होने में सन्देह है, कदाचित् ब्रजभाषा की मौखिक परम्परा ने उसे इस प्रकार की भाषा का रूप दे दिया।'^३ नामदेव की भाषा को सुरदास और कुम्भनदास की भाषा की पृष्ठभूमि मानते हुए भी डा० गुप्त एक मौखिक परम्परा की कल्पना करते हैं। यह समझ में नहीं आता कि वे नामदेव को इस प्रकार की भाषा का लेखक मानने में कौन-सा दोष देखते हैं। कदाचित्

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, मृ० सं० १९५४, पृ २६७

२. राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४६ ईस्वी पृ० ६५

३. अष्टादश और धर्म समग्रदाय, पृष्ठ १६

इयत्ता मान ली जाती है। आचार्य शुक्ल ने सन्तों की भाषा के सिद्धिसिले में इस 'सधुकडी' शब्द को शर-शर प्रयुक्त किया है। डा० रामकुमार वर्मा अपने आलोचनात्मक इतिहास में निर्गुणसत्-काव्य की भाषा पर विचार करते हुए लिखते हैं 'सन्त काव्य की भाषा बहुत अपरिष्कृत है। सन्त काव्य हमें तीन भाषाओं से प्रभावित मिलता है, पूर्वा हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी।' मुख्य भाषा क्या थी, इसकी चर्चा नहीं की गई, प्रभाव अवश्य बताया गया। वस्तुतः सन्तों की भाषा को समझने के लिए हमें सम्पूर्ण उत्तर भारत की तात्कालिक भाषा रिपति को समझना होगा। सन्तों के पहले एक सुनिश्चित काव्य भाषा थी अर्थात् शौरसेनी अपभ्रंश जो बाद में विकसित होकर ब्रजभाषा के प्राचीन रूप 'पिंगल' के नाम से प्रसिद्ध हुई पिंगल उस काल की सर्वव्यापक साहित्य भाषा थी। डा० चाटुर्ज्या ने ठीक ही लिखा है कि 'शौरसेनी अपभ्रंश का एक नवीनतर या अर्वाचीन रूप पिंगल नाम से राजस्थान और मालवा के कवियों द्वारा ग्रहीत हुआ। पिंगल शौरसेनी अपभ्रंश साहित्यिक भाषा और मध्यकालीन ब्रजभाषा के बीच की भाषा कहा जा सकता है।' वस्तुतः यह पिंगल सम्पूर्ण उत्तर भारत में साहित्यिक भाषा के रूप में व्याप्त हो गया था। पिंगल को ही तासी हिन्दुई कहते हैं। पिंगल या प्राचीन ब्रजभाषा के साथ-साथ दिल्ली, मेरठ की पश्चिमी हिन्दी, पञ्जाबों के प्रभाव के साथ फारसी शब्दों के संमिश्रण से 'रेखता' भाषा का रूप ग्रहण कर रही थी जो बाद में काफी प्रचलित और व्यापक भाषा हो गई। सन्तों का साहित्य इन दोनों भाषाओं में लिखा गया है। मिश्रण, लिचडी, या सधुकडी विशेषण 'रेखता' में लिखे साहित्य की भाषा को ही दिया जा सकता है, क्योंकि उसी में खडी, पञ्जाबी, राजस्थानी और फारसी का मिश्रण हुआ था। रेखता का अर्थ ही मिश्रण होता है। काव्यभाषा पिंगल अथवा पुरानी ब्रजभाषा का साहित्य अत्यन्त परिष्कृत और शुद्ध भाषा में है, क्योंकि इसके पीछे एक लम्बी परम्परा थी, यह भाषा काफी सशक्त रूप ग्रहण कर चुकी थी।

§ ११. ब्रजभाषा के आरम्भिक विकास को समझने के लिए सन्त साहित्य की भाषा पर विचार होना चाहिए। सन्तों की रचनाओं का सबसे पुराना लिखित रूप गुहग्रन्थ (१६६१ विक्रमी) में उपलब्ध होता है। गुहग्रन्थ की रचनाओं में दोनों शैलियों की हिन्दी-कविताएँ संकलित हैं। ब्रजभाषा कविताओं की संख्या भी काफी है करीब ५० प्रतिशत। गुहग्रन्थ साह्य की रचनाओं में ब्रजभाषा का काफी प्राचीन रूप सुरक्षित है। नामदेव की ब्रजभाषा सूरदास की ब्रजभाषा से स्पष्टतः पुरानी मान्य होती है। बहुत से विद्वान् सन्तों की रचनाओं की प्रामाणिकता पर सन्देह व्यक्त करते हैं। डा० टीनदयाल गुप्त नामदेव की भाषा को सूरदास की भाषा की पूर्वपीठिका तो मानते हैं किन्तु उनके मत से 'इस भाषा के नामदेव-कृत होने में सन्देह है, कदाचित् ब्रजभाषा की मौखिक परम्परा ने उसे इस प्रकार की भाषा का रूप दे दिया।' नामदेव की भाषा को सूरदास और कुम्भनदास की भाषा की पृष्ठभूमि मानते हुए भी डा० गुप्त एक मौखिक परम्परा की कल्पना करते हैं। यह समझ में नहीं आता कि वे नामदेव को इस प्रकार की भाषा का लेखक मानने में कौन-सा दोष देखते हैं। कदाचित्

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, मू० सं० १९५४, पृ २६०

२. राजस्थानी भाषा, उदयपुर, १९४६ ईस्वी पृ० ६५

३. अष्टादश और बह्मन सम्प्रदाय, पृष्ठ १६

नायक-नायिका भेद, साथ ही भारतीय सगीत, जिसमें भारतीय राग-रागिनियों के साथ फारसी सगीत का भी विवरण है, तथा कामशास्त्र, सामुद्रिक और अन्त में हिन्दी फारसी के तीन हजार शब्दों का बोध प्रस्तुत किया गया है। ब्रजभाषा की कविताओं को समझने के लिए ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से परिचित होना आवश्यक था, इसीलिए मिर्जा खॉं ने ब्रजभाषा का सक्षिप्त व्याकरण इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में उपरिष्ठ किया। फारसी उच्चारण के अभ्यस्त मुसलमानों की दृष्टि में रखकर मिर्जा खॉं ने ब्रजभाषा के उच्चारण और अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर अत्यन्त नवीन ढंग से विचार किया है। ध्वनियों के अध्ययन में मिर्जा खॉं का भ्रम प्रशंसनीय है, किन्तु जैसा डा० चाटुर्प्या ने लिखा है कि वे एक सावधान निरीक्षक तो प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके निष्कर्ष और निर्णय कई स्थानों पर अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए मिर्जा खॉं 'द' को दाल इ लफाफ अर्थात् ह्रस्व 'द' कहते हैं जब कि 'ध' को दाल इ-ससीन यानी दीर्घ (Heavy sound) मानते हैं। उसी तरह 'ड' को 'डाल इ-मुश्कला' यानी दीर्घ और महाप्राणध्वनिक 'ड' को दाल इ अस्वल् अर्थात् दीर्घतम ध्वनि कहा गया है। यहाँ पर ह्रस्व (Light) दीर्घ (Heavy) तथा दीर्घतम (Heaviest) आदि भेद बहुत अनियमित और अनिश्चित माना बोध कराने हैं। फिर भी मिर्जा खॉं का ध्वनि-विश्लेषण नव्य आर्यभाषाओं के ध्वनि तत्व के अध्ययन में बहुत उदा योगदान है। मिर्जा खॉं ने व्याकरणिक शब्दों (Grammatical terms) के जो प्रयोग किये हैं वे हिन्दी व्याकरण के नये शब्द हैं जो उस समय प्रयोग में आते रहे होंगे। उदाहरण के लिए कर्तव (Verb) के भूत (Past) वर्तमान (Present) भविष्य (Future) क्रिया (Perfect Participle) और कृत् (Object) भेद बताए गए हैं।

ब्रजभाषा का दूसरा व्याकरण शानू गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' ने लिखा जो छन्दोबद्ध है और जिसे श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पाहार् अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। यह व्याकरण अत्यन्त सक्षिप्त रीति से ब्रजभाषा की मूल व्याकरणिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। उदाहरण के लिए परसर्ग और विभक्तियों पर लिखा यह छन्द देखें :

देव जो सो सुखी देव जे हैं से पूजनीय
 देव को नमत पूजें देवन के मति मित
 देव सों मिलाप मेरो देवन सों रमें मन
 देव को सुदीनां चित्त देवन को गृह वित
 देव तें न दूजो साथी देवन सों बडो हू न
 देव की रसिक दास देवन कौन गुन हित
 देव में विरति नति देवन में सतगति
 करो कृपा हे देव हे देवन द्रवो नित

व्याकरणिक नियमों का निरीक्षण स्पष्ट है किन्तु उसमें व्याकरण की शारीकी नहीं है। फिर भी १९ वीं शताब्दी में लिखे जाने के कारण इस व्याकरण का महत्त्व निःसंदिग्ध है।

§ १४ ब्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही योरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से आरम्भ हुआ। १८८८ ईस्वी में लल्डू जी लाल ने ब्रजभाषा के कारक विभक्तियों और क्रियाओं पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया। उस निबन्ध में ब्रजभाषा-ज्ञेय की भी चर्चा हुई। लल्डू जी लाल के मत से ब्रजभाषा ब्रजमंडल, ग्वालियर, भरतपुर रिया:

नायक-नायिका भेद, साथ ही भारतीय सगीत, जिसमें भारतीय राग-रागिनियों के साथ फारसी सगीत का भी विवरण है, तथा कामशास्त्र, सामुद्रिक और अन्त में हिन्दी फारसी के तीन हजार शब्दों का कोश प्रस्तुत किया गया है। ब्रजभाषा की कविताओं को समझने के लिए ब्रजभाषा के व्याकरणिक रूप से परिचित होना आवश्यक था, इसीलिए मिर्जा खॉं ने ब्रजभाषा का सक्षिप्त व्याकरण इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में उपस्थित किया। फारसी उच्चारण के अभ्यस्त मुसलमानों को दृष्टि में रखकर मिर्जा खॉं ने ब्रजभाषा के उच्चारण और अनुलेखन पद्धति (Orthography) पर अत्यन्त नवीन ढंग से विचार किया है। ध्वनियों के अध्ययन में मिर्जा खॉं का धम प्रशासनीय है, किन्तु जैसा डा० चादुर्प्या ने लिखा है कि वे एक सावधान निरीक्षक तो प्रतीत होते हैं, परन्तु उनके निष्कर्ष और निर्णय कई स्थानों पर अवैज्ञानिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए मिर्जा खॉं 'द' को ढाल इ लफ़फ़ अर्थात् ह्रस्व 'द' कहते हैं जब कि 'घ' को ढाल इ-सरीन यानी दीर्घ (Heavy sound) मानते हैं। उसी तरह 'ड' को 'डाल इ-मुश्कला' यानी दीर्घ और महाप्राणध्वनिक 'ड' को ढाल इ अस्वल अर्थात् दीर्घतम ध्वनि कहा गया है। यहाँ पर ह्रस्व (Light) दीर्घ (Heavy) तथा दीर्घतम (Heaviest) आदि भेद बहुत अनियमित और अनिश्चित मात्रा बोध कराने हैं। फिर भी मिर्जा खॉं का ध्वनि-विश्लेषण नव्य आर्यभाषाओं के ध्वनि तत्व के अध्ययन में बहुत उदा योगदान है। मिर्जा खॉं ने व्याकरणिक शब्दों (Grammatical term-) के जो प्रयोग किये हैं वे हिन्दी व्याकरण के नये शब्द हैं जो उस समय प्रयोग में आते रहे होंगे। उदाहरण के लिए कर्तव्य (Verb) के भूत (Past) वर्तमान (Present) भविष्य (Future) क्रिया (Perfect Participle) और कृत् (Object) भेद बताए गए हैं।

ब्रजभाषा का दूसरा व्याकरण धारू गोपालचन्द्र 'गिरधरदास' ने लिखा जो छन्दोबद्ध है और जिसे भी जवाहरलाल चतुर्वेदी ने पाहार् अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित कराया है। यह व्याकरण अत्यन्त सक्षिप्त रीति से ब्रजभाषा की मूल व्याकरणिक विशेषताओं का उल्लेख करता है। उदाहरण के लिए परसर्ग और विभक्तियों पर लिखा यह छन्द देखें :

देव जो सो सुखी देव जे हैं से पूचनोय
 देव को नमत पूजें देवन के मति मित
 देव सों मिलाप मेरो देवन सों रमें मन
 देव को सुदीनां चित्त देवन को गृह वित
 देव तें न दूजो साधी देवन सों बडो हू न
 देव कौ रसिक दास देवन कौन गुन हित
 देव में विरति नति देवन में सतगति
 करो हृपा हे देव हे देवन द्रवो नित

व्याकरणिक नियमों का निरीक्षण स्पष्ट है किन्तु उसमें व्याकरण की शारीकी नहीं है। फिर भी १६ वीं शताब्दी में लिखे जाने के कारण इस व्याकरण का महत्त्व निःसंदिग्ध है।

ई १५ ब्रजभाषा का वैज्ञानिक अध्ययन अन्य भारतीय भाषाओं के साथ ही योरोपीय विद्वानों के प्रयत्न से आरम्भ हुआ। १८८८ ईस्वी में लल्दू जी लाल ने ब्रजभाषा के कारक निभक्तियों और क्रियाओं पर एक निबन्ध प्रस्तुत किया। उस निबन्ध में ब्रजभाषा-ज्ञेय की भी चर्चा हुई। लल्दू जी लाल के मत से ब्रजभाषा ब्रजमंडल, ग्वालियर, भरतपुर रियासत,

आधारित थी। ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'आन माडर्न इंडोआर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी ब्रजभाषा पर प्रसंगवश कहीं कहीं विचार किया है।

ग्रियर्सन के अलावा अन्य कई योरोपीय भाषावैज्ञानिकों ने अवान्तर रूपमें, भारतीय भाषाओं के अध्ययन के सिलसिले में ब्रजभाषा पर विचार किया। वीम्स ने अलग से प्रची राजरासो की भाषा पर एक लम्बा निबन्ध लिखा जो १८७३ ई० में छपा। जिसमें ब्रजभाषा के प्राचीन रूपपर अच्छा विचार किया गया।

इसी प्रकार हार्नले, तेसीतोरि आदि ने भी ब्रजभाषा पर यत्किंचित् विचार किया। डा० केलग ने हिन्दी व्याकरण में ब्रजभाषा पर काफी विस्तार से विचार किया है। केलग के ब्रजभाषा अध्ययन का मुख्य आधार लल्लू जो लाल की 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' पुस्तकें रही हैं। ब्रजभाषा की विशेषताओं का निर्धारण केलग ने हिन्दी पुस्तकों की भाषा के आधार पर किया। केलग ने परसगों, क्रियाओं, सर्वनामों और विभक्तियों की व्युत्पत्ति ढूँढने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। १८७५ ईस्वी में केलग का यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तो आज तक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण माना जाता है।

हिन्दी भाषा में ब्रजभाषा पर बहुत कार्य नहीं हुए। विकीर्ण रूप से विचार तो कई जगह मिलता है किन्तु ब्रजभाषा के सन्तुलित और व्यवस्थित व्याकरण बहुत कम हैं। जैसे तो 'बुद्ध चरित' की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने, तथा 'विहारोरत्नाकर' में कथियर रत्नाकर ने ब्रजभाषाकी कुछ व्याकरणिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता। श्री किशोरीदास वाजपेयी का 'ब्रजभाषा व्याकरण' पुरानी पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु यह महत्वपूर्ण और काम की चीज है। ब्रजभाषा पर हिन्दी में प्रथम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य डा० धीरेन्द्र वर्मा ने किया है। उन्होंने १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डॉ० लि० उपाधि के लिए ब्रजभाषा पर 'ला लाग ब्रज' नाम से प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर १९५४ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। व्याकरण और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में अन्तर होता है। ब्रजभाषा के उपर्युक्त कार्यों में कुछेक को छोड़कर बाकी सभी व्याकरण की सीमा में ही बंधे हुए थे। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सर्व प्रथम इस महत्वपूर्ण भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया। इस पुस्तक को सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मध्यकालीन ब्रजभाषा (१६वीं-१८वीं) तथा आधुनिक औक्तिक ब्रजभाषा का तुलनात्मक व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। लेखक ने बड़े परिश्रम से ब्रजप्रदेश के हिस्सों से भिन्न बोलियों के रूप वहाँ के लोगों के मुख से सुनकर एकत्र किया। इस प्रकार इस पुस्तक में साहित्यिक ब्रज और बोलचाल की ब्रज का तारतम्य और सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त हो सका है। किसी भी भाषा-अनुसन्धित्सु के लिए परिशिष्ट में संकलित बोलियों के उद्धरणों और अन्त में सम्बन्धित शब्द-सूची का महत्व निर्विवाद है।

ब्रजभाषा सम्बन्धी इन कार्यों का विवरण देखकर इतना स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास के पहले ब्रजभाषा का यदि शास्त्रीय और प्रामाणिक विवेचन उपस्थित हो सके तो वह निश्चय ही दृष्टी हुई बड़ी जोड़ने में सहायक होगा और १६ वीं शताब्दी से बाद की ब्रजभाषा के अध्ययन का पूरक हो सकेगा।

आधारित थी। ग्रियर्सन ने अपनी पुस्तक 'आन माडर्न इंडोआर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी ब्रजभाषा पर प्रसंगवश कहीं कहीं विचार किया है।

ग्रियर्सन के अलावा अन्य कई योरोपीय भाषावैज्ञानिकों ने अवान्तर रूपसे, भारतीय भाषाओं के अध्ययन के तिलसिले में ब्रजभाषा पर विचार किया। वीम्स ने अलग से प्रची राजरासो की भाषा पर एक लम्बा निबन्ध लिखा जो १८७३ ई० में छपा।^१ जिसमें ब्रजभाषा के प्राचीन रूपपर अच्छा विचार किया गया।

इसी प्रकार हान्सेले, तेसीतौरी आदि ने भी ब्रजभाषा पर यत्किंचित् विचार किया। डा० केलग ने हिन्दी व्याकरण में ब्रजभाषा पर काफी विस्तार से विचार किया है। केलग के ब्रजभाषा अध्ययन का मुख्य आधार लल्लू जी लाल की 'प्रेमसागर' और 'राजनीति' पुस्तकें रही हैं। ब्रजभाषा की विशेषताओं का निर्धारण केलग ने इन्हीं पुस्तकों की भाषा के आधार पर किया। केलग ने परसगों, क्रियाओं, सर्जनाओं और विभक्तियों की व्युत्पत्ति ढूँढने का प्रयत्न किया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। १८७५ ईस्वी में केलग का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तो आजतक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण माना जाता है।

हिन्दी भाषा में ब्रजभाषा पर बहुत कार्य नहीं हुए। विकर्ण रूप से विचार तो कई जगह मिलता है किन्तु ब्रजभाषा के सन्तुलित और व्यवस्थित व्याकरण बहुत कम हैं। वैसे तो 'बुद्ध चरित' की भूमिका में रामचन्द्र शुक्ल ने, तथा 'विहाररत्नाकर' में कविवर रत्नाकर ने ब्रजभाषाकी कुछ व्याकरणिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। किन्तु इनमें न तो पूर्णता है न वैज्ञानिकता। श्री किशोरीदास वाजपेयी का 'ब्रजभाषा व्याकरण' पुरानी पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु यह महत्त्वपूर्ण और काम की चीज है। ब्रजभाषा पर हिन्दी में प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य डा० धीरेन्द्र वर्मा ने किया है। उन्होंने १९३५ ई० में पेरिस विश्वविद्यालय की डॉ० लि० उपाधि के लिए ब्रजभाषा पर 'ला लाग ब्रज' नामसे प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर १९५५ में प्रयाग से प्रकाशित हुआ। व्याकरण और भाषा वैज्ञानिक अध्ययन में अन्तर होता है। ब्रजभाषा के उपर्युक्त कार्यों में बुद्धेक को छोड़कर बाकी सभी व्याकरण की सीमा में ही बंधे हुए थे। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सर्व प्रथम इस महत्त्वपूर्ण भाषा का भाषाशास्त्रीय अध्ययन उपस्थित किया। इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें मध्यकालीन ब्रजभाषा (१६वीं-१८वीं) तथा आधुनिक औक्तिक ब्रजभाषा का तुलनात्मक व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। लेखक ने बड़े परिश्रम से ब्रजप्रदेश के हिस्सों से भिन्न बोलियों के रूप वहाँ के लोगों के मुख से सुनकर एकत्र किया। इस प्रकार इस पुस्तक में साहित्यिक ब्रज और बोलचाल की ब्रज का तारतम्य और सम्बन्ध स्पष्टतया व्यक्त हो सका है। किन्ती भी भाषा-अनुसन्धिस्तु के लिए परिशिष्ट में संकलित बोलियों के उद्धरणों और अन्त में सम्बन्धित शब्द-सूची का महत्त्व निर्वादा है।

ब्रजभाषा सम्बन्धी इन कार्यों का विवरण देखकर इतना स्पष्ट हो जाता है कि सुरदास के पहले ब्रजभाषा का यदि शास्त्रीय और प्रामाणिक विवेचन उपस्थित हो सके तो वह निश्चय ही टूटी हुई झड़ी जोड़ने में सहायक होगा और १६ वीं शताब्दी से बाद की ब्रजभाषा के अध्ययन का पूरक हो सकेगा।

ध्रुपद और विष्णुपद गानों में लौकिक शृंगार के वर्णन विषयों को आध्यात्मिक ढंग से समझने की कुञ्जी दी है। लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा की रचनाओं के कतिपय अंश उद्धृत किये हैं (देखिये §२४५) जिनसे सूरदास के पहले की ब्रजभाषा की समृद्धि का पता चलता है।

§ १६ १४वीं से १६वीं तक के साहित्य का विवेचन सैद्धान्तिक ऊहापोंह के रूप में तो बहुत हुआ है, खासतौर से सिद्ध-सन्तों के साहित्य को समझने के लिए पूरा तन्माहित्य, दृढयोग-परम्परा, योगशास्त्र आदि का सर्वांग विवेचन, भूमिका के रूप में सम्मिलित कर दिया जाता है। किन्तु इस साहित्य का सम्यक् रूप निर्धारण आज तक भी नहीं हो सका। एक तो इसलिए कि १४ से १६ सौ तक के साहित्य को हम सन्त साहित्य तक सीमित कर देते हैं। सन्त भी एक सम्प्रदाय के यानी निर्गुण सन्त। जैन साहित्य, जिसका अग्रभूत पूर्व विकास शौरसेनी अभ्रंश में दिखाई पड़ता है तथा जिसका परवर्ती विकास बनारसीदास जैसे सिद्ध लेखक की रचनाओं में मिलता है, इस काल में अन्वकार में पड़ा रह जाता है। कबीर या अन्य सतों की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धों के प्रभाव को हूँदने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन सतों के प्रभाव को विस्मरण कर दिया जाता है। दूसरी ओर हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा का मतलब ही अनधी काव्य लगाया जाने लगा है। अक्वी में भी प्रेमाख्यानक का क्षेत्र सूरी साहित्य तक सीमित रह जाता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यानक काव्यों का अद्वितीय महत्त्व है। शौर्य और वीरता के उस वातावरण में शृंगार को रसराज की प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए रोमानी प्रेमाख्यानकों की एक अत्यन्त विकसित परम्परा दिखाई पड़ती है। इस प्रेमाख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुसलमान सूरी सतों ने नहीं किया। यह मूलतः भारतीय परम्परा थी, इसको उन्होंने ग्रहण किया और इनके रूप में कुछ परिवर्तन भी। जयसी के पहले के कई प्रेमाख्यानक काव्य ब्रजभाषा में मिलते हैं जिनमें कवि दामो का लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (१५१६ विक्रमी) और नारायणदास की छित्ताई वार्ता (१५५० विक्रमी) प्रमुख हैं। ये दोनों हिन्दू पद्धति के प्रेमाख्यानक काव्य हैं।

§ १७. ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य (१०००-१६००) का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसमें मध्यकाल में प्रचलित बहुत से काव्य-रूप सुरक्षित हैं जो परवर्ती साहित्य के शैली शिल्प को समझने के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की विभिन्न कथानक रुढ़ियों और तनग्रहीत लोक उपादानों को समझने के लिए न केवल रासो काव्यों का अध्ययन आवश्यक है बल्कि जैन चरित काव्यों को भी समीक्षा होनी चाहिए। १४११ विक्रमी संवत् का लिखा हुआ प्रसिद्ध ब्रजभाषा काव्य 'प्रद्युम्नचरित' एक ऐसा ही काव्य है जिसके अन्तर्गत वस्तु-तत्त्व और शिल्प का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार मङ्गल विवाहलो, वेलि, विलास आदि काव्य रूपों का अध्ययन भी प्राचीन ब्रजभाषा के इन काव्य रूपों के विवेचन के बिना सम्भव नहीं।

प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य की इस दृष्टी हुई कड़ी के न होने से कई प्रकार की गुणियों सामने आती हैं। उदाहरण के लिए अट्टहाप के कवियों की लौकिक प्रेममयझना और दोड़े

ध्रुपद और निष्पुण्ड गानों में लौकिक शृंगार के वर्य विषयों को आध्यात्मिक ढंग से समझने की कुञ्जी दी है। लेखक ने अपने मत की पुष्टि के लिए स्थान-स्थान पर ब्रजभाषा की रचनाओं के कतिपय अथ उद्धृत किये हैं (देखिये §२४५) जिनसे सूरदास के पहले की ब्रजभाषा की समृद्धि का पता चलता है।

§ १६ १४वीं से १६वीं तक के साहित्य का विवेचन सैदान्तिक ऊहापांड के रूप में तो बहुत हुआ है, खासतौर से सिद्ध-सन्तों के साहित्य को समझने के लिए पूरा तथ्य-साहित्य, इष्टयोग-परम्परा, योगशास्त्र आदि का सर्वांग विवेचन, भूमिका के रूप में सम्मिलित कर दिया जाता है। किन्तु इस साहित्य का सम्यक् रूप निर्धारण आज तक भी नहीं हो सका। एक तो इसलिए कि १४ से १६ सौ तक के साहित्य को हम सन्त साहित्य तक सीमित कर देते हैं। सन्त भी एक सम्प्रदाय के यानी निर्गुण सन्त। जैन साहित्य, जिसका अभूत पूर्व विकास शौरसेनी अरभ्रश में दिखाई पड़ता है तथा जिसका परवर्ती विकास इनारमीदास जैसे सिद्ध लेखक की रचनाओं में मिलता है, इस काल में अन्वकार में पड़ा रह जाता है। कबीर या अन्य सतों की विचारधारा के मूल में नाथ सिद्धों के प्रमाण को ढूँढने का प्रयत्न तो होता है किन्तु जैन सतों के प्रमाण को विस्मरण कर दिया जाता है। दूसरी ओर हिन्दी में प्रेमाख्यानक काव्यों की परम्परा का मतलब ही अन्वधी काव्य लगाना जाने लगा है। अन्वधी में भी प्रेमाख्यानक का क्षेत्र सूनी साहित्य तक सीमित रह जाता है। मध्यकालीन भारतीय साहित्य में प्रेमाख्यानक काव्यों का अद्वितीय महत्त्व है। शौर्य और वीरता के उस वातावरण में शृंगार को रसराज की प्रतिष्ठा मिली। इसीलिए रोमानी प्रेमाख्यानकों की एक अत्यन्त विकसित परम्परा दिखाई पड़ती है। इस प्रेमाख्यानक-परम्परा का आरम्भ मुसलमान सूनी सतों ने नहीं किया। यह मूलतः भारतीय परम्परा थी, इसको उन्होंने ग्रहण किया और इनके रूप में कुछ परिवर्तन भी। जायसी के पहले के कई प्रेमाख्यानक काव्य ब्रजभाषा में मिलते हैं जिनमें कवि दामो का लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा (१५१६ विक्रमी) और नारायणदास की छिटाई वार्ता (१५५० विक्रमी) प्रमुख हैं। ये दोनों हिन्दू पद्धति के प्रेमाख्यानक काव्य हैं।

§ १७. ब्रजभाषा के प्राचीन साहित्य (१०००-१६००) का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसमें मध्यकाल में प्रचलित बहुत से काव्य-रूप सुरक्षित हैं जो परवर्ती साहित्य के शैली शिल्प को समझने के लिए अनिवार्यतः आवश्यक हैं। तुलसीदास के रामचरितमानस की विभिन्न कथानक रुद्धियाँ और तनूशहीत लोक उपादानों को समझने के लिए न केवल रासो काव्यों का अध्ययन आवश्यक है बल्कि जैन चरित काव्यों की भी समीक्षा होनी चाहिए। १४११ विक्रमी संवत् का लिखा हुआ प्रसिद्ध ब्रजभाषा काव्य 'प्रद्युम्नचरित' एक ऐसा ही काव्य है जिसके अन्तर्गत वस्तु-सत्त्व और शिल्प का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार मङ्गल विवाहलो, बेलि, विलास आदि काव्य रूपों का अध्ययन भी प्राचीन ब्रजभाषा के इन काव्य रूपों के विवेचन के बिना सम्भव नहीं।

प्राचीन ब्रजभाषा साहित्य की इस दृष्टी हुई कड़ी के न होने से कई प्रकार की गुतियाँ सामने आती हैं। उदाहरण के लिए अष्टह्याप के कवियों की लौकिक प्रेमन्यञ्जना और दोहे

१. हकापके हिन्दी, अनुवाद : सैयद अतहर अब्बास रिजवी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संवत् २०१४

ब्रजभाषा का रिक्तः

मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

§ १८. मध्यदेश^१ ब्रजभाषा की उद्गम भूमि है। गंगा-यमुना के काठे में अवस्थित यह प्रदेश अपना महान् सांस्कृतिक परम्परा के लिए सदैव आदर के साथ स्मरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रदेश के महत्व और वैभव का एकाधिक बार उल्लेख मिलता है। भारत (आर्यभाषा-भाषी) के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को

१. मध्यदेश मूलतः गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश—

(क) हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्य यत्राग्निशनादपि ।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेश प्रकीर्तितः ॥ [मनुस्मृति २।२१]

(ख) विनय पित्रक, महावग्ग ५।१३।१२ में मध्यदेश की सीमा के अन्दर कज्जल अर्थात् वर्तमान बिहार का भागलपुर तक का इलाका सम्मिलित किया गया है।

(ग) गरुड पुराण (१।१५) में मध्यदेश के अन्तर्गत मत्स्य, अश्वत्थ, कुल्य, कुतल, कार्शा, कोशल, अधर्व, अर्कलिंग, मलय और वृक सम्मिलित किये गए हैं।

(घ) सूत्र संहिता के उल्लेखों के विषय में द्रष्टव्य ४।१० काय का वैदिक दृष्टान्त ।

(ङ) कामसूत्र का जयमंगला टीका में टाकाकार ने मध्यदेश के विषय में वशिष्ठ का यह मत उद्धृत किया है। [गंगायमुनयोर्विद्येके, टीका २।५।२१]

(च) फाह्यान, अलबेहर्ना तथा अन्य इतिहासकारों के मतों के लिए देखिये डा० धीरेन्द्र वर्मा का लेख 'मध्यदेश का विकास', ना० प्र० पत्रिका भाग ३, सख्या १ और उनकी पुस्तक 'मध्यदेश' राजभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित ।

२ (१) एतदेशप्रसूतस्य सकाशाद्ब्रजजन्मन ।

एव एव चरित्र शिक्षेरन्पृथिव्या सर्वमानवा ॥ [मनु० २।२०]

ब्रजभाषा का रिक्तः

मध्यदेशीय इन्दो-आर्यन

§ १८. मध्यप्रदेश^१ ब्रजभाषा की उद्गम भूमि है। गंगा-यमुना के काठे में अवस्थित यह प्रदेश अपना महान् सांस्कृतिक परम्परा के लिए सदैव आदर के साथ स्मरण किया गया है। भारतीय वाङ्मय में इस प्रदेश के महत्व और वैभव का एकाधिक बार उल्लेख मिलता है। भारत (आर्यभाषा-भाषी) के केन्द्र में स्थित होने के कारण इस प्रदेश की भाषा को

१. मध्यदेश मूलन गंगा-यमुना के बीच का प्रदेश—

(क) हिमवद् विन्ध्ययोर्मध्य यः प्राग्विनशनादपि ।

प्रत्यगेषु प्रवागाच्च मध्यदेश प्रकीर्तितः ॥ [मनुस्मृति २।२१]

(ख) विनय पिन्क, महावग्ग ५।१३।१२ में मध्यदेश की सीमा के अन्दर कज्जल अर्थात् वर्तमान बिहार का भागलपुर तक का इलाका सम्मिलित किया गया है।

(ग) गरुण पुराण (१।१५) में मध्यदेश के अन्तर्गत मत्स्य, अश्वत्थ, कुलन, कुतल, कार्शी, कोशल, अधर्व, अर्कलिंग, मलय और वृक सम्मिलित किये गए हैं।

(घ) सूत्र साहित्य के उल्लेखों के विषय में द्रष्टव्य डा० कीथ का वैदिक इंडेक्स।

(ङ) कामसूत्र का जयमगला टीका में टीकाकार ने मध्यदेश के विषय में वशिष्ठ का यह मत उद्धृत किया है। [गंगायमुनयोरित्येके, टीका २।५।२१]

(च) फाह्यान, अलबेरुनी तथा अन्य इतिहासकारों के मतों के लिए देखिये डा० धीरेन्द्र वर्मा का लेख 'मध्यदेश का विकास', ना० प्र० पत्रिका भाग ३, सख्या १ और उनकी पुस्तक 'मध्यदेश' राजभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित।

२ (१) एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद्ब्रजजन्मन ।

स्व स्व चरित्र शिष्येण्पृथिव्या सर्वमानवा ॥ [मनु० २।२०]

मितानी जातियों और उनके जनों के साथ स्थापित किया जाता है।^१ इती भाषा वस्तुतः मूल आर्य भाषा की एक शाखा है, जो योरोपीय भाषा के समानान्तर विकसित होती रही। इदो आर्यन से इसका सम्बन्ध सीधा नहीं कहा जा सकता। भारतीय आर्य भाषा का सीधा सम्बन्ध हिन्द ईरानी आर्य भाषा से है जो अफगानिस्तान और ईरान के पूर्वी हिस्सों में विकसित हुई थी। अवेस्ता इस भाषा में लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें जरठोट्ट घर्म के प्राचीन मंत्र संकलित किये गये हैं। पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसनेवाली आर्य जाति की एक विकसित भाषा थी, जिसे हम इन्दोईरानी कह सकते हैं, जो भारतीय आर्य भाषा के प्राचीनतम रूप यानी वैदिक भाषा या छान्दस के मूल में प्रतिष्ठित है।^२ ऋग्वैदिक काल में आर्यों के कबीले सप्तसिन्धु में पूर्ण रूप से फैल चुके थे और उनका दबाव पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ने लगा था। ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुमा और स्वात नदियों से लेकर पूरव में गंगा तक फैली हुई थी। ऋग्वैदिक मंत्रों का बहुत बड़ा हिस्सा सप्तसिन्धु या पचनद के प्रदेश में निर्मित हुआ। यह भी सहज अनुमेय है कि इस विशाल मंत्र-राशि का कुछ अंश यायावरीय आर्य-जन अपने पुराने ईरानी आवास से भारत में ले आये हों।^३ किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलों के मंत्र निःसन्देह गंगा-यमुना के काठे में बसे हुए आर्यों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्होंने वैदिक घर्म की स्थापना की, इसके साहित्य को क्रमवद्ध किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मंत्रों को विभक्त किया। 'मध्यदेश के इन आर्य-जनों ने भारत के सर्वाधिक वैभवपूर्ण प्रदेश में बसे होने के कारण अपनी स्थिति, संस्कृति और सभ्यता के बल पर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश के बुद्धिवादी ब्राह्मणों और आमिजात्य राजन्व्यों ने अपनी श्रेष्ठतर मनोवृत्ति के कारण आस पास के लोगों को प्रभावित किया और मध्यदेश की तद्वर्ती और सभ्यता को पूरव में काशी और मिथिला तथा सुदूर दक्षिण और पश्चिम के भागों में भी प्रसारित किया।'^४ मध्यदेशीय आर्यों की भाषा की शुद्धता का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है^५ किन्तु यह बाद के युग में मध्यदेशीय प्रभाव की वृद्धि का संकेत है। वस्तुतः वैदिक युग में उदीच्य या पश्चिम की भाषा को ही आदर्श और शुद्ध भाषा माना जाता था, ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थलों पर उदीच्य भाषा के गौरव का उल्लेख हुआ है।^६ यह मान्यता साधारण भी कही

१ H R Hall Ancient History of Near East 1913 pp 201, and Cambridge History of India vol 1 chapter III

२. अवेस्ता और ऋग्वैदिक मंत्रों की भाषा के साम्य के लिए विशेष द्रष्टव्य : इन्दो आर्यन ऐंड हिन्दी, पृ० ४८, ५६ तारापोरवाला एलिमेंट्स आव दि साइन्स आव लैंग्वेज पृ० ३०१-२४, पृ० बी० ट्यूब्यू डैक्सन कृत अवेस्ता ग्रेसर'

३. अवेस्ता के ईरानी आर्य मंत्रों और ऋतुओं या उत्सवों पर गाये जाने वाले वैदिक सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मार्टिन हाग का 'ऐसे आन दी सेवड लैंग्वेज, राइटिंग ऐंड रिलीजन्स आव पारसीज ऐंड ऐतरेय ब्राह्मण' १८६३, द्रष्टव्य

४ Origin and Development of Bengali Language 1926 P 39

५. यशुः संहिता २।२०

६. तस्मात् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते उद्ब एव यन्ति वाचम् शिचित्तम् यो वा तत् भाग्यवृत्ति, तस्य वा शुभ्रुपन्त इति (सांख्यायन या कोशांतिक ब्राह्मण ७।६)।

मितानी जातियों और उनके जनों के साथ स्थापित किया जाता है।¹ इती भाषा वस्तुतः मूल आर्य भाषा की एक शाखा है, जो योरोपीय भाषा के समानान्तर विकसित होती रही। इदो आर्यन से इसका सम्बन्ध सीधा नहीं कहा जा सकता। भारतीय आर्य भाषा का सीधा सम्बन्ध हिन्द ईरानी आर्य भाषा से है जो अफगानिस्तान और ईरान के पूर्वी हिस्सों में विकसित हुई थी। अवेस्ता इस भाषा में लिखा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जिसमें बरठोट्ट घर्म के प्राचीन मंत्र संकलित किये गये हैं। पूर्वी ईरान और अफगानिस्तान के कुछ हिस्सों में बसनेवाली आर्य जाति की एक विकसित भाषा थी, जिसे हम इन्दोईरानी कह सकते हैं, जो भारतीय आर्य भाषा के प्राचीनतम रूप यानी वैदिक भाषा या छान्दस के मूल में प्रतिष्ठित है।² ऋग्वैदिक काल में आर्यों के कबीले सप्तसिन्धु में पूर्ण रूप से फैल चुके थे और उनका दबाव पूर्व की ओर निरन्तर बढ़ने लगा था। ऋग्वैदिक भाषा उस आर्य प्रदेश की भाषा है जिसकी सीमा सुदूर पश्चिमोत्तर की कुमा और स्वात नदियाँ से लेकर पूरव में गंगा तक फैली हुई थी। ऋग्वैदिक मंत्रों का बहुत बड़ा हिस्सा सप्तसिन्धु या पचनद के प्रदेश में निर्मित हुआ। यह भी सहज अनुमेय है कि इस विशाल मंत्र-राशि का कुछ अंश यायावरीय आर्य-जन अपने पुराने ईरानी आवास से भारत में ले आये हों।³ किन्तु ऋग्वेद के अन्तिम मण्डलों के मंत्र नि सन्देह गंगा-यमुना के काठे में बसे हुए आर्यों द्वारा निर्मित हुए हैं जिन्होंने वैदिक घर्म की स्थापना की, इसके साहित्य को ब्रह्मवाद किया और उत्सव पर्वों के अनुसार मंत्रों को विभक्त किया। 'मध्यदेश के इन आर्य-जनों ने भारत के सर्वाधिक वैभवपूर्ण प्रदेश में बसे होने के कारण अपनी स्थिति, संस्कृति और सभ्यता के बल पर सम्पूर्ण उत्तर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रदेश के बुद्धिवादी ब्राह्मणों और आमिनात्य राजन्व्यों ने अपनी श्रेष्ठतर मनोवृत्ति के कारण आस पास के लोगों को प्रभावित किया और मध्यदेश की तहजीब और सभ्यता को पूरव में काशी और मिथिला तथा सुदूर दक्षिण और पश्चिम के भागों में भी प्रसारित किया।'⁴ मध्यदेशीय आर्यों की भाषा की शुद्धता का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है⁵ किन्तु यह वाद के युग में मध्यदेशीय प्रभाव की वृद्धि का संकेत है। वस्तुतः वैदिक युग में उदीच्य या पश्चिम की भाषा को ही आदर्श और शुद्ध भाषा माना जाता था, ब्राह्मण ग्रन्थों में कई स्थलों पर उदीच्य भाषा के गौरव का उल्लेख हुआ है।⁶ यह मान्यता साधारण भी कही

1 H R Hall Ancient History of Near East 1913 pp 201 and Cambridge History of India vol 1 chapter III

2. अवेस्ता और ऋग्वैदिक मन्त्रों की भाषा के साम्य के लिए विशेष द्रष्टव्य : इन्द्रो आर्यन एंड हिन्दी, पृ० ४८, ५६ तारापोरवाला एलिमेंट्स आव दि साइन्स आव लैंग्वेज पृ० ३०१-२४, पृ० बी० डब्ल्यू जैक्सन कृत अवेस्ता प्रेसर'

3. अवेस्ता के ईरानी आर्य मन्त्रों और ऋतुभा या उ'सर्वों पर गाये जाने वाले वैदिक सूत्रों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए मार्टिन हाग का 'ऐसे आन दी सेत्रड लैंग्वेज, राइटिंग्स एंड रिलीजन्स आव पारसीज़ एंड ऐतरेय ब्राह्मण' १८६३, द्रष्टव्य

4 Origin and Development of Bengali Language 1926 P 39

५ यजु' संहिता २।२०

६ तस्मात् उदीच्याम् प्रजाततरा वाग् उद्यते उद्ब्र एव यन्ति वाचम् शिषितम् यो वा तत् भागच्छति, तस्य वा शुभ्रपन्त इति (सायनायन या कोषांतकिक ब्राह्मण ७।६)।

१. बहिर्वर्ती उपशाखा की उत्तर पश्चिमी तथा पूरव की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, ए तथा उ वर्तमान है किन्तु भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर लुप्त हो गए हैं। जैसे काश्मीरी अलि, सिंधी अलि, विहारी आँलि किन्तु हिन्दी आल। २-बहिर्वर्ती भाषाओं विशेषतः पूर्वी भाषाओं में अपिनिहिति (Epenthesis) वर्तमान है, मध्यदेशीय में नहीं। ३-अइ > ऐ तथा अउ > ऐ बाहरी शाखा की पूर्वी भाषाओं में विवृत 'ए' तथा 'ओ' के रूप में दिखाई पड़ते हैं। ४-संस्कृत के च् ज् पूर्वी भाषाओं में त्स्-स् तथा द्ज-ज् में बदल आते हैं। ५-रू, त्स्, तथा ङ, ङ के उच्चारण की भिन्नता अन्तः और बहिः शाखाओं में स्पष्ट मान्य हो जाती है। ६-पूरव तथा पश्चिम की बहिः भाषाओं में द् ड् परस्पर विनिमेय है किन्तु मध्यदेशीय में नहीं। ७-बाहरी भाषाओं में म् > म तथा भीतरी में म् > वँ में बदलता है। ८-रू का बाहरी शाखाओं में लोप हो गया है, पश्चिमी हिन्दी में यह वर्तमान है। ९-स्वर मध्यग स > ह् में परिवर्तन बाहरी में ही दिखाई पड़ता है। १०-श, प्, स् > श् के रूप मागधी में दिखाई पड़ता है। ११-महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण में परिवर्तन के अघार पर भी यह भिन्नता स्पष्ट होती है। १२-द्वित्व वर्णों के सरलीकरण में पूर्व स्वर के क्षतिपूरक दीर्घीकरण ने आधार पर भी यह भेद दिखाई पड़ता है। रूप तत्त्व सम्बन्धी भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए डा० ग्रियर्सन ने निम्नलिखित मुख्य तर्क उपस्थित किये।

१. बाहरी भाषायें पुनः सरलिट्ट हो रही हैं जब कि भीतरी भाषाओं में सक्षिप्तता दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ हिन्दी में विभक्तियों और परसर्ग के, का, ने, में आदि सजा शब्दों से पृथक् लिखे जाते हैं। बंगाली में सम्बन्ध के 'रामेर' आदि रूप सक्षिप्तता व्यक्त करते हैं। क्रिया रूपों को देखने से यह अन्तर और भी स्पष्ट होता है। क्रियारूपों पर विचार करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा कि बाहरी भाषायें प्राचीन आर्य भाषा की किसी ऐसी बोली से निकली हैं जिसमें कर्म वाच्य के कृदन्तत्र रूपों के साथ सर्वनामों के लघुरूपों का समवतः प्रयोग होता था किन्तु भीतरी भाषायें संस्कृत की उस शाखा से प्रभावित हैं, जिनमें ऐसे क्रियारूपों के साथ सार्वनामिक लघु रूपों का प्रयोग नहीं होता था इसीलिए हिन्दी में कर्मवाच्य की 'मारा' क्रिया में सर्वनामों के वचन, पुरुष के अनुसार कोई अन्तर नहीं होता। मैंने हमने मारा, तूने तुमने मारा, उसने-उन्होंने मारा, किन्तु बाहरी शाखा की भाषाओं के साथ ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अन्तर्वर्ती भाषाओंके व्याकरण बाहरी भाषाओं के व्याकरण की अपेक्षा अधिक सरल और सक्षिप्त होते हैं। डा० चाटुर्ज्या और ग्रियर्सन के मतभेद और विवाद की बात हम ऊपर कह चुके हैं, यहाँ उसके विस्तार में जाने का कोई प्रयोजन नहीं है। चाटुर्ज्या ने बहुत विस्तार के साथ ग्रियर्सन के तर्कों को प्रमाणहीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—जो भी हो डा० ग्रियर्सन की इस स्थापना से मध्यदेशीय भाषा की महत्वपूर्ण स्थिति और विशेषता का सकेत मिलता है। ग्रियर्सन ने समुद्र-तट पर बसे गुजरात प्रान्त की भाषा को अन्तर्वर्ती कहा है। उन्होंने इस भाषा को मूलतः शौरसेनी श्रेणी की भाषा स्वीकार किया है। यह मान्यता ब्रजभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से कर्मवाच्य के कृदन्तत्र रूपों और विभक्ति सम्बन्धी प्रवृत्ति के सकेत भी मध्यदेशी

१. क्रियारूपों का विवरण ग्रियर्सन के लिखितिक सर्वे भाष इंडिया भाग १ खंड १ में देखा जा सकता है।

१. बहिर्वर्ती उपशाखा की उत्तर पश्चिमी तथा पूरव की बोलियों में अन्तिम स्वर इ, ए तथा उ वर्तमान है किन्तु भीतरी उपशाखा की पश्चिमी हिन्दी में ये स्वर ह्रात हो गए हैं। जैसे काश्मीरी अलि, सिंची अलि, विहारी आँखि किन्तु हिन्दी आल। २-बहिर्वर्ती भाषाओं विशेषतः पूर्वी भाषाओं में अपिनिहिति (Epenthesis) वर्तमान है, मध्यदेशीय में नहीं। ३-अइ > ऐ तथा अउ > ऐ बाहरी शाखा की पूर्वी भाषाओं में विहृत 'ए' तथा 'ओ' के रूप में दिखाई पड़ते हैं। ४-संस्कृत के चू, जू पूर्वी भाषाओं में त्स-म् तथा द्ज-ज में बदल आते हैं। ५-र, त्स, तथा ड, ङ के उच्चारण की भिन्नता अन्तः और बहिः शाखाओं में स्पष्ट मान्य हो जाती है। ६-पूरव तथा पश्चिम की बहिः भाषाओं में द् ड् परस्पर विनिमेय है किन्तु मध्यदेशीय में नहीं। ७-बाहरी भाषाओं में म् > म तथा भीतरी में म् > वँ में बदलता है। ८-र का बाहरी शाखाओं में लोप हो गया है, पश्चिमी हिन्दी में यह वर्तमान है। ९-स्वर मध्य स > ह में परिवर्तन बाहरी में ही दिखाई पड़ता है। १०-श, प, स > श के रूप मागधी में दिखाई पड़ता है। ११-महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण में परिवर्तन के आधार पर भी यह भिन्नता स्पष्ट होती है। १२-द्वित्व वर्णों के सरलीकरण में पूर्व स्वर के क्षतिपूर्क दीर्घाकरण के आधार पर भी यह भेद दिखाई पड़ता है। रूप तत्त्व सम्बन्धी भिन्नता को स्पष्ट करने के लिए डा० ग्रियर्सन ने निम्नलिखित मुख्य तर्क उपस्थित किये।

१. बाहरी भाषायें पुनः सश्लिष्ट हो रही हैं जब कि भीतरी भाषाओं में सश्लिष्टता दिखाई पड़ती है। उदाहरणार्थ हिन्दी में विभक्तियों और परसर्ग के, का, ने, में आदि सहा शब्दों से पृथक् लिखे जाते हैं। बंगाली में सम्बन्ध के 'रामेर' आदि रूप सश्लिष्टता व्यक्त करते हैं। क्रिया रूपों को देखने से यह अन्तर और भी स्पष्ट होता है। क्रियारूपों पर विचार करते हुए डा० ग्रियर्सन ने लिखा कि बाहरी भाषायें प्राचीन आर्य भाषा की किसी ऐसी बोली से निकली हैं जिसमें कर्म वाच्य के कृदन्तज रूपों के साथ सर्वनामों के लघुरूपों का सम्भवतः प्रयोग होता था किन्तु भीतरी भाषायें संस्कृत की उस शाखा से प्रभावित हैं, जिनमें ऐसे क्रियारूपों के साथ सार्वनामिक लघु रूपों का प्रयोग नहीं होता था इसीलिए हिंदी में कर्मवाच्य की 'मारा' क्रिया में सर्वनामों के वचन, पुरुष के अनुसार कोई अन्तर नहीं होता। मैंने हमने मारा, तूने तुमने मारा, उसने-उन्होंने मारा, किन्तु बाहरी शाखा की भाषाओं के साथ ऐसी बात नहीं है। इसीलिए अन्तर्वर्ती भाषाओंके व्याकरण बाहरी भाषाओं के व्याकरण की अपेक्षा अधिक सरल और सक्षिप्त होते हैं। डा० चाटुर्ज्या और ग्रियर्सन के मतभेद और विवाद की बात हम ऊपर कह चुके हैं, यहाँ उसके विस्तार में जाने का कोई प्रयोजन नहीं है। चाटुर्ज्या ने बहुत विस्तार के साथ ग्रियर्सन के तर्कों को प्रमाणहीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—जो भी हो डा० ग्रियर्सन की इस स्थापना से मध्यदेशीय भाषा की महत्वपूर्ण स्थिति और विशेषता का सकेत मिलता है। ग्रियर्सन ने समुद्र-तट पर बसे गुजरात प्रान्त की भाषा को अन्तर्वर्ती कहा है। उन्होंने इस भाषा को मूलतः शौरसेनी श्रेणी की भाषा स्वीकार किया है। यह मान्यता प्रज्ञभाषा के अध्येता के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भाषा की दृष्टि से कर्मवाच्य के कृदन्तज रूपों और विकशिष्टता सम्बन्धी प्रवृत्ति के सकेत भी मध्यदेशी

१. क्रियारूपों का विवरण ग्रियर्सन के लिखितिक सर्वे भाष इंडिया भाग १ खंड १ में देखा जा सकता है।

६। १२। १, ६। २। ७) यह अवस्था बाद की भाषाओं अर्थात् मध्य और नव्य आर्य भाषाओं में दिखाई पड़ती है। हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरगम के प्रयोगों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। स्वरगम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नई हिन्दी में विरल हैं किन्तु पुरानी हिन्दी (ब्रज, अवधो) में इनकी संख्या काफी है। वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पड़ता है जैसे प्रगल्भ > पगल्भ (तैत्तिरीय संहिता २। २। १४) हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय > पिय, चन्द्र > चन्द आदि रूप। ब्रजभाषा में प्रहर > पहर, प्रमाण > पमान, प्रिय > पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं। वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है। विद्वानों की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नहीं है। प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओं में क्रमशः र्, र और ल् और केवल ल् ध्वनियाँ रही होंगी। शाखाओं के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने आप उत्पन्न हो जाती है। भीर, भील, शील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।^३ र और ल ब्रजभाषा में परस्पर विनिमय ध्वनियाँ हैं। इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमयता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। भद्रक > भल्ला > भला। चत्वारिंशत् > चालीस, पर्यक > पलग; घूर्ण > धोल आदि तथा व्याकुल > वाउल > वाउर, में यह विनिमयता परिलक्षित होती है।

§ २२. वैदिक भाषा के शब्द-रूपों का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य विन्यास की ओर आकृष्ट होता है। ग्राहणों में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की दशमाविक भाषा है जिसके वाक्य विन्यास के बारे में डा० मैकडानल लिखते हैं : 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अन्वय भी मिलते हैं।'^४ वैदिक भाषा में क्रिया पदों में उपसर्गों को जोड़कर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पड़ती है, यह प्रवृत्ति संस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा में प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओं के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे। संस्कृत में क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओं का उतना प्रयोग नहीं है जितना वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक भाषा की ये प्रवृत्तियाँ संस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओं के निकट मालूम होती हैं। अव्ययिक प्रयोग संस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पड़ती है। गुलेरी जी ने निर्व्ययिक पदों के ऐसे प्रयोगों को ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को 'वैदिक भाषा की अव्ययिक निर्देश को विरासत भी मिली'^५ वस्तुतः वैदिक भाषा परिनिष्ठित संस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से संपन्न थी।

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्गम और विकास पृ० ३५३ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए हैं।
२. वाघो रो लुक्, प्राकृत व्याकरण ८।४।३३८
३. रलयोरभेद : पाणिनीय
४. Vedic Grammar IV Edition 1900 London p 284
५. पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण सन् २००५, पृ० ६

६। १२। १, ६। २। ७) यह अवस्था बाद की भाषाओं अर्थात् मध्य और नव्य आर्य भाषाओं में दिखाई पड़ती है। हिन्दी में आदि मध्य और अन्त स्वरगम के प्रयोगों के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। स्वरगम (Intrusive Vowels) के उदाहरण नई हिन्दी में विरल हैं किन्तु पुरानी हिन्दी (ब्रज, अवधो) में इनकी संख्या काफी है। वैदिक भाषा में मध्यग र् का विकल्प लोप दिखाई पड़ता है जैसे प्रगल्भ > पगल्भ (तैत्तिरीय संहिता २। २। १४) हेमचन्द्र ने अपभ्रंश में इस प्रवृत्ति को लक्षित किया था जैसे प्रिय > विय, चन्द्र > चन्द आदि रूप। ब्रजभाषा में प्रहर > पहर, प्रमाण > पमान, प्रिय > पिय आदि बहुत से प्रयोग मिलते हैं। वैदिक भाषा की र् ध्वनि उच्चारण की दृष्टि से भारोपीय 'ल्' ध्वनि की विकल्प रूप में स्थानापन्न प्रतीत होती है। विद्वानों की धारणा है कि र् और ल् का यह साम्य आकस्मिक नहीं है। प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन शाखाओं में क्रमशः र्, र और ल् और केवल ल् ध्वनियाँ रही होंगी। शाखाओं के एकीकरण के बाद इस प्रकार की शिथिलता अपने आप उत्पन्न हो जाती है। धीर, श्रील, शील एक ही शब्द के तीन रूप हैं जिनसे ऊपर के कथन की सत्यता प्रमाणित होती है।^१ र और ल ब्रजभाषा में परस्पर विनिमेष ध्वनियाँ हैं। इन्हें अभेद ध्वनियाँ कहा गया है। हिन्दी में र् और ल के परस्पर विनिमेषता के उदाहरण द्रष्टव्य हैं। भद्रक > भल्ला > भला। चत्वारिंशत् > चालीस, पर्यक > पलग; पूर्ण > फोल आदि तथा व्याजुल > वाउल > वाउर, में यह विनिमेषता परिलक्षित होती है।

§ २२. वैदिक भाषा के शब्द-रूपों का विचार करते समय हमारा ध्यान वाक्य विन्यास की ओर आकृष्ट होता है। ब्राह्मणों में प्रयुक्त गद्य की भाषा इस काल की रामाविक भाषा है जिसके वाक्य विन्यास के बारे में डा० मैकडानल लिखते हैं : 'वाक्य के आरम्भ में कर्ता का और अन्त में क्रिया का प्रयोग होता था। यह प्रवृत्ति सामान्य है, इसमें अनवाद भी मिलते हैं।'^२ वैदिक भाषा में क्रिया पदा में उपसर्गों को जोड़कर अर्थ-परिवर्तन की चेष्टा दिखाई पड़ती है, यह प्रवृत्ति संस्कृत में भी प्रचलित थी, किन्तु वैदिक भाषा में प्र, परा, अनु आदि उपसर्ग क्रियाओं के साथ न रह कर उनसे अलग भी प्रयुक्त होते थे। संस्कृत में क्रिया विशेषण और असमापिका क्रियाओं का उतना प्रयोग नहीं है जितना वैदिक भाषा में मिलता है। वैदिक भाषा की ये प्रवृत्तियाँ संस्कृत की अपेक्षा मध्यदेशीय नव्य भारतीय भाषाओं के निकट मालूम होती हैं। सविभक्तिक प्रयोग संस्कृत के मेरुदण्ड हैं वैदिक भाषा में इनमें कुछ शिथिलता दिखाई पड़ती है। गुलेरी जी ने निर्विभक्तिक पदों के ऐसे प्रयोगों की ही लक्ष्य करके कहा था कि पुरानी हिन्दी को वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश को विरासत भी मिली^३ वस्तुतः वैदिक भाषा परिनिष्ठित संस्कृत की अपेक्षा ज्यादा सरल, सहज और सामाजिक-धारा से संपृक्त थी।

१. हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० १४८, हिन्दी का उद्गम और विकास पृ० ३५३ पर हिन्दी उदाहरण दिये हुए हैं।

२. वाधो रो लुक्, प्राकृत व्याकरण ८।४।३१८

३. रलयोरभेद : पाणिनीय

४. Vedic Grammar IV Edition 19०० London p 284

५. पुरानी हिन्दी, प्रथम संस्करण सन् २००५, पृ० ६

रक गया जो प्रवहमान जोयन्त भाषा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मध्यदेश की यह सांस्कृतिक भाषा साहित्य दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन-अध्यापन का माध्यम बनकर रह गई।

§ २४. संस्कृत का प्रभान परवर्ती, खास तौर से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य पर पूरा-पूरा दिखाई पड़ता है, किन्तु भाषिक विकास में इसका योग प्रकारान्तर से ही माना जा सकता है। संस्कृत भाषा के साथ ही साथ जन साधारण के शैलचाल की स्वाभाविक यानी प्राकृत भाषायें विकसित हो रही थीं, संस्कृत अपने को इनके प्रभाव से मुक्त न रख सकी। बौद्धों की संस्कृत में यह सकरता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। बौद्धकाल की प्रचलित भाषाओं पर विचार करते हुए भी टी० डब्ल्यू० रायडेविस ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें मध्यकालीन आर्य भाषा के प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ईस्वी तक की स्थिति का बहुत अच्छा विवेचन हुआ है। 'बौद्ध भारत में गान्धार से बगाल और हिमाचल से दक्षिण समुद्र तक के भू भाग में बोली जाने वाली भाषाओं के मुख्य पांच क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं।

१—उत्तरपश्चिमी, गान्धार, पञ्जाब और सभवतः सिन्ध में प्रचलित भाषा का क्षेत्र।

२—दक्षिण पश्चिमी, गुजरात, पश्चिमी राजस्थान।

३—मध्यदेश और मालवा का क्षेत्र जो (२) और (३) का सन्धिस्थल कहा जा सकता है।

४—पूर्व में [क] प्राचीन अर्धमागधी और [ख] प्राचीन मागधी शामिल की जा सकती हैं।

५—दक्षिणी जिसमें विदर्भ और महाराष्ट्र की भाषायें आती हैं।

उत्तरभारत में प्रचलित इन भाषाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१—आर्य आक्रमणकारियों की भाषा, द्राविड और कोल भाषायें

२—प्राचीन वैदिक भाषा

३—उन आर्यों की भाषा जो शादी-आदि सम्बन्धों के कारण द्रविडों से मिश्रित हो गए थे, ये चाहे कश्मीर से नेपाल तक हिमालय की तराई में हो, या सिन्धु की घाटी में या गंगा यमुना के द्वीपों में।

१. भारतीय आर्यभाषा के मुख्यतया तीन काल-विभाजन होते हैं

(१) प्राचीन आर्यभाषा १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०। वैदिक भाषा भादर्श

(२) मध्यकालीन-६०० ई० पू० से १००० ईस्वी सन्

(क) प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ई० सन्। अशोक की प्राकृतों, पाली भादर्श

(ख) द्वितीय स्तर-२०० ई० से ६०० ई० संस्कृत नाटकों का प्राकृत शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि भादर्श

(ग) तृतीय स्तर-६०० ई० से १००० ई० शौरसेनी अपभ्रंश भादर्श

(३) नव्यआर्यभाषा-१००० ई० से वर्तमानयुग-हिन्दी, मराठी, बगला आदि भादर्श

रक गया जो प्रवृत्तमान जीवन्त भाषा के लिए आवश्यक है। इस प्रकार मध्यदेश की यह सांस्कृतिक भाषा साहित्य दर्शन और अन्य ज्ञान-विज्ञान के विषयों के अध्ययन-अव्यापन का माध्यम बनकर रह गई।

§ २४. संस्कृत का प्रभाव परवर्ती, खास तौर से नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साहित्य पर घूरा-घूरा दिखाई पड़ता है, किन्तु भाषिक विकास में इसका योग प्रकाशान्तर से ही माना जा सकता है। संस्कृत भाषा के साथ ही साथ जन साधारण के शैलीचाल की स्वाभाविक यानी प्राकृत भाषायें विकसित हो रही थीं, संस्कृत अपने को इनके प्रभाव से मुक्त न रख सकी। बौद्धों की संस्कृत में यह सकरता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। बौद्धकाल की प्रचलित भाषाओं पर विचार करते हुए श्री टी० डब्ल्यू० रायडेविस ने जो तालिका प्रस्तुत की है उसमें मध्यकालीन आर्य भाषा के प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ईस्वी तक की स्थिति का बहुत अच्छा विवेचन हुआ है।^१ 'बौद्ध भारत में गान्धार से चगल और हिमालय से दक्षिण समुद्र तक के भू भाग में बोली जाने वाली भाषाओं के मुख्य पांच क्षेत्र दिखाई पड़ते हैं।

१—उत्तरपश्चिमी, गान्धार, पञ्जाब और सभ्यतः स्थिर में प्रचलित भाषा का क्षेत्र।

२—दक्षिण पश्चिमी, गुजरात, पश्चिमी राजस्थान।

३—मध्यदेश और मालवा का क्षेत्र जो (२) और (३) का सन्धिरक्षक कहा जा सकता है।

४—पूर्व में [क] प्राचीन अर्धमागधी और [ख] प्राचीन मागधी शामिल की जा सकती हैं।

५—दक्षिणी जिसमें विदर्भ और महाराष्ट्र की भाषायें आती हैं।

उत्तरभारत में प्रचलित इन भाषाओं को इस प्रकार रखा जा सकता है :—

१—आर्य आक्रमणकारियों की भाषा, द्राविड और कोल भाषायें

२—प्राचीन वैदिक भाषा

३—उन आर्यों की भाषा जो शादी-आदि सम्बन्धों के कारण द्रविडों से मिश्रित हो गए थे, ये चाहे कश्मीर से नेपाल तक हिमालय की तराई में हों, या सिन्धु की घाटी में या गंगा यमुना के द्रोण में।

१. भारतीय आर्यभाषा के मुख्यतया तीन काल-विभाजन होते हैं

(१) प्राचीन आर्यभाषा १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०। वैदिक भाषा आदर्श

(२) मध्यकालीन-६०० ई० पू० से १००० ईस्वी सन्

(क) प्रथम स्तर ६०० ई० पू० से २०० ई० सन्। अशोक की प्राकृतों, पाली आदर्श

(ख) द्वितीय स्तर-२०० ई० से ६०० ई० संस्कृत नाटकों की प्राकृतों शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी आदि आदर्श

(ग) तृतीय स्तर-६०० ई० से १००० ई० शौरसेनी अपभ्रंश आदर्श

(३) नव्यआर्यभाषा-१००० ई० से वर्तमानयुग-हिन्दी, मराठी, बंगला आदि आदर्श

अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भाषा संस्कृत से बहुत दूर नहीं दिखाई पड़ती, उसके वाक्य विन्यास और गठन के भीतर संस्कृत का प्रभाव मिलेगा, किन्तु अशोक कालीन प्राकृतों में जो सहजता और जनभाषाओं की प्रवहमान प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह आर्य भाषाओं के विकास के एक नये युग की सूचना देता है। अशोककालीन प्राकृतों का मध्यदेशीय भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु इनके विकास की दिशाओं में हम तत्कालीन मध्यदेशीय के विकास के सूत्रों को दृष्ट कर सकते हैं। अशोक के शिलालेखों की भाषा की कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषताएँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से ऋ का परिवर्तन द्रष्टव्य है। ऋ > अ, उ, इ, ए रूपों में परिवर्तित होती है।

- कृत > कत (गिरिनार) कट (कालसी) किट (शाहवाजगढ़ी)
 मृग > मग (गिर०) भिग (कालसी) भृग (शाहवाजगढ़ी)
 व्यापृत > व्यापत (गिर०) वियापट (कालसी) वपट (शाहवाजगढ़ी)
 एतादृश > एतारिस (गिर०) हेडिस (कालसी) एदिश (शाहवाजगढ़ी)
 भातृ > भ्रातृ (शाह० मानसेरा) भाति (कालसी)
 पितृ > पितु, पीति (शा० मा०) पितु पिति (काल० घौली)
 वृद्ध > वृद्ध (गिर०) रूद्ध (शाह० मा०) दूद्ध (कालसी)
 वृद्धि > वटि (गिर०) वटि (शाह०) वट (कालसी)

संस्कृत धातु √ हृच् के दन्त और दिक्त्व परिवर्तन कई लेखों में दिखाई पड़ते हैं। त्रिसेवा को भी केर्न (Kern) और थीह्ल्ट्श (Hultsch) संस्कृत के दृश्यते से निष्पन्न मानते हैं। पृथ्वी > पुठ्वी (घौली) में ऋ का उ रूपान्तर हुआ है। ऋ का यह परिवर्तन बाद में एक सर्वमान्य प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा का हिया < हृदय, पूछुनो < पृच्छ्, पुहुनी < पृची, वियो < कृत आदि रूप इसी तरह की प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। इन शिलालेखों की भाषा में संस्कृत सध्यन्त ए के ए के रूप में परिवर्तन महत्वपूर्ण है। कैवर्त > नेयट। ओ का प्रायः सर्वत्र ओ रूप दिखाई पड़ता है। पीत्र > पोत्र (गि० मान०) पोता (शा० गिर० कालसी) संस्कृत पौराण > पोराण (मैसूर)। कुछ शब्दों में आरम्भिक अ का लोप भी विचारणीय है। जैसे अग्नि > पि, अध्वन् > धियद्ध। अहकम् > हकम्, हम या हौं (ब्रज)। अरिभ > सुमि। अन्त्य विसर्ग का प्रायः लोप होता है और अन्त्य अ का ओ रूप दिखाई पड़ता है। यराः > यराँ, ययो या यसो भी। वयःव > यो। जनः > जने, प्रियः > प्रिये, रूपों में विसर्ग रहित अ का ए रूप हो गया है। व्यञ्जन परिवर्तन के उदाहरण भी काफी महत्वपूर्ण हैं। आरम्भिक इ का लोप जैसे हस्तिन् > अस्ति। सपोय व्यञ्जनों में सर्श घनि का लोप जैसे करण-कारक की विभक्ति भिः का सर्वत्र हि। (Palatalization) तालज्योकरण के उदाहरण भी दिखाई पड़ते हैं। च् > छ, च्ण > छण, मोच् > मोछ। त्य > च, आत्यधिक > आच्यिक। य > ज, अय > आज। न्य का ण में परिवर्तन विचारणीय है। यह प्रयोग कोई जैन अपभ्रंश की ही विशेषता नहीं है। अन्य > अण। मन्य > मण। आरुप > आ + णय भी होता है।

रूप विचार की दृष्टि से हम प्राचीन आर्य भाषा की व्याकरणिक उलझनों का बहुत अभाव पाते हैं। कारक विभक्तियों में सरलीकरण की प्रवृत्ति का विनाश हुआ है। पदान्त व्यञ्जनों के लोप से प्रायः अन्त्य स्वरान्त प्रातिपदिक ही बच रहे हैं। अकारान्त प्रातिपदिकों के

अशोक के शिलालेखों की प्राकृत भाषा संस्कृत से बहुत दूर नहीं दिखाई पड़ती, उसके वाक्य विन्यास और गठन के भीतर स्फुट का प्रभाव मिलेगा, किन्तु अशोक कालीन प्राकृतों में जो सहजता और जनभाषाओं की प्रवहमान प्रवृत्ति का दर्शन होता है, वह आर्य भाषाओं के विकास के एक नये युग की सूचना देता है। अशोककालीन प्राकृतों का मध्यदेशीय भाषा से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु इनके विकास की दिशाओं में हम तत्कालीन मध्यदेशीय के विकास के सूत्रों को दृष्ट कर सकते हैं। अशोक के शिलालेखों की भाषा की कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषताएँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं। ध्वनि विकास की दृष्टि से ऋ का परिवर्तन द्रष्टव्य है।

ऋ > अ, उ, इ, ए रूपों में परिवर्तित होती है।

कृत > क्त (गिरिनार) कट (कालसी) किट (शाहवाजगढ़ी)

मृग > मग (गिर०) मिग (कालसी) मुग (शाहवाजगढ़ी)

व्यापृत > व्यापत (गिर०) वियापट (कालसी) वपट (शाहवाजगढ़ी)

एतादृश > एतारिस (गिर०) हेडिस (कालसी) एदिश (शाहवाजगढ़ी)

भातृ > भातु (शाह० मानतेरा) भाति (कालसी)

पितृ > पितु, पीति (शा० मा०) पितु पिति (काल० चौली)

वृक्ष > वृक्ष (गिर०) रृक्ष (शाह० मा०) दृक्ष (कालसी)

वृद्धि > वट्टि (गिर०) वट्टि (शाह०) वट (कालसी)

संस्कृत धातु/दृक् के दन्त और दिक् परिवर्तन कई लेखों में दिखाई पड़ते हैं। टिसेया को भी केर्न (Kern) और भीहल्लस (Hultsch) संस्कृत के दृश्यते से निष्पन्न मानते हैं। पृथ्वी > पुठवी (चौली) में ऋ का उ रूपान्तर हुआ है। ऋ ना यह परिवर्तन बाद में एक सर्वमान्य प्रवृत्ति के रूप में दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा का ह्रिया < हृदय, पूछनो < पृच्छ्, पुहुमी < पृथ्वी, बियौ < कृत आदि रूप इसी तरह की प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। इन शिलालेखों की भाषा में संस्कृत सध्यद्वार ऐ का ए के रूप में परिवर्तन महत्वपूर्ण है। कैवर्त > नेवट। औ का प्रायः सर्वत्र ओ रूप दिखाई पड़ता है। पौत्र > पोत्र (गि० मान०) पोता (शा० गिर० कालमी) संस्कृत पौराण > पौराण (मैसूर)। कुछ शब्दों में आरम्भिक अ का लोप भी विचारणीय है। जैसे अग्नि > पि, अप्यत् > चियत्। अहकम् > हकम्, हम या हौं (ब्रज)। अरिभ > सुमि। अन्त्य विसर्ग का प्रायः लोप होता है और अन्त्य अ का ओ रूप दिखाई पड़ता है। यशः > यशो, यशो या यशो भी। वयःत्र > यो। जनः > जने, प्रियः > प्रिये, रूपों में विसर्ग रहित अ का ए रूप हो गया है। व्यञ्जन परिवर्तन के उदाहरण भी काफी महत्वपूर्ण हैं। आरम्भिक ह का लोप जैसे हस्तिन् > अस्ति। सधोप व्यञ्जनों में स्पर्श ध्वनि का लोप जैसे कर्णकारक की विभक्ति मिः का सर्वत्र हि। (Palatalization) तालव्योक्तरण के उदाहरण भी दिखाई पड़ते हैं। क्ष > क्ष, क्षण > क्षण, मोक्ष > मोक्ष। त्य > च, आत्ययिक > आचयिक। य > ज, अय > आज। न्य का ण में परिवर्तन विचारणीय है। यह प्रयोग कोई जैन अपभ्रंश को ही विशेषता नहीं है। अन्य > अण। मन्य > मण। आहृप् > आ + णय भी होता है।

रूप विचार की दृष्टि से हम प्राचीन आर्य भाषा की व्याकरणिक उलझनों का बहुत अभाव पाते हैं। कारक विभक्तियों में सरलीकरण की प्रवृत्ति का विनाश हुआ है। पदान्त व्यञ्जनों के लोप से प्रायः अन्त्य स्वान्त प्रातिपदिक ही बच रहे हैं। अकारान्त प्रातिपदिकों के

बाद उनने उपदेशों के सग्रह के लिए जो समिति बैठी उसमें भिद्यु महाकसर प्रमुख थे, वे चूँकि मध्यदेश के निवासी थे, इसलिए भी संभव है कि उन्होंने वे वचन अरुनी भाषा में उपस्थित किये हों। राजगुमार मदेन्द्र स्वयं उज्जैन में रहते थे जहाँ उन्होंने मध्यदेशीय भाषा में ही त्रिपिटकों का अनुवाद पढ़ा जिसे वे प्रचारार्थ सिंहाल ले गए थे। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ग्या ध्वनि प्रक्रिया और रूपनिचार (Morphology) दोनों ही दृष्टियों से पालि को मध्यकालीन आर्य भाषा के द्वितीय स्तर की शौरसेनी प्राकृत के निकट मानते हैं।¹ साहित्यिक भाषा के रूप में पालि मध्य आर्य भाषाओं के संक्रान्तिकाल (२०० ईसा पूर्व से २०० ईस्वी सन्) में विकसित हुई। मध्यदेश की एक बोली पर आधारित यह भाषा संस्कृत की प्रतिद्वन्द्वी भाषा की हैसियत से भारत की लोक कथाओं के जातक रूप में सकलित होने और बुद्ध दर्शन के लिपि बद्ध होने के बाद एक शक्तिशाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। 'इस प्रकार पालि भाषा मध्यदेश की लुप्त भाषिक परम्परा को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुई। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ग्या पाणि के महत्त्व की श्रम्यर्थना करते हुए लिखते हैं कि 'पालि उज्जैन से मधुरा तक के भूभाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है, वस्तुतः इसे 'पश्चिमी हिन्दी' का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। मध्यदेश की भाषा के रूप में पालि भाषा आधुनिक हिन्दी या हिन्दुस्थानी की भाँति केन्द्र की, आर्यावर्त के हृदय प्रदेश की भाषा थी, अतएव आसपास पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। पालि ही हीनयान बौद्धों के 'धेरवाद' सम्प्रदाय की महान् साहित्यिक भाषा बनी और दही शाखा सिंहाल में पहुँच कर आगे चलकर वहाँ प्रतिष्ठापित हो गई।² भारतीय आर्य भाषा का अध्येता मध्यकाल में पूर्वी भाषा के सहसा प्राधान्य को देखकर आश्चर्य कर सकता है, अशोक के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा को कोई स्थान नहीं मिला यहाँ तक कि मध्यदेश में स्थापित स्तम्भों के शिलालेख अर्थात् कालसी, टोपरा, मेरठ और वैराट के शिलालेखों में भी स्थानीय भाषा को स्थान नहीं दिया गया 'फिर भी मध्यदेशीय भाषा अपने—रू—शब्दों, कर्ताकारक के—ओ—वाले रूपों, कर्म बहुवचन के—ए—प्रयोगों के रूप में राजकीय और शासन सम्बन्धी कार्यों के बाहर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती रही, और एक समय ऐसा भी आया कि उसने पालि भाषा के विकास के साथ ही प्राच्य को अपने क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया, अपमान का बदला मध्यदेशीय ने भयकर रूप से लिया और सत्रान्ति काल से लेकर आज तक वह शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश, ब्रजभाषा और आजकी हिन्दुस्थानी के रूप में पूर्वी और विहारी भाषाओं पर प्रमुख जमाये रही।'³ हम पालि और बाद की मध्यदेशीय भाषाओं के प्राधान्य को चाटुर्ग्या के शब्दों में रखना उचित नहीं समझते, वे मात्र भाषिक स्थितिनय परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण मध्यदेशीय को प्रमुखता मिलती रही है, जैसा कि चाटुर्ग्या ने स्वयं कहा कि यह आर्यावर्त के हृदय देश की भाषा है, जिसे आस पास के लोग आसानी से और ज्यादा सख्या में समझ सकते हैं, इसलिए इसे सदैव सम्मान और प्रमुखता मिलती रही है इसमें किसी प्रकार के बदले या प्रतिकार की भावना का आरोप उचित नहीं जान पड़ता।

1 Origin and Development of Bengali Language P 57

२ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५४ पृ० १७५

३. ओरीजिन ऐंड डेवलेप्मेन्ट आध बैंगाली लैंग्वेज, पृ० ६०

बाद उनने उपदेशों के समूह के लिए जो समिति बैठी उसमें भिद्यु महाकसर प्रमुख थे, वे चूँकि मध्यदेश के निवासी थे, इसलिए भी संभव है कि उन्होंने वे वचन अपनी भाषा में उपस्थित किये हों। राजगुमार गेन्द्रे स्वयं उज्जैन में रहते थे वहाँ उन्होंने मध्यदेशीय भाषा में ही त्रिपिटकों का अनुवाद पढ़ा जिसे वे प्रचारार्थ सिंहाल ले गए थे। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ग्या ध्वनि प्रक्रिया और रूपविचार (Morphology) दोनों ही दृष्टियों से पालि को मध्यकालीन आर्य भाषा के द्वितीय स्तर की शौरसेनी प्राकृत के निकट मानते हैं।¹ साहित्यिक भाषा के रूप में पालि मध्य आर्य भाषाओं के संक्रान्तिकाल (२०० ईसा पूर्व से २०० ईस्वी सन्) में विकसित हुई। मध्यदेश की एक बोली पर आधारित यह भाषा सत्त्वत की प्रतिद्वन्दी भाषा की दृष्टिगत से भारत की लोक कथाओं के जातक रूप में संकलित होने और बुद्ध दर्शन के लिपि बद्ध होने के बाद एक शक्तिशाली भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। 'इस प्रकार पालि भाषा मध्यदेश की लुप्त भाषिक परम्परा को पुनः स्थापित करने में समर्थ हुई। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ग्या पालि के महत्त्व की अभ्यर्थना करते हुए लिखते हैं कि 'पालि उज्जैन से मथुरा तक के भूभाग की भाषा पर आधारित साहित्यिक भाषा है, वस्तुतः इसे 'पश्चिमी हिन्दी' का प्राचीन रूप कहना ही उचित होगा। मध्यदेश की भाषा के रूप में पालि भाषा आधुनिक हिन्दी या हिन्दुस्थानी की भाँति केन्द्र की, आर्यावर्त के हृदय प्रदेश की भाषा थी, अतएव आसपास पूर्व, पश्चिम, पश्चिमोत्तर, दक्षिण पश्चिम आदि के जन इसे सरलता से समझ लेते थे। पालि ही हीनयान बौद्धों के 'पेरवाद' सम्प्रदाय की महान् साहित्यिक भाषा बनी और यही शाखा सिंहाल में पहुँच कर आगे चलकर वहाँ प्रतिष्ठापित हो गई।² भारतीय आर्य भाषा का अध्येता मध्यकाल में पूर्वी भाषा के सदृश प्राधान्य को देखकर आश्चर्य कर सकता है, अयोध के शिलालेखों में मध्यदेश की भाषा को कोई स्थान नहीं मिला यहाँ तक कि मध्यदेश में स्थापित स्तम्भों के शिलालेख अर्थात् कालसी, टोपरा, मेरठ और वैराट के शिलालेखों में भी स्थानीय भाषा को स्थान नहीं दिया गया 'किर भी मध्यदेशीय भाषा अपने—र शब्दों, कर्ताकारक के—ओ—वाले रूपों, कर्म बहुवचन के—ए—प्रयोगों के रूप में राजकीय और शासन सम्बन्धी कार्यों के बाहर अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करती रही, और एक समय ऐसा भी आया कि उसने पालि भाषा के विकास के साथ ही प्राच्य को अपने क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया, अपमान का बदला मध्यदेशीय ने भयकर रूप से लिया और सन्क्रान्ति काल से लेकर आजतक वह शौरसेनी प्राकृत और अवभ्रंश, ब्रजभाषा और आजकी हिन्दुस्थानी के रूप में पूर्वी और विहारी भाषाओं पर प्रमुख जमाये रही।³ हम पालि और बाद की मध्यदेशीय भाषाओं के प्राधान्य को चाटुर्ग्या के शब्दों में रखना उचित नहीं समझते, वे मात्र भाषिक स्थितिवन्ध परिस्थितियाँ थीं, जिनके कारण मध्यदेशीय को प्रमुखता मिलती रही है, जैसा कि चाटुर्ग्या ने स्वयं कहा कि यह आर्यावर्त के हृदय देश की भाषा है, जिसे आस पास के लोग आसानी से और ज्यादा सख्या में समझ सकते हैं, इसीलिए इसे सदैव सम्मान और प्रमुखता मिलती रही है इसमें किसी प्रकार के बदले या प्रतिकार की भावना का आरोप उचित नहीं जान पड़ता।

1 Origin and Development of Bengali Language P 57

२ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, १९५१ पृ० १७५

३. भोरीजिन पेंड डेवलेप्मेन्ट आध बैंगाली लैंग्वेज, पृ० ६०

परिनिष्ठित संस्कृत में नहीं स्वीकार किये गए थे।^१ उदाहरण के लिए इदम् का एकवचन पुलिग रूप 'इमस्स', 'पल' का प्रथमा बहुवचन 'पला', 'अरिय' और 'मधु' के कर्ता और कर्म के बहुवचन के 'अट्ठी' और 'मधू' रूप। डा० भाडारकर इन रूपों को मात्र वैदिक रूपों के सादृश्य पर ही निष्पन्न बताने की प्रवृत्ति को ठीक नहीं मानते। इन रूपों में वे पुलिग और नपुसक लिंग के अन्तर को मिटाने की उस प्रवृत्ति का सूत्रागत मानते हैं जो आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में विकसित हुई।^२ संस्कृत क्रिया के दस काल और क्रियार्थभेद के रूपा में पालि में केवल आठ ही रह गए। भविष्य और वर्तमान कालों के रूपों में तो बहुत कुछ सुरक्षित भी रहे किन्तु दूसरे काल में केवल दो तीन ही अवशिष्ट रहे। कुछ नये क्रिया रूप भी दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए 'भूँ' वर्तमान काल के आत्मनेपद उत्तम पुरुष का रूप, या 'मध्यम पुरुष एकवचन का रूप 'स्यो'। इस प्रकार के कई कालों के रूप मिलते हैं। वे वस्तुतः 'अस्' धातु के विभिन्न कालों के रूप हैं जिनका निर्माण आरम्भिक मौलिक रूपों के विस्मृत हो जाने के बाद किया गया, इनमें से कई संस्कृत 'अस्' के रूपों से निष्पन्न माने जा सकते हैं। इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखकर डा० भाडारकर ने कहा कि 'जब संस्कृत के कई मूल रूप विस्मृत हो गये, उनके स्थान पर पालि में नये रूपों का निर्माण हुआ, केवल मिथ्या सादृश्य के आधार पर ही नहीं, बल्कि क्रिया की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर क्रियार्थक भेदों के अनुसार इनका गठन हुआ। अस् धातु के विभिन्न रूपों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है। यहाँ पर हम देखते हैं कि नव्य आर्यभाषाओं के कुछ नये क्रियार्थ भेद और काल (Mood and tense) के रूप तथा अस् के विभिन्न रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम वर्तमान भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं, बहुत पहले प्राचीन काल में ही वर्तमान रही है।^३ ब्रजभाषा या हिन्दी में कृदन्त + सहायक क्रिया की प्रवृत्ति को एकदम नवीन मानने वालों के लिए यह विचारणीय होना चाहिए।

§ २८. पालि काल ही में प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था। भारतीय आर्यभाषा के मध्यमस्थीय विकास में (२०० ई० से ६००) प्राकृतों का अरुण विशेष महत्व है। इन प्राकृतों को हम बहुत दूर तक जनता की भाषा नहीं कह सकते। संस्कृत नाटककारों ने इन भाषा का प्रयोग पामर या ग्राम्य जनता की बातचीत की भाषा के रूप में ही किया है, बहुत कुछ शिष्ट श्रोता मण्डल के लिए हास्य का एक सस्ता आधार उपस्थित करना ही जैसे इनका उद्देश्य रहा हो। बाद की प्राकृत रचनायें इतनी कृत्रिम और नियमबद्ध आर्य शैली में लिखी गईं हैं कि उन्हें साहित्यिक कृत्रिम भाषा ही कह सकते हैं। यह सत्य है कि इन साहित्यिक प्राकृतों के पीछे उन बोलियों का आधार रहा है जिनसे वे विकसित हुई थीं, किन्तु हमारे पास उन बोलियों की शुद्ध सहेज रूप में प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है। संस्कृत व्याकरणों के प्रमाण पर हम प्रमुख प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का नाम लेते हैं। मागधी प्राकृत निःसन्देह मगध की भाषा थी अतः इसे हम प्राच्य प्राकृत भी कह सकते हैं, शौरसेनी शूरसेन प्रदेश वर्तमान मधुरा के आस पास की भाषा थी, इसे मध्यदेशीय प्राकृत कहा जा सकता है।

१. वही, पृ० ५७

२. वही, पृ० ५७

३. वही, पृ० ६३

परिनिष्ठित संस्कृत में नहीं स्वीकार किये गए थे । उदाहरण के लिए इदम् का एकवचन पुलिग रूप 'इमस्', 'पल' का प्रथमा बहुवचन 'पला', 'अरिय' और 'मधु' के कर्ता और कर्म के बहुवचन के 'अट्टी' और 'मधू' रूप । डा० भांडारकर इन रूपों को मात्र वैदिक रूपों के सादृश्य पर ही निष्पन्न बताने की प्रवृत्ति को ठीक नहीं मानते । इन रूपों में वे पुलिग और नपुंसक लिग के अन्तर को मिताने की उस प्रवृत्ति का सूत्रपात मानते हैं जो आगे चलकर हिन्दी आदि भाषाओं में विकसित हुई । सस्कृत क्रिया के दस काल और क्रियार्थभेद के रूपा में पालि में केवल आठ ही रह गए । भविष्य और वर्तमान कालों के रूपों में तो बहुत कुछ सुरक्षित भी रहे किन्तु दूसरे काल में केवल दो तीन ही अवशिष्ट रहे । कुछ नये क्रिया रूप भी दिखाई पड़ते हैं । उदाहरण के लिए 'ग्हे' वर्तमान काल के आत्मनेपद उत्तम पुरुष का रूप, या 'मध्यम पुरुष एकवचन का रूप 'त्यो' । इस प्रकार के कई कालों के रूप मिलते हैं । वे वस्तुतः 'अस्' धातु के विभिन्न कालों के रूप हैं जिनका निर्माण आरम्भिक मौलिक रूपों के विस्मृत हो जाने के बाद किया गया, इनमें से कई सस्कृत 'अस्' के रूपों से निष्पन्न माने जा सकते हैं । इन्हीं प्रयोगों को दृष्टि में रखकर डा० भांडारकर ने कहा कि 'जब सस्कृत के कई मूल रूप विस्मृत हो गये, उनके स्थान पर पालि में नये रूपों का निर्माण हुआ, केवल मित्या सादृश्य के आधार पर ही नहीं, बल्कि क्रिया की अभिव्यक्ति को दृष्टि में रखकर क्रियार्थक भेदों के अनुसार इनका गठन हुआ । अस् धातु के विभिन्न रूपों का प्रयोग विशेष महत्व रखता है । यहाँ पर हम देखते हैं कि नय आर्यभाषाओं के कुछ नये क्रियार्थ भेद और काल (Mood and tense) के रूप तथा अस् के विभिन्न रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति जिसे हम वर्तमान भाषाओं के विकास में सक्रिय देखते हैं, बहुत पहले प्राचीन काल में ही वर्तमान रही है । ब्रजभाषा या हिन्दी में कृदन्त + सहायक क्रिया की प्रवृत्ति को एकदम नवीन मानने वालों के लिए यह विचारणीय होना चाहिए ।

§ २८. पालि काल ही में प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ हो चुका था । भारतीय आर्यभाषा के मध्यमरीय विकास में (२०० ई० से ६००) प्राकृतों का अवनति विशेष महत्व है । इन प्राकृतों को हम बहुत हद तक जनता की भाषा नहीं कह सकते । सस्कृत नाटककारों ने इन भाषा का प्रयोग पामर या ग्राम्य जनों की बातचीत की भाषा के रूप में ही किया है, बहुत कुछ शिष्ट श्रोता मण्डल के लिए हास्य का एक सत्ता आधार उपस्थित करना ही जैसे इनका उद्देश्य रहा हो । बाद की प्राकृत रचनाएँ इतनी कृत्रिम और नियमबद्ध आर्य शैली में लिखी गई हैं कि उन्हें साहित्यिक कृत्रिम भाषा ही कह सकते हैं । यह सत्य है कि इन साहित्यिक प्राकृतों के पीछे, टन, बोलियों का आधार रहा है जिससे वे विकसित हुई थीं, किन्तु हमारे पास उन बोलियों की शुद्ध सहज रूप में प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है । सस्कृत व्याकरणों के प्रमाण पर हम प्रमुख प्राकृतों में शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी का नाम लेते हैं । मागधी प्राकृत निःसन्देह मागधी की भाषा थी अतः इसे हम प्राच्य प्राकृत भी कह सकते हैं, शौरसेनी शूरसेन प्रदेश वर्तमान मधुरा के आस पास की भाषा थी, इसे मध्यदेशीय प्राकृत कहा जा सकता है ।

१. वही, पृ० ५०

२. वही, पृ० ५०

३. वही, पृ० ६३

विचारिणी है।^१ मध्य आर्यभाषा के प्रथम स्तर में स्वर मध्यम अव्यय व्यञ्जनों का सरोप रूप दिखाई पड़ता है, कालान्तर में सरोप ध्वनियों उष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगीं और बाद में उच्चारण की कठिनाई के कारण ये टूट हो गईं। विद्वानों की धारणा है कि शुक ७ मुअ, शोक ७ सोअ, नदी ७ नई की विभक्त स्थिति में एक अन्तर्गतता अवस्था भी रही होगी। अर्थात् 'शुक' के मुअ होने के पहले शुक और मुग ये दो अवस्थाएँ भी रही होंगी। चाटुर्ग्या ने लिखा है कि इसमें एक मित्रुति या टिलाई से उच्चरित अर्थात् उष्मीभूत उच्चारण 'व, ध' सामने आया। इस तरह उपर्युक्त शब्द शोक, रोग, नदी आदि एक अवस्था में 'सोय,' रोय' और 'नर्ध' हो गए थे। साहित्यिक प्राकृता में शौरसेनी तथा मागधी में क, ए, त, थ की बगह एकावस्थित स्वर मध्यस्थ रूप में प्रात ग, घ (पा ह) ट, ध के प्रयोगों का वैयाकरणों द्वारा उल्लेख मिलता है। परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एककस्थिति स्वरान्तर्हित स्पर्श (Inter vocal single stop) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाये जाते हैं यह महाराष्ट्री के विकास की पञ्चकालीन अवस्था का चोतक है। इसी तरह के और भी समता सूचक और परवता विकास-व्यञ्जक आँकड़ों के आधार पर मनमोहन घोंप ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवता रूप सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। शूरसेन से यह भाषा दक्षिण ले जाई गई और वहाँ उसे स्थानीय प्राकृत ने अति न्यून प्रभाव में उपस्थित करके एक साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया। इस प्रसंग में डा० चाटुर्ग्या ने हिन्दुरथानी को दक्षिण ले जाने और 'टकिनी' बनाने की घटनाका मजेदार उल्लेख किया है। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष में पूरन के कुछ हिस्सों में प्रचलित मागधी को छोड़कर एक बार फिर सम्पूर्ण देश की भाषा का स्थान मध्य-देशीय शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त हुआ। पूरन में भी इसका प्रभाव कम न था। सारखेल के शायी गुफा के लेखों तक की भाषा में शौरसेनी के प्रभाव को विद्वानों ने स्वीकार किया है। संस्कृत वैयाकरणों में बुद्धेक ने महाराष्ट्री के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनका निरीक्षण अवैज्ञानिक था जैसा ऊपर कहा गया। शौरसेनी का परवता रूप या महाराष्ट्री प्राकृत बहुत कुछ कविता की भाषा कही जा सकती है। इसमें गद्य बहुत कम मिलता है या उसका एकदम अभाव है। शौरसेनी प्राकृत संस्कृत न जाननेवाले लोगों विशेषतः खीर्ग और असंस्कृत परिवारों की बेलचाल की भाषा थी। इसमें प्रायः गद्य लिखा जाता था।^२ जब कि इन्हीं का परवता रूप महाराष्ट्री केवल पद्य (Lyrics) की भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत गीता की भाषा थी जैसा की १५वीं शती के बाद ब्रजभाषा केवल काव्य की ही भाषा मानी जाती थी।^३ प्राकृतों में मथुरा में मुख्य केन्द्रवाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एवं लालित्यपूर्ण प्राकृत या पञ्चमव्ययुगीन मारतीत आर्य भाषा सिद्ध हुई। जैसे देखा जाय तो शौरसेनी आधुनिक मथुरा की भाषा, हिन्दुस्थानी की वहन एवं त्रिगतकाल की प्रतिस्पर्धिनी ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।^४

1 It is rather hasty to assume that Marathi is the final descendant of the Maharashtra prakrit

Comparative Grammar of Modern Aryan Languages 1872 p 34

२. डा० हरिवल्लभ भायार्गी-वाग्यापार पृ० १२०-१३४, विभिन्न प्राकृतों के सम्बन्धों के लिए द्रष्टव्य निबन्ध 'प्राकृत व्याकरणकारों'

3 Like Brajhasa in Northern India from the 15 th century downwards, Maharashtra became the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period

Origin and development of Bengali Language p 86

४ डा० सुनानिकुमार चाटुर्ग्या, आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १७७

विचारणीय है।¹ मध्य आर्यभाषा के प्रथम स्तर में स्वर मध्यम अथवा व्यञ्जनों का सञ्चोप रूप दिव्याई पढ़ता है, कालान्तर में सञ्चोप ध्वनियों उष्मीभूत ध्वनि की तरह उच्चरित होने लगीं और बाद में उच्चारण की कठिनाई के कारण ये लुप्त हो गईं। विद्वानों की धारणा है कि शुक्र ७ सुअ, शोक ७ सोअ, नदी ७ नई की विज्ञप्त स्थिति में एक अन्तर्वृत्ता अन्वस्था भी रही होगी। अर्थात् 'शुक्र' के सुअ होने के पहले शुग और सुग ये दो अन्वस्थायें भी रही होंगी। चाटुर्ग्या ने लिखा है कि इसमें एक निवृत्ति या टिलाई से उच्चरित अर्थात् उष्मीभूत उच्चारण 'व, ध' सामने आया। इस तरह उपर्युक्त शब्द शोक, रोग, नदी आदि एक अन्वस्था में 'सोव,' रोव' और 'नधी' हो गए थे। साहित्यिक प्राकृतों में शौरसेनी तथा मागधी में क, ए, त, थ की जगह एकावस्थित स्वर मध्यस्थ रूप में प्राप्त ग, घ (या ह) ट, ष के प्रयोगों का वैयाकरणों द्वारा उल्लेख मिलता है। परन्तु महाराष्ट्री प्राकृत में सभी एकक-स्थिति स्वरान्तरहित सर्ग (Inter vocal single stop) पहले से ही लुप्त या अभिनिहित पाये जाते हैं यह महाराष्ट्री के विकास की पश्चकालीन अन्वस्था का चोकर है। इसी तरह के और भी सप्रता सूचक और परवता विकास-व्यञ्जक अंशों के आधार पर मनमोहन घाँव ने महाराष्ट्री को शौरसेनी का परवता रूप सिद्ध करने का सफल प्रयत्न किया है। शूरसेन से यह भाषा दक्षिण ले जाई गई और वहाँ उसे स्थानीय प्राकृत ने अति न्यून प्रभाव में उपस्थित करके एक साहित्यिक भाषा का रूप दिया गया। इस प्रसंग में डा० चाटुर्ग्या ने हिन्दुरथानी को दक्षिण ले जाने और 'दकिनी' बनाने की घटनाका मजेदार उल्लेख किया है। इस प्रकार समूचे भारतवर्ष में पूरु के कुछ हिस्सों में प्रचलित मागधी को छोड़कर एक बार फिर सम्पूर्ण देश की भाषा का स्थान मध्य-देशीय शौरसेनी प्राकृत को प्राप्त हुआ। पूरु में भी इसका प्रभाव कम न था। सारखेल के क्षत्री गुफा के लेखों तक की भाषा में शौरसेनी के प्रभाव को विद्वाना ने स्वीकार किया है। सस्कृत वैयाकरणों में बुद्धे ने महाराष्ट्री के महत्त्व को स्वीकार किया है। किन्तु उनका निरीक्षण अवैज्ञानिक था जैसा ऊपर कहा गया। शौरसेनी का परवता रूप या महाराष्ट्री प्राकृत श्रुत कुछ कविता की भाषा कही जा सकती है। इसमें गद्य बहुत कम मिलता है या उसका एकदम अभाव है। शौरसेनी प्राकृत सस्कृत न जाननेवाले लोग विशेषतः स्त्रीगर्ग और असस्कृत परिवारों की बोलचाल की भाषा थी। इसमें प्रायः गद्य लिखा जाता था।² अब कि इमी का परवता रूप महाराष्ट्री केवल पद्य (Lyrics) की भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत गीता की भाषा थी जैसा की १५ वीं शती ने बाद ब्रजभाषा केवल काव्य की ही भाषा मानी जाती थी।³ प्राकृतों में मथुरा में मुख्य केन्द्रवाली शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक सौष्ठव एवं लालित्यपूर्ण प्राकृत या पश्चमव्ययुगीन भारतीय आर्य भाषा सिद्ध हुईं। जैसे देखा जाय तो शौरसेनी आधुनिक मथुरा की भाषा, हिन्दुस्थानी की वहन एवं विगतकाल की प्रतिस्वर्विनी ब्रजभाषा का ही एक प्राचीन रूप थी।⁴

1 It is rather hasty to assume that Marathi is the final descendant of the Maharashtra prakrit

Comparative Grammar of Modern Aryan Languages 1872 p 34

2 डा० हरिवल्लभ भायार्गी-बाग्यापार पृ० १२०-१३४, विभिन्न प्राकृतों के सम्बन्धों के लिए द्रष्टव्य निबन्ध 'प्राकृत वैयाकरणकारों'

3 Like Brajhasa in Northern India from the 15th century downwards, Maharashtra became the recognised dialect of lyrics in the Second MIA period

Origin and development of Bangali Language p 86

४ डा० सुनीलकुमार चाटुर्ग्या, आर्यभाषा और हिन्दी पृ० १७७

§ ३०. शौरसेनी प्राकृत के वैज्ञानिक और साधार व्याकरण तथा उसकी भाषिक विशेषताओं का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। प्राकृत व्याकरणकारों ने महाराष्ट्री के विवेचन के बाद केवल उन्हीं बातों का उल्लेख शौरसेनी के प्रसंग में किया है, जो महाराष्ट्री से भिन्न पड़ती थीं। इस प्रकार ये विशेषतायें शौरसेनी के मूल स्वरूप की नहीं, बल्कि साहित्यिक प्राकृत से उसकी असमानताओं की ओर सकेत करती हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चतुर्थ पाद के २६०-२८६ सूत्रों में शौरसेनी की विशेषतायें बताई हैं।

(क) संस्कृत शब्दों के त का द में तथा थ का घ में परिवर्तन (सूत्र २६०-२६२-२७३-२७६)।

(ख) य का यू में परिवर्तन, आर्यपुत्र > अम्यपुत्र।

(ग) भू घातु के रूपों में भ की सुरक्षा (२६६-२६६) भोदि, भवति, भुवदि आदि।

(घ) व्यञ्जानान्तस्वरो के कुछ निश्चित कारक रूप (२६३-२६५) कचुइया < कंचुकिन्, सुहिया < सुरिवन्, राय < रावन, विययन्मन् < विजयवर्मन्।

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया में संस्कृत 'त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दृण, उडुभ प्रत्यय लगते हैं (२७१-२७२) जैसे पटिय, पटिदूण, (√ पठ्)

कडुभ < √ कृ और गडुअ < √ गम्।

(च) भविष्यत्काल में 'सि' विभक्ति, हि, स्त, या इ नहीं (२७५)

(छ) दाणि, ता येव, ण, हीमाण हे, ह, जे, अम्महे, ही ही आदि क्रिया विशेषणों का प्रयोग (२७७-८५)

शौरसेनी की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम उस भाषा के रूप की कल्पना नहीं कर सकते। शौरसेनी का रूप वही था जो महाराष्ट्री प्राकृत का था, जैसा पहले कहा गया, इसलिए शौरसेनी की ये विभिन्नताएँ आपवादिक प्रयोगों पर आधारित हैं। मूल शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणिक स्वरूप प्रधान प्राकृत के भीतर ढूँढ़ा जा सकता है। हेमचन्द्र ने संस्कृत नाटककारों की विकृत और अतिकृत्रिम शौरसेनी को दृष्टि में रखकर ही ये विशेषतायें निर्धारित कीं। आजकल की तरह उस समय बोलियों के अध्ययन की न सुविधा थी और न तो स्थानीय जनता की बोली का क्षेत्र-कार्य (Field work) के द्वारा निरीक्षण ही संभव था। इसलिये प्राकृत के इन अपवाद-नियमों को मूल विशेषतायें समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक शौरसेनी की यत्न-प्राप्त रचनाओं की भाषा पर संस्कृत का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। यह एक कृत्रिम भाषा थी।

§ ३१. ईस्वी सन् की छठवीं शताब्दी के बाद, मध्यकालीन भाषा विकास के तीसरे स्तर में अपभ्रंशों का उदय हुआ। छान्दस से शौरसेनी प्राकृत तक के विकास के उपर्युक्त विवरण में भारत की अनार्य जातियों की भाषा के तत्वों का विवेचन नहीं किया गया है। भारत में विभिन्न भाषाओं की मिश्रण प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नहीं हो सका है। साहित्य में हम भाषाओं के जो आदर्श देखते हैं वे ऊपरी स्तर के तथा अव्यन्त कृत्रिम हैं। समाज में भाषाओं का विकास इतने सीधे ढंग से नहीं होता। प्राकृत भाषाओं में कितना तत्व अनार्य भाषाओं का है, यह अध्ययन और शोध का विषय है। अपभ्रंशों के विकास में भी अनार्य

§ ३०. शौरसेनी प्राकृत के वैज्ञानिक और साधार व्याकरण तथा उसकी भाषिक विशेषताओं का समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। प्राकृत व्याकरणकारों ने महाराष्ट्री के विवेचन के बाद केवल उन्हीं बातों का उल्लेख शौरसेनी के प्रसंग में किया है, जो महाराष्ट्री से भिन्न पड़ती थीं। इस प्रकार ये विशिष्टतायें शौरसेनी के मूल स्वरूप को नहीं, बल्कि साहित्यिक प्राकृत से उसकी असमानताओं की श्रंखला सकेत करती हैं। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के चतुर्थ पाद के २६०-२८६ सूत्रों में शौरसेनी की विशिष्टतायें बताई हैं।^१

(क) संस्कृत शब्दों के त का द में तथा थ का घ में परिवर्तन (सूत्र २६०-२६२-२७३-२७६)।

(ख) य का यू में परिवर्तन, आर्यपुन > अय्यपुत्त।

(ग) भू घातु के रूपों में म की सुरक्षा (२६६-२६६) मोदि, भवति, भुवि आदि।

(घ) व्यञ्जनान्तस्वरों के कुछ निश्चित कारक रूप (२६३-२६५) कचुइया < कंचुकिन्, सुइया < सुरिवन्, राय < राजन, विययग्मन् < विजयवग्मन्।

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया में संस्कृत 'त्वा' प्रत्यय के स्थान पर इय, दृण, उडुअ प्रत्यय लगते हैं (२७१-२७२) जैसे पटिय, पटिदूण, (✓पट्) कडुअ < ✓कु और गडुअ < ✓गम्।

(च) भविष्यत्काल में 'सिस्' विभक्ति, हि, स्स, या इ नहीं (२७५)

(छ) दाणि, ता यूवेव, ण, हीमाण हे, ह, जे, अग्महे, ही ही आदि क्रिया विशेषणों का प्रयोग (२७७-२८५)

शौरसेनी की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर हम उस भाषा के रूप की कल्पना नहीं कर सकते। शौरसेनी का रूप वही था जो महाराष्ट्री प्राकृत का था, जैसा पहले कहा गया, इसलिए शौरसेनी की ये विभिन्नताएँ आपवादिक प्रयोगों पर आधारित हैं। मूल शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणिक स्वरूप प्रधान प्राकृत के भीतर ढूँढा जा सकता है। हेमचन्द्र ने संस्कृत नाटककारों की विकृत और अतिकृत्रिम शौरसेनी को दृष्टि में रखकर ही ये विशेषतायें निर्धारित कीं। आजकल की तरह उस समय बोलियों के अध्ययन की न सुविधा थी और न तो स्थानीय जनता की बोली का क्षेत्र-कार्य (Field work) के द्वारा निरीक्षण ही संभव था। इसलिये प्राकृत के इन अपवाद-नियमों को मूल विशेषतायें समझने का भ्रम नहीं होना चाहिए। वस्तुतः साहित्यिक शौरसेनी की यत्र-तत्र प्राप्त रचनाओं को भाषा पर संस्कृत का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। यह एक कृत्रिम भाषा थी।

§ ३१. ईररी सन् की छठवीं शताब्दी के बाद, मध्यकालीन भाषा विकास के तीसरे स्तर में अपभ्रंशों का उदय हुआ। छान्दस से शौरसेनी प्राकृत तक के विकास के उपर्युक्त विवरण में भारत की अनार्य जातियों की भाषा के तत्वों का विवेचन नहीं किया गया है। भारत में विभिन्न भाषाओं की मिश्रण प्रक्रिया का समुचित अध्ययन नहीं हो सका है। साहित्य में हम भाषाओं के जो आदर्श देखते हैं वे ऊपरी स्तर के तथा अत्यन्त कृत्रिम हैं। समाज में भाषाओं का विकास इतने सीधे ढंग से नहीं होता। प्राकृत भाषाओं में कितना तत्व अनार्य भाषाओं का है, यह अध्ययन और शोध का विषय है। अपभ्रंशों के विकास में भी अनार्य

लगा । सामान्य वर्तमान के करउ, करहु, करहि, करह, करइ, करह आदि रूपों से करौ, करै, आदि ब्रज में सीधे विकसित होकर पहुँचे । लोट् (आचार्यक) में अ, इ, उ कारान्त रूप होते थे—करि, कर, कर आदि । ब्रज में करौ, करहु आदि 'कर' से बने रूप हैं । भविष्यत् में अपभ्रंश में स-और ह-दोनों प्रकार के रूप चलते थे किन्तु परिनिष्ठित अपभ्रंश में-ह-प्रकार की अधिकता थी करिहइ, करिहउ आदि । ब्रज में करिहै, करिहौं, हैहै आदि रूप चलते हैं । विधिलिंग के रूपों में इज्ज प्रत्यय लगता है । करिहइ > करिजे (ब्रज) भूतकाल के रूप वृद्धन्तज ये, किय, भगिय, हुअ, गय आदि । उकार बहुला भाषा में ये कियउ, हुयउ, गयउ हो जाते थे । ब्रज में कियौ, गयौ, मयौ आदि इसके रूपान्तर हैं । संयुक्त क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बढ रही थी, यह अपभ्रंश युग की क्रिया का एकदम नवीन विकास था । रडन्तउ जाइ, भग्गा एन्तु, भज्जिउ बन्ति आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति की सूचना देते हैं । ब्रज के 'चलत भयौ, आवतो भयो, आनि परयो' आदि में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ । पूर्वकालिक क्रियाओं में आठ प्रत्यय लगते थे इ, इवि, एवि, एविणु, एष्णिणु, आदि के प्रयोग होते थे किन्तु प्रधानता 'इ' की ही रही । ब्रज में यही प्रचलित हुआ । प्रेरणार्थक 'अव' प्रत्यय चोल्लावइ, पणउइ में दिखाई पडता है, यही ब्रजभाषा में भी प्रयुक्त होता है ।

७. अपभ्रंश ने देशज शब्दों और धातुओं के प्रचुर प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति प्रदान की । इन देसी प्रयोगों के कारण अपभ्रंश के भीतर एक ऐसी विशिष्टता आ गई जो प्राकृत में विलकुल नहीं थी । इसी देसी प्रयोग ने इस भाषा को नव्य भाषाओं की ओर उन्मुख किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा के विकास के पीछे सैकड़ों वर्षों तक की परम्परा छिपी है । इस परम्परा के विकास में आर्य, अनार्य, कोल, द्राविड और न जाने कितने प्रकार के प्रभाव घुले मिले हैं । आर्य भाषा को प्राचीन से नवीन तक विकसित होने में जितने सोपान पार करने पड़े हैं, जितने मोड़ लेने पड़े हैं, उन सबकी कुल्ल न कुल्ल निरोपता है, इन सबका सगुलित और आवश्यक दाय ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ, उनके निरन्तर विकासशील तत्त्व इस भाषा के ढाँचे में प्रतिष्ठित हुए । १००० ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी जन्मभूमि में ब्रजभाषा का उदय हुआ—उस समय उसके शिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परम्परा और अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों का ओज और बल ।

लगा । सामान्य वर्तमान के करउ, करहु, करदि, करह, करइ, करह आदि रूपों से करौ, करै, आदि ब्रज में सीधे विकसित होकर पहुँचे । लोट् (आशार्थक) में अ, इ, उ कारान्त रूप होते थे—करि, कर, करु आदि । ब्रज में करौ, करहु आदि 'करु' से बने रूप हैं । भविष्यत् में अपभ्रंश में स-और ह-दोनों प्रकार के रूप चलते थे किंतु परिनिष्ठित अपभ्रंश में-ह-प्रकार की अधिकता थी करिइइ, करिइउ आदि । ब्रज में करिहै, करिहौं, हैहै आदि रूप चलते हैं । विधिलिङ्ग के रूपों में इञ्ज प्रत्यय लगता है । करिजह > करीजे (ब्रज) भूतकाल के रूप वृदन्तज ये, किय, भणिय, हुअ, गय आदि । उकार बहुल भाषा में ये कियउ, हुयउ, गयउ हो जाते थे । ब्रज में कियौ, गयौ, भयौ आदि इसके रूपान्तर हैं । संयुक्त क्रिया बनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी, यह अपभ्रंश युग की क्रिया का एकदम नवीन विकास था । रडन्तउ जाइ, भग्ना एन्तु, भन्जिउ वन्ति आदि प्रयोग इस प्रवृत्ति की सूचना देते हैं । ब्रज के 'चलत भयौ, आवतो भयो, आनि परयो' आदि में इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ । पूर्वकालिक क्रियाओं में आठ प्रत्यय लगते थे इ, इवि, एवि, एविणु, एष्यिणु, आदि के प्रयोग होते थे किन्तु प्रधानता 'इ' की ही रही । ब्रज में यही प्रचलित हुआ । प्रेरणार्थक 'भव' प्रत्यय वोल्लावह, पणवइ में दिखाई पड़ता है, यही ब्रजभाषा में भी प्रयुक्त होता है ।

७. अपभ्रंश ने देशज शब्दों और धातुओं के प्रचुर प्रयोग से भाषा को एक नई शक्ति प्रदान की । इन देसी प्रयोगों के कारण अपभ्रंश के भीतर एक ऐसी विशिष्टता आ गई जो प्राकृत में विलुप्त नहीं थी । इसी देसी प्रयोग ने इस भाषा की नव्य भाषाओं की ओर उन्मुख किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा के विकास के पीछे सैकड़ों वर्षों तक की परम्परा छिपी है । इस परम्परा के विकास में आर्य, अनार्य, कोल, द्राविड और न जाने कितने प्रकार के प्रभाव घुले मिले हैं । आर्य भाषा को प्राचीन से नवीन तक विकसित होने में जितने सोपान पार करने पड़े हैं, जितने मोड़ लेने पड़े हैं, उन सबकी कुछ न कुछ निरोपता है, इन सबका सतुलित और आवश्यक दाय ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ, उनके निरन्तर विकासशील तत्त्व इस भाषा के ढोंचे में प्रतिष्ठित हुए । १००० ईस्वी के आस-पास शौरसेनी अपभ्रंश की अपनी जन्मभूमि में ब्रजभाषा का उदय हुआ—उस समय उसके शिर पर साहित्यिक अपभ्रंश की छाया थी और रक्त में शौरसेनी भाषाओं की परम्परा और अन्य सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्त्वों का ओज और बल ।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारों में परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी, बल्कि शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का वे राजभाषा के रूप में व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चित ही ब्रजभाषा की आरम्भिक अपभ्रंश की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं था, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्य देशी थीं।

§ ३६ इसलिए विकास सूचक इस यत्किंचित् अन्तर को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। श्री चाटुर्ण्य ने अपभ्रंश के अन्त का समय तो लगभग दसवीं शताब्दी का अन्त ही माना, किन्तु ब्रजभाषा का उदयकाल उन्होंने १५ वीं शती का उत्तरार्ध बताया। इस मान्यता के लिए हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते क्योंकि तब तक ब्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष में कोई ठोस आधार प्राप्त न था। ब्रजभाषा सूर के साथ शुरू होती थी। प्रथीराज रासो सन् १२५० की कृति कहा जाता था, किन्तु उसे जाली ग्रन्थ बतानेवालों की सरया निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यत्र-तत्र फुल्ल प्राप्त सामग्री को कोई अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था।

§ ३७ नव्य भाषाओं के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही ब्रजभाषा के लिए भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने में जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वहीं दूसरी ओर हर नई उदोपमान भाषा के लिए भयकर परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूल प्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव समालने में घरेलू बोली को भूल जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उनके लिए परिनिष्ठित और देशभाषा या जनपदीय में कोई खास अन्तर नहीं होता। ब्रजभाषा या हिन्दी के आरम्भ की ऐतिहासिक सूचना हमें निजामुद्दीन के तबकत-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखकों की कृतियों में मिलती है। कालिबर के हिन्दू भरोश ने बिना हौदे और महावत के हाथियों को सरलता से पकड़ने और उनपर सवारी करनेवाले तुकों की प्रशंसा में कुछ पद्य हिन्दी भाषा में लिखे थे जिने महमूद गजनवी ने अपने दरबार के हिन्दू विद्वानों को दिखाया। केमिन्न हिस्ट्री के लेखक के मुताबिक महोबा के कवि नन्द की कविता ने महमूदकी प्रभावित किया था।^१ खुसरो ने मसजद इन्न साद के हिन्दी दावान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार में था। जिसने ११२५-११३० ईस्वी के बीच शासन किया।^२ इन प्रमाणों में संकलित भाषा को १०^० सुनीतिबुमार चाटुर्ण्य शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं—किन्तु हिन्दी से अपभ्रंश का अर्थ खोजना उचित नहीं जान पड़ता। शौरसेनी अपभ्रंश से मिल भाषा बोलनेवाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उदय और विकास के अध्ययन के लिए तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखनेवाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अपनी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रमाणों के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ

१. केमिन्न हिस्ट्री भाव इंडिया, भाग ३ पृ० २

२. प्रो० हेमचन्द्रराय ८ वीं ओरियन्टल कॉन्फरेन्स का विवरण—मैसूर १९३५
'भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ'

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजपूत दरबारों में परिनिष्ठित अपभ्रंश को उसी रूप में मान्यता प्राप्त नहीं थी, बल्कि शौरसेनी के परवर्ती विकसित रूप का वे राजभाषा के रूप में व्यवहार करते थे। यह भाषा निश्चित ही ब्रजभाषा की आरम्भिक अवस्था की सूचना देती है। शौरसेनी अपभ्रंश के आधार पर निर्मित परिनिष्ठित अपभ्रंश और इस परवर्ती विकसित भाषा में बहुत अधिक अन्तर नहीं था, क्योंकि दोनों की मूल प्रवृत्तियाँ, शौरसेनी या मध्य देशी थीं।

§ ३६ इसलिए विकास सूचक इस यत्किंचित् अन्तर को भी समझने का प्रयत्न नहीं किया गया। श्री चाटुर्ज्या ने अपभ्रंश के अन्त का समय तो लगभग दसवीं शताब्दी का अन्त ही माना, किन्तु ब्रजभाषा का उदयकाल उन्होंने १५ वीं शती का उत्तरार्ध बताया। इस मान्यता के लिए हम उन्हें दोषी भी नहीं ठहरा सकते क्योंकि तब तक ब्रजभाषा के उदयकाल को और पीछे लाने के पक्ष में कोई ठोस आधार प्राप्त न था। ब्रजभाषा सूर के समय शुरू होती थी। प्रष्ठीराज रासो सन् १२५० की कृति कहा जाता था, किन्तु उसे जाली ग्रन्थ बतानेवालों की सरया निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यन्त्र-कल प्राप्त सामग्री को फाई अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता था।

§ ३७ नव्य भाषाओं के उदय का जो काल निर्धारित किया जाता है, वही ब्रजभाषा के लिए भी लागू होता है। मध्यदेश की भाषा होने में जहाँ एक ओर गौरव और प्रतिष्ठा मिलती है वहीं दूसरी ओर हर नई उदीयमान भाषा के लिए भयकर परीक्षा भी देनी होती है। परिनिष्ठित भाषा के मूल प्रदेश के लोग राष्ट्रभाषा का गौरव समालने में घरेलू बोली को भूल जाते हैं तो कोई आश्चर्य नहीं। क्योंकि उनके लिए परिनिष्ठित और देशभाषा या जनपदीय में कोई खास अन्तर नहीं होता। ब्रजभाषा या हिन्दी के आरम्भ की ऐतिहासिक सूचना हमें निजामुद्दीन के तबकत-ए-अकबरी तथा दो अन्य लेखकों की कृतियों में मिलती है। कालिबर के हिन्दू नरेश ने बिना हौदे और महावत के हाथियों को सरलता से पकड़ने और उनपर सवारी करनेवाले तुकों की प्रशंसा में कुछ पद्य हिन्दी भाषा में लिखे थे जिसे महमूद गजनवी ने अपने दरबार के हिन्दू विद्वानों को दिखाया। केम्ब्रिज हिस्ट्री के लेखक के मुताबिक महोबा के कवि नन्द की कविता ने महमूदकी प्रभावित किया था।^१ खुसरो ने मसजद इब्न साद के हिन्दी दावान का उल्लेख किया है। यह लेखक महमूद के पौत्र इब्राहिम के दरबार में था। जिसने ११२५-११३० ईस्वी के बीच शासन किया।^२ इन प्रमाणों में संकलित भाषा को डा० सुनीलकुमार चाटुर्ज्या शौरसेनी अपभ्रंश ही अनुमानित करते हैं—किन्तु हिन्दी से अपभ्रंश का अर्थ खोजना उचित नहीं जान पड़ता। शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलनेवाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उदय और विकास के अध्ययन के लिए तो तब तक कठिनाई बनी रहती है, जब तक उस जनपदीय अपभ्रंश में लिखी कोई रचना उपलब्ध न हो। परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखनेवाले जनपदीय या प्रादेशिक लेखक भी अग्रणी बोली का कुछ न कुछ प्रभाव तो लाते ही थे, इन प्रभावों के आधार पर भी, उस बोली के स्वरूप का कुछ

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग ३ पृ० २

२. प्रो० हेमचन्द्रराय ए वी ओरियण्टल कॉन्फरेंस का विवरण—मैसूर १९३५
'भारत में हिन्दुस्तानी कविता का आरम्भ'

तत्वों के अन्वेषण के लिए यही बाद की अपभ्रंश ही महत्वपूर्ण है। इस बाद की अपभ्रंश में भी सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण इतिर्वाँवे हो सकती हैं, जो शौरसेनी अपभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गई हैं। अभाष्यवश इस तरह की और इस काल को कोई प्रामाणिक इति, जो मध्यदेश में लिखी गई हो, प्राप्त नहीं होती। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से प्लत मध्यदेश में हल्लेलों की सुरक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मध्यदेश की अपभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनी, किन्तु मध्यदेश में क्या लिखा गया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

§ ४०. संस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के साथ-साथ अपभ्रंश का उल्लेख किया है रामरामन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का काफी अच्छा निवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु अपभ्रंश का जैसा मुन्दर और विपद् विवरण हेमचन्द्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं जाता। हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग की समस्त बड़ी विशेषता नियमों के उदाहरण रूप में उद्धृत अपभ्रंश के दोहे हैं जिनके चयन और संकलन में हेमचन्द्र की अद्वितीय काव्य मर्मज्ञता और तत्त्वसाहिणी प्रतिभा का पता चलता है 'वीला ब्रीनने वालों की तरह वह (हेमचन्द्र) सीला ब्रीनने वाला न था। हेमचन्द्र का पहला मद्द्त है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोक उपयोगी अंश को अपने ढर में बदलकर ही वह सन्तुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो 'आग' देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया—उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ-साथ उत्तका मट्टि भी है।' हेम व्याकरण में संकलित अपभ्रंश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

§ ४१. हेमचन्द्र के इस अपभ्रंश को विद्वानों ने शौरसेनी अपभ्रंश कहा है। डा० एल० पी० तेल्लीतोरि ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अपभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ४।३२६-४४६ सूत्रों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी (संवत् ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचन्द्रवर्णित शौरसेनी अपभ्रंश की पूर्वतों सीमा १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं। तेल्लीतोरि ने हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों को शौरसेनी अपभ्रंश क्यों मान लिया, इसके बारे में कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। संभवतः उन्होंने यह नाम जार्ज प्रियर्सन के भाषा सर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डा० प्रियर्सन ने मध्यदेशीय अपभ्रंश को नागर अपभ्रंश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा उन्होंने यह भी कहा कि इस नागर अपभ्रंश का गौर्जर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आगे डा० प्रियर्सन ने बताया कि हेमचन्द्र के व्याकरणका अपभ्रंश 'नागर' था। इस प्रकार मार्कण्डेय के नागर उपनागर और ब्राह्मण बाले विभाजन को आधार मानकर प्रियर्सन ने भारतीय नय भाषाओं को जो सन्तुहीकरण किया वह बहुत कुछ Hypothetical है। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है कि

तत्त्वों के अन्वेषण के लिए यही बाद की अभ्रंश ही महत्त्वपूर्ण है। इस बाद की अभ्रंश में भी सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण कृतियों के हो सकती हैं, जो शौरसेनी अभ्रंश के निजी क्षेत्र में लिखी गई हों। अभाग्यवश इस तरह की शौर इस काल को कोई प्रामाणिक कृति, जो मध्यदेश में लिखी गई हो, प्राप्त नहीं होती। मुसलमानों के निरन्तर आक्रमण से पश्चिम मध्यदेश में हस्तलेखों का सुरक्षा का कोई प्रयत्न नहीं हुआ। मध्यदेश की अभ्रंश भाषा सारे भारत की भाषा बनी, किन्तु मध्यदेश में क्या जिला गया, इसका कुछ भी पता नहीं चलता।

§ ४०. संस्कृत तथा प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के साथ-साथ अभ्रंश का उल्लेख किया है रामशर्मन्, मार्कण्डेय, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि वैयाकरणों ने प्राकृत का काफी अच्छा निवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु अभ्रंश का जैसा सुन्दर और विपद् विवरण हेमचन्द्र ने उपस्थित किया, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं जाता। हेम व्याकरण के अभ्रंश भाग की सबसे बड़ी विशेषता नियमों के उदाहरण रूप में उद्धृत अभ्रंश के दोहे हैं जिनके चयन और संकलन में हेमचन्द्र की अद्वितीय काव्य मर्मज्ञता और तत्त्वप्राहिणी प्रतिभा का पता चलता है 'लीला ब्रीनेने वालों की तरह वह (हेमचन्द्र) सीमा ब्रीनेने वाच्य न था। हेमचन्द्र का पहला महत्त्व है कि और वैयाकरणों की तरह केवल पाणिनि के व्याकरण के लोके उपयोगी अंश को अपने दबर् में बदलकर ही वह सन्तुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो 'आग' देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बना गया—उसने एक बड़े भारी साहित्य के नमूने जीवित रखे, जो उसके ऐसा न करने से नष्ट हो जाते, वह अपने व्याकरण का पाणिनि और भट्टोजी दीक्षित होने के साथ-साथ उत्तका भट्टि भी है।' हेम व्याकरण में संकलित अभ्रंश के ये नमूने इस भाषा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमाणभूत सामग्री समझे जाते हैं।

§ ४१. हेमचन्द्र के इस अभ्रंश को विद्वानों ने शौरसेनी अभ्रंश कहा है। डा० एल० पी० तेल्लीतोरि ने स्पष्ट लिखा है कि शौरसेनी अभ्रंश के बारे में अब तक हमारी जानकारी मुख्यतः हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण ४।३२६-४४६ श्लोकों के उदाहरणों और नियमों पर आधारित है। हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी (संवत् ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अभ्रंश का परिचय दिया है, वह उनसे पहले की है इसलिए इस प्रमाण के आधार पर हम हेमचन्द्रवर्गित शौरसेनी अभ्रंश की पूर्वियों सीमा १० वीं शताब्दी ईस्वी तक रख सकते हैं।' तेल्लीतोरि ने हेमचन्द्र के व्याकरण के दोहों को शौरसेनी अभ्रंश क्यों मान लिया, इसके बारे में कोई स्पष्ट पता नहीं चलता। संभवतः उन्होंने यह नाम जार्ज प्रियर्सन के भाषा सर्वे में व्यक्त मत के आधार पर ही स्वीकार किया था। डा० प्रियर्सन ने मध्यदेशीय अभ्रंश को नागर अभ्रंश बताया जिसका एक रूप शौरसेनी कहा उन्होंने यह भी कहा कि इस नागर अभ्रंश का गौर्जर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आगे डा० प्रियर्सन ने बताया कि हेमचन्द्र के व्याकरणका अभ्रंश 'नागर' या। इस प्रकार मार्कण्डेय के नागर उपनागर और आच्छ वाले विभाजन को आधार मानकर प्रियर्सन ने भारतीय नव भाषाओं को जो सन्तुष्टि-करण किया वह बहुत कुछ Hypothetical है। यहाँ उनके इसी कथन से मतलब है कि

को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनसे तर्क इस प्रकार है। मार्कण्डेय ने २७ अपभ्रंशों के नाम गिनाये हैं। उसमें एक का सम्बन्ध गुजरात से है। भोज के सरस्वती कटाभरण में 'अपभ्रंशेन तुष्यति स्वेन नान्येन गौर्जरा' की जो हुंकार सुनाई पड़ती है, वह किसी न किसी हेतु से ही, इसमें बिसे शका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नहीं रखते। साहित्यिक या (standard) अपभ्रंश में बहुत सी बातें प्रान्तीय हैं, कुछ विशेषतायें व्यापक भी हैं। किन्तु प्रान्तीय विशेषताओं पर ध्यान देने पर शास्त्री जी के मत से 'एत्ले आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने तेनी प्रान्तीय लाक्षणिकताये गौर्जर अपभ्रंश कहेवा माँ मने वाध जणातो न थी। ब्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का 'वैलप' (विलय के अर्थ में शायद) भी कारण रहा है। शास्त्री जी के मत से वस्तुतः यदि ब्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रंश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रंश' कहना चाहिए। यह आभीर अपभ्रंश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना वैयाकरणा का कहना है। हेमचन्द्र की अपभ्रंश का शौरसेनी कहने वालों पर राय प्रकट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नी छ्वाँ आ० हेमचन्द्र ना अपभ्रंश मा जोई छे। डा० जाकोबी, पीशल, सर प्रियर्सन, डा० सुनीतिजुमार चाडुव्या, डा० गुणे वगेरे निद्वानों पण जोई आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने शौरसेनी अपभ्रंश कहेवा ल्हाय छे। इससे बाद हेमचन्द्र की बताई शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशिष्टताओं का प्रभाव अपभ्रंश में न देखकर शास्त्री जी इसकी शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते हैं।

§ ४३ मुझे शास्त्री जी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नहीं कहना है क्योंकि ये तर्क स्वतोव्याघात दाप से पीडित हैं। मैं स्वयं शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रंश मानने के पक्ष में हूँ। किन्तु उस गुर्जर अपभ्रंश का विकास ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पड़ता। गुजरात के लेखकों की लिखी अपभ्रंश रचनाओं में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है, यदि यह रग गाढ़ा हा, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हा, तो उसे निश्चित ही गुजराती का पूर्ण रूप मानना चाहिए किन्तु यह विशिष्टता १२वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में ही दिखाई पड़ सकती है। पहले की रचनायें चाहे गुजरात में लिखी हाँ चाहे जगल में यदि उनमें शौरसेनी की प्राधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जायेगा, किन्तु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भरतेश्वर वाहुवलिरास' (स० १२४१) को गौर्जर अपभ्रंश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योंकि उसमें गुजराती के पूर्वरूप का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है।

§ ४४ अपभ्रंश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रंश साहित्य को जा लोग शौरसेनी या उसपर आधृत परिनिष्ठित अपभ्रंश का बताते हैं वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्म प्रकाश की भूमिका में डा० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वा' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति संबंधी छोटे माटे मेंदों को भुलाकर भी हेमचन्द्र की अपभ्रंश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं चलता। इससे सिधा हेमचन्द्र की अपभ्रंश की और भी बहुत सी बातें परमात्म प्रकाश में नहीं पाई जाती।' सोमप्रभ के

को गौर्जर सिद्ध करके रहेंगे। उनसे तर्क इस प्रकार है। मार्कण्डेय ने २७ अपभ्रंशों के नाम गिनाये हैं। उसमें एक का सम्बन्ध गुजरात से है। भोज के सरस्वती वडाभरण में 'अपभ्रंशेन तुष्यति स्वेन नान्येन गौर्जरा' की जो हुकार सुनाई पडती है, वह किमी न किसी हेतु से ही, इसमें बिसे शका हो सकती है। महाराष्ट्री और शौरसेन आदि नाम कोई खास महत्त्व नहीं रखते। साहित्यिक या (standard) अपभ्रंश में बहुत सी बातें प्रान्तीय हैं, कुछ विशेषतायें व्यापक भी हैं। किन्तु प्रान्तीय विशेषताओं पर ध्यान देने पर शास्त्री जी के मत से 'एले आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने तेनी प्रान्तीय लाक्षणिकताये गौर्जर अपभ्रंश कहेवा मा मने वाध जणातो न थी। ब्रजभाषा और गुजरात में बहुत निकट का सम्बन्ध स्थापित कराने में आभीर और गुर्जर लोगों का 'फैलाव' (विलखव के अर्थ में शायद) भी कारण रहा है। शास्त्री जी के मत से वस्तुतः यदि ब्रजभाषा के विकास के लिए किसी क्षेत्रीय अपभ्रंश का नाम लेना हो, तो उसे 'आभीरी अपभ्रंश' कहना चाहिए। यह आभीर अपभ्रंश मध्यदेश का था ऐसा 'जूना वैयाकरणा' का कहना है। हेमचन्द्र की अपभ्रंश का शौरसेनी कहने वालों पर राय प्रकट करते हुए शास्त्री जी लिखते हैं 'श्री उपाध्ये शौरसेनी नी छ्वा' आ० हेमचन्द्र ना अपभ्रंश मा जोई छे। डा० बाकोबी, पीशल, सर प्रियर्सन, डा० मुनीतिजुमार चाडुव्या, डा० गुणे वगेरे विद्वानों पण जोई आ० हेमचन्द्रना अपभ्रंश ने शौरसेनी अपभ्रंश कहेवा लच्छाय छे। इससे बाद हेमचन्द्र की बतलाई शौरसेनी प्राकृत की आपवादिक विशिष्टताओं का प्रभाव अपभ्रंश में न देखकर शास्त्री जी इसकी शौरसेनी से भिन्नता का निर्णय दे देते हैं।

§ ४३ मुझे शास्त्री जी के तर्कों पर विस्तार से कुछ नहीं कहना है क्योंकि ये तर्क स्वतोव्याघात दाप से पीडित हैं। मैं स्वयं शौरसेनी से भिन्न एक अलग गुर्जर अपभ्रंश मानने के पक्ष में हूँ। किन्तु उस गुर्जर अपभ्रंश का विकास ईस्वी सन् की दसवीं शताब्दी तक दिखाई नहीं पडता। गुजरात के लेखकों की लिखी अपभ्रंश रचनाओं में निश्चित ही पुरानी गुजराती की छाप मिल सकती है, यदि यह रंग गाढ़ा हो, यदि उसमें गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों, तो उसे मिश्रित ही गुजराती का पूर्ण रूप मानना चाहिए किन्तु यह विशिष्टता १२वीं शताब्दी के बाद की रचनाओं में ही दिखाई पड सकती है। पहले की रचनायें चाहे गुजरात में लिखी हों चाहे अगल में यदि उनमें शौरसेनी की प्राधानता है तो उसे शौरसेनी ही कहा जायेगा, किन्तु कोई भी भाषा का विद्यार्थी 'भरतेश्वर वाहुवलिपास' (सं० १२४१) को गौर्जर अपभ्रंश कहे जाने पर आपत्ति न करेगा क्योंकि उसमें गुजराती के पूर्वरूप का धार प्रभाव दिखाई पडता है।

§ ४४ अपभ्रंश भाषा में लिखे समूचे अपभ्रंश साहित्य को जा लोग शौरसेनी या उसपर आधृत परिनिष्ठित अपभ्रंश ना बताते हैं वे भी एक प्रकार के अतिवाद के शिकार हैं। परमात्म प्रकाश की भूमिका में डा० उपाध्ये ने 'भाषिक तत्त्वा' के आधार पर कहा कि स्वर और विभक्ति संबंधी छोटे माटे मैदों को भुलाकर भी हेमचन्द्र की अपभ्रंश का आधार शौरसेनी का परमात्मप्रकाश में पता भी नहीं चलता। इससे सिवा हेमचन्द्र की अपभ्रंश की और भी बहुत सी बातें परमात्म प्रकाश में नहीं पाई जाती।' सोमप्रभ के

शौरसेनी प्राकृत) अन्यन्तर व्यंजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुँच चुकी थी।^१ इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की कड़ी हेमचन्द्र के 'प्राकृत' में दिखाई पड़ती है। अतः अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर भी हेमचन्द्र की अपभ्रंश शौरसेनी ही साबित होती है।

§ ४६. इस प्रसंग में गुजरात और मध्यदेश की सांस्कृतिक एकता तथा संपर्कता पर भी विचार होना चाहिए। केवल हेमचन्द्र के अपभ्रंश को शौरसेनी समझने के लिए ही इस 'एकता' पर विचार अनिवार्य नहीं बल्कि मजभाषा के परवर्ती विकास में सहायक और भी बहुत सी सामग्री गुजरात में मिलती है, जिस पर भी इस तरह का स्थान सम्बन्धी विवाद हो सकता है। इस प्रकार की सामग्री के सरक्षण और सुबन का श्रेय निःसंकोच भाव से गुजरात को देना चाहिए, साथ ही इन समता और एकता-सूचक सामग्री के मूल में स्थित सांस्कृतिक सम्पर्कों का सर्वेक्षण भी हमारा कर्तव्य हो जाता है। जार्ज प्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशी अथवा अन्तर्वर्ती समूह की भाषा कहा था। इतना ही नहीं इस समता के पीछे प्रियर्सन ने कुछ ऐतिहासिक कारण भी दूँदे थे जिनके आधार पर उन्होंने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा।^२ डा० धीरेन्द्र वर्मा राजस्थान और गुजरात पर गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव को दृष्टि में रखकर लिखते हैं 'भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है।'^३ इन वक्तव्यों में प्रयुक्त उपनिवेश शब्द का अर्थ वर्तमान प्रचलित उपनिवेश से भिन्न समझना चाहिए। सुदूर अतीत में मध्यदेश के लोगों के अपने निवास-स्थान छोड़कर गुजरात में जाकर बसने का संज्ञेत मिलता है। महाभारत में कृष्ण के यादव कुल के साथ मथुरा छोड़कर द्वापवती (वर्तमान द्वारिका) बस जाने का उल्लेख हुआ है।^४ महाभारत के रचनाकाल को बहुत पीछे न भी मानें तो भी यह प्रमाण ईस्वी सन् के आरम्भ का तो कहा ही जा सकता है। ऊपर श्री के० का० शास्त्री द्वारा आभीरों और गुर्जरो के पैलाव को भी निकटता-सूचक एक कारण मानने की बात कही जा चुकी है। वस्तुतः आभीरों का दल उत्तर पश्चिम से आकर पहले मध्यदेश में आबाद हुआ, वहाँ से पश्चिम और पूरव की ओर बिलखने लगा। गुजरात में आभीरों का प्रभाव इन मध्यदेशीय आभीरों ने ही स्थापित किया। अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों से बहुत निकट का था, संभवतः ये अनार्य जाति के लंग थे जो संस्कृत नहीं जानते थे, इसलिए इन्होंने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से भी प्रभावित किया। शासन पर अधिकार करने के बाद इनने द्वारा स्वीकृत और मिश्रित यह भाषा अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुई। आभीरों के पहले एक दूसरी विदेशी जाति अर्थात् शकों ने उत्तर-भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार किया था। ये बाद में हिन्दू हो गए थे। महाप्रतापी शकों का शासन भारत के एक बहुत बड़े भाग पर स्थापित था और इतिहासकारों का मत है कि ये दो तीन शाखाओं में विभक्त

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृ० १७७

२. आतन्द्र साइन हन्डो आर्यन वर्ताइयूल्स, § १२

३. मजभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५४ पृ० ३

४. मथुरा संपरित्यज्य गता द्वारावर्तापुरीम् (महाभारत २। १३। ५६)

शौरसेनी प्राकृत) अन्यन्तर व्यंजनों के लोप के साथ अपनी द्वितीय म० भा० आ० अवस्था तक पहुँच चुकी थी।^१ इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की कड़ी हेमचन्द्र के 'प्राकृत' में दिखाई पड़ती है। अतः अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर भी हेमचन्द्र को अपभ्रंश शौरसेनी ही साबित होती है।

§ ४६. इस प्रसंग में गुजरात और मध्यदेश की सांस्कृतिक एकता तथा संपर्कता पर भी विचार होना चाहिए। केवल हेमचन्द्र के अपभ्रंश को शौरसेनी समझने के लिए ही इस 'एकता' पर विचार अनिवार्य नहीं बल्कि वज्रभाषा के परवर्ती विकास में सहायक और भी बहुत सी सामग्री गुजरात में मिलती है, जिस पर भी इस तरह का स्थान सम्बन्धी विवाद हो सकता है। इस प्रकार की सामग्री के सरक्षण और खोज का श्रेय निःसंकोच भाव से गुजरात को देना चाहिए, साथ ही इन समता और एकता-सूचक सामग्री के मूल में स्थित सांस्कृतिक सम्पर्कों का सर्वेक्षण भी हमारा कर्तव्य हो जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने गुजराती को मध्यदेशी अथवा अन्तर्वर्ती समूह की भाषा कहा था। इतना ही नहीं इस समता के पीछे ग्रियर्सन ने कुछ ऐतिहासिक कारण भी दूँदे थे जिनके आधार पर उन्होंने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा।^२ डा० पीरेन्द्र वर्मा राजस्थान और गुजरात पर गंगा की घाटी की संस्कृति के प्रभाव को दृष्टि में रखकर लिखते हैं 'भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिए गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है, इसलिए बहुत प्राचीन काल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है।'^३ इन वक्तव्यों में प्रयुक्त उपनिवेश शब्द का अर्थ वर्तमान प्रचलित उपनिवेश से भिन्न समझना चाहिए। सुदूर अतीत में मध्यदेश के लोगों के अपने निवास-स्थान छोड़कर गुजरात में जाकर बसने का सनेत मिलता है। महाभारत में कृष्ण के यादव कुल के साथ मथुरा छोड़कर द्वापयती (वर्तमान द्वारिका) बस जाने का उल्लेख हुआ है।^४ महाभारत के रचनाकाल को बहुत पीछे न भी मानें तो भी यह प्रमाण ईस्वी सन् के आरम्भ का तो कहा ही जा सकता है। ऊपर श्री के० का० शास्त्री द्वारा आभीरों और गुर्जरो के पैलाव को भी निरूपता-सूचक एक कारण मानने की बात कही जा चुकी है। यस्तुतः आभीरों का दल उत्तर पश्चिम से आकर पहले मध्यदेश में आवाद हुआ, वहाँ से पश्चिम और पूरव की ओर बिलखने लगा। गुजरात में आभीरों का प्रभाव इन मध्यदेशीय आभीरों ने ही स्थापित किया। अपभ्रंश का सम्बन्ध आभीरों से बहुत निकट था, संभवतः ये अनार्य जाति के लैंग थे जो संस्कृत नहीं जानते थे, इसलिए इन्होंने मध्यदेश की जनभाषा को सीखा और उसे अपनी भाषा से भी प्रभावित किया। शासन पर अधिकार करने के बाद इनके द्वारा स्वीकृत और मिश्रित यह भाषा अपभ्रंश के नाम से प्रचलित हुई। आभीरों के पहले एक दूसरी विदेशी जाति अर्थात् शकों ने उत्तर-भारत के एक बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार किया था। वे बाद में हिन्दू हो गए थे। महाप्रतापी शकों का शासन भारत के एक बहुत बड़े भाग पर स्थापित था और इतिहासकारों का मत है कि ये दो तीन शाखाओं में विभक्त

१. भारतीय भाषा और हिन्दी पृ० १७७

२. आनन्द माडन इन्डो आर्यन वर्नाक्यूलर्स, § १२

३. वज्रभाषा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५४ पृ० ३

४. मथुरा संपरिचय्य गता द्वारावतीपुरीम् (महाभारत २। १२। ५६)

दृढतर हो गया। इसी कारण गुजरात की प्रारम्भिक रचनाओं और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत साम्य है। ब्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पड़ा। बल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का प्रभाव-क्षेत्र गुजरात ही रहा। श्री विठ्ठल नाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की यात्रा की और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। भालण, नरसी, केशव दास आदि कवियों की भाषा पर न केवल ब्रज का प्रभाव है बल्कि उन्होंने ने तो ब्रजभाषा के कुछ फुटकल पद्य भी लिखे।^१

§ ४८. हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा को हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं। हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश रचनाओं में १४१ पूर्ण दोहे, ४ दोहों के अर्धपाद और बाकी भिन्न भिन्न १७ छंदों में २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं। ये रचनाएँ कहाँ कहाँ से ली गईं इसका पूरा पता नहीं चलता। हेमचन्द्राकरण के अपभ्रंश दोहे कहाँ से संकलित किये गए, इनके मूल स्रोत क्या है, आदि प्रश्न उठते हैं। अब तक इन दोहों में से सभी का उद्गम-स्रोत शत नहीं हो सका है। इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में संकलित मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिबोध एक कथा-प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें भिन्न भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और निजंघरी कथाएँ संकलित की गईं हैं। कुमारपाल प्रतिबोध की रचना 'शशिजलधिसूर्यवर्षे' अर्थात् सम्वत् १२४१ के आषाढ़ सुदी अष्टमी रविवार को अनहिलवाड़े में श्री सोमप्रभ सूरि ने की, यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के बाद ही का है और इसमें हेमचन्द्र सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथातथ्य मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के सन्देशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है—

जड पवसन्ते सडु न गव न मुभ विभोएँ तस्तु
लज्जिजड सदेसडा दितेहि सुहय स जणस्त
[हेम० व्या० पा१।४।१६]

जसु पवसंत ण पवसिया सुभए विभोइ ण जासु
लज्जिजडं सदेसडड दिन्ता पहिभ वियासु
[सं० रा० ७२]

सदेस रासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टतया परधता प्रतीत होता है, यही नहीं किंचित् परिवर्तनों को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचन्द्र से नहीं किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था। संभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी संभावना बहुत उचित नहीं मालूम होती क्योंकि अद्दहमाण का समय अधिक पीछे ले जाने पर भी १२वीं १३वीं शती के पहले नहीं पहुँचता, यदि हेमचन्द्र का समसामयिक भी

१. श्री के० का० शास्त्री कृत भालण, कवि चरित भाग १

२. कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ सीरीज नं० १४ मुनि जिनचिजय द्वारा सम्पादित

दृढतर हो गया। इसी कारण गुजरात की प्रारम्भिक रचनाओं और शौरसेनी अपभ्रंश में बहुत साम्य है। ब्रजभाषा का प्रभाव भी गुजरात पर कम न पड़ा। बल्लभाचार्य के ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ का प्रभाव-क्षेत्र गुजरात ही रहा। श्री विठ्ठल नाथ ने भी एकाधिक बार गुजरात की यात्रा की और वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। भालण, नरसी, केशव दास आदि कवियों की भाषा पर न केवल ब्रज का प्रभाव है बल्कि उन्होंने ने तो ब्रजभाषा के कुछ गुणकल पद्य भी लिखे।^१

§ ४८. हेमचन्द्र के शौरसेनी अपभ्रंश के उदाहरणों की भाषा की हम ब्रजभाषा की पूर्वपीठिका मानते हैं। हेमचन्द्र के द्वारा संकलित अपभ्रंश रचनाओं में १४१ पूर्ण दोहे, ४ दोहों के अर्धपाद और बाकी भिन्न भिन्न १७ छंदों में २४ पूर्ण और १० अपूर्ण श्लोक (पद्य) मिलते हैं। ये रचनाएँ कहीं कहीं से ली गईं इसका पूरा पता नहीं चलता। हेमचन्द्र के अर्धपाद दोहे कहा से संकलित किये गए, इनके मूल स्रोत क्या है, आदि प्रश्न उठते हैं? अब तक इन दोहों में से सभी का उद्गम-स्रोत ज्ञात नहीं हो सका है। इनमें से कुछ दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में संकलित मिलते हैं। कुमारपाल प्रतिबोध एक कथा-प्रबन्ध ग्रन्थ है जिसमें भिन्न भिन्न काल की ऐतिहासिक लौकिक और निजंघरी कथाएँ संकलित की गईं हैं। कुमारपाल प्रतिबोध^२ की रचना 'शशिजलधिसूर्यवर्षे' अर्थात् सम्वत् १२४१ के आषाढ़ सुदी अष्टमी रविवार को अनहिलनादे में श्री सोमप्रभ सूरि ने की, यह ग्रन्थ हेमचन्द्र के बाद ही का है और इसमें हेमचन्द्र सम्बन्धी विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत कुछ यथाव्यय मालूम होते हैं, इसमें सोमप्रभ के कुछ अपभ्रंश दोहे भी हैं जो परवर्ती अपभ्रंश को समझने में सहायक हो सकते हैं। हेमचन्द्र के व्याकरण का एक दोहा कवि अद्दहमाण के सन्देशरासक के एक दोहे से एकदम मिलता है—

जउ पवसन्ते सडु न गय न सुभ विओएँ तस्सु
रुज्जिजउ सदेसडा द्वितेहिं सुहय स जणरस
[ह्रम० व्या० ८।१।४१६]

जसु पवसंत ण पवसिया सुभए विओइ ण जासु
रुज्जिजउं संदेसइउ दिन्ती पहिअ पियासु
[सं० १।० ७२]

सदेस रासक का यह दोहा न केवल रचनाकाल की दृष्टि से भी बल्कि भाषा की दृष्टि से भी स्पष्टता परवर्ती प्रतीत होता है, यही नहीं किंचित् परिवर्तनो को देखते हुए प्रतीत होता है कि यह दोहा अद्दहमाण ने हेमचन्द्र से नहीं किसी दूसरे स्रोत से प्राप्त किया था। संभव है कि यह अद्दहमाण का निर्मित भी हो, किन्तु हेमचन्द्र के व्याकरण के रचनाकाल को देखते हुए, ऐसी संभावना बहुत उचित नहीं मालूम होती क्योंकि अद्दहमाण का समय अधिक पीछे ले जाने पर भी १२वीं १३वीं शती के पहले नहीं पहुँचता, यदि हेमचन्द्र का समसामयिक भी

१. श्री के० का० शास्त्री कृत भालण, कवि चरित भाग १

२. कुमारपाल प्रतिबोध, गायकवाड़ सीरीज नं० १४ मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित

की गायार्थे उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गई होगी। शत्रु-भगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गवायें, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में परक नहीं आने दिया। इस प्रकार के जीवन्त प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियों और लेखकों ने उसकी प्रेम-गाथा को भाषा-बद्ध किया होगा, ये दोहे नि सन्देह उस भाववेगाकुल काव्य-सृजन के अवशिष्ट अंश हैं जो मुजरज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वतः फूट पड़े थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबन्धचिन्तामणि और प्राकृतव्याकरण में संकलित किये गए—इन्हीं दोहों में से एक भाषा प्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेम व्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों आदि से ही संकलित किये गए। इनके प्रभाव से अद्भुतमान भी मुक्त न रह सता।

मुज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रंश के जीते जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुज की रचना कहते हैं, यह भी असंभव नहीं है।^१ मुज के दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि^२ और पुरातन प्रबन्ध-समग्र^३ के मुजरज प्रबन्ध में आते हैं। प्रबन्धचिन्तामणि में मृणालवती को तैलन की भगिनी 'काराया तद्भगिन्या सह' और पुरातन प्रबन्ध समग्र में राजा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्या कृते युक्ता)। इसी के आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

वेसा छुडि बडाइतो जे दासिहिं रचन्ति
ते नर मुज नरिद जिम परिभव घणा सहन्ति

वार्थक्य चिन्तित मृणालवती को सान्त्वना देते हुए मुज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है—

मुंज भणइ मुणालवइ केसां काइ चुयन्ति
लहड साउ पयोहरह वधण भणीय रभन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबन्ध समग्र और प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर मुज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कानुक, वीर, शृंगारिक और इन सबसे ऊपर मस्त और स्वच्छन्द आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त है :

लक्ष्मीयांस्यति गोविन्दे वीरधीवीरवेशमनि ।
गते मुञ्जे पशु पुञ्जे निरालम्बा सरस्वती ॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि

§ ५०. मुज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रंश का प्रेमी और संस्कृत का उत्कट विद्वान् राजा था। अपने पिता सिन्धुराज की मृत्यु के बाद वि० सं० १०६७ के आस पास गद्दी पर बैठा। भोज भी विद्वान्मादित्य की तरह निजधरी कथाओं का नायक हो चुका है, उसकी प्रशंसा

१. गुलेरी जी का 'राजा मुज हिन्दी का कवि' पुरानी हिन्दी पृ० ४२-४४
२. दोनों पुस्तकें सिधी जैन ग्रन्थमाला में मुनिजिनविजय द्वारा प्रकाशित
३. पुरातन प्रबन्धसमग्र पृ० १४

की गायार्थें उसकी विचित्र मृत्यु के बाद सारे देश में छा गई होंगी। शत्रु-भगिनी मृणालवती के प्रेम में उसने प्राण गवायें, पर पृथ्वीवल्लभ की आन में परक नहीं आने दिया। इस प्रकार के जीवन्त प्रेमी और वीर की मृत्यु के बाद न जाने कितने कवियों और लेखकों ने उसकी प्रेम-गाथा को भाषा-यत्न किया होगा, ये दोहे निःसन्देह उस भाववेगाकुल काव्य-सृजन के अवशिष्ट अंश हैं जो मुजरज की मृत्यु के बाद जनमानस से स्वतः फूट पड़े थे। मध्यदेश में रचित ये ही दोहे प्रबन्धचिन्तामणि और प्राकृतव्याकरण में संकलित किये गए—इन्हीं दोहों में से एक भाषा प्रवाह में बहता हुआ सूरदास के पास पहुँचा। मेरा तो अनुमान है कि हेम व्याकरण के ६० प्रतिशत दोहे मध्यदेश के अत्यन्त लोकप्रिय काव्यों, लोकगीतों आदि से ही संकलित किये गए। इनके प्रभाव से अद्दहमाण भी मुक्त न रह सन।

मुज और मृणालवती के प्रेम के दोहे मध्यदेशीय अपभ्रंश के जोते जागते नमूने हैं। कुछ लोग इन्हें मुज की रचना कहते हैं, यह भी असंभव नहीं है।^१ मुज के दोहे प्रबन्ध चिन्तामणि^२ और पुरातन प्रबन्ध-समग्र^३ के मुजरज प्रबन्ध में आते हैं। प्रबन्धचिन्तामणि में मृणालवती को तैलन की भगिनी 'काराया तद्भगिन्या सह' और पुरातन प्रबन्ध समग्र में राधा की चेटी कहा गया है (मृणालवती चेटी परिचर्या कृते युक्ता)। इसी के आधार पर एक नया दोहा भी वहाँ दिया हुआ है।

वेसा छुडि बडाइतो जे दासिहिं रचन्ति
ते नर मुज नरिद जिम परिभ्र घणा सहन्ति

वार्धन्य चिन्तित मृणालवती को सान्त्वना देते हुए मुज ने यहाँ एक और भी दोहा कहा है—

मुज भणइ मुणालवइ वेसां काइ चुयन्ति
लद्धउ साउ पयोहरह धधण भर्णाय रभन्ति

इस प्रकार पुरातन प्रबन्ध समग्र और प्रबन्ध चिन्तामणि के आधार पर मुज का एक विचित्र प्रकार का व्यक्तित्व सामने आता है जो कवि, प्रेमी, कामुक, वीर, शृंगारिक और इन सबसे ऊपर मल और स्वच्छन्द आदमी प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु पर कहा हुआ यह श्लोक अत्यन्त उपयुक्त है :

लक्ष्मोर्षास्पति गोविन्दे वीरधीर्वीरवेशमनि ।
गते मुञ्जे यश पुञ्जे निरालम्बा सरस्वती ॥

—प्रबन्ध चिन्तामणि

§ ५०. मुज का भतीजा भोजराज भी अपभ्रंश का प्रेमी और संस्कृत का उत्कट विद्वान् राजा था। अपने पिता सिन्धुराज की मृत्यु के बाद वि० सं० १०६७ के आस पास गद्दी पर बैठा। भोज भी विद्वमादित्य की तरह निजघरी कथाओं का नायक हो चुका है, उसकी प्रशंसा

१. गुलेरी जी का 'राजा मुज हिन्दी का कवि' पुरानी हिन्दी पृ० ४२-४४

२. दोनों पुस्तकें सिधौ जैन ग्रन्थमाला में मुनिजिनविजय द्वारा प्रकाशित

३. पुरातन प्रबन्धसमग्र पृ० १४

तरह होता था (ब्रजभाषा § ८८)। अपभ्रंश में प्राकृत परम्परा से स्वरों की विवृति की सुरक्षा हुई है, किन्तु ब्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ' 'औ' या 'ए' 'ऐ', हो जाता है। यह प्रवृत्ति कुछ अंशों में हेम व्याकरण ने प्राकृतारा में भी दिखाई पड़ती है, यद्यपि अत्यन्त न्यूनानाश में। 'ए' (८१ १। १६६ < अयि) आओ (आयो = ब्रज ८। २६८ < आगत) किन्तु हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। फिर भी लण (४। ४४८ < उउण < लवण) तथा सोएवा (८। ४। ४३८ सउ < स्वय) तो (४। ३७६ < तउ < तत)। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प्राकृत वाले हिस्से में जिन शब्दों में स्वर विवृति की हटाने का प्रयत्न हुआ है, उन्हीं को बाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहें या नियम की प्रतिकूलता। चौदह (८। १। १७१ < चतुर्दश) चौदसी (८। १। १७१ < चतुर्दशी) चाव्वारो (८। १। १७७ < चतुर्वार) यही चतुर्दश शब्द मुज के दाहे में 'चउदहसद' दिखाई पड़ता है। जो भी हो अपभ्रंश की यह यह अइ अउ वाली प्रवृत्ति ही ब्रज में ऐ और औ के रूप में दिखाई पड़ती है।

§ ५३ व्यजन की दृष्टि से ब्रजभाषा में लुटित सधोप 'ल्ह' सधाप अनुनासिक ङ्ह, ङ्ह आदि ध्वनिमा मौलिक और महत्वपूर्ण कही जा सकती है। इनका भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों में दिखाई पड़ता है। उण्डउ (४। ३४२ < उण्ण) तुग्हेहि (४। ३७१ < *तुप्पे) अग्हेहि (४। ३७१ < *अप्पे) ण्हाणु (४। ३६६ < स्नान = ङ्हानो, ब्रज)। उल्हवड (४। ४१६ < उल्हसति) इसी तरह मेल्हइ < मेल्हइ (४। ४३०) का परवर्ती विकास हो सकता है 'ल्ह' का उच्चारण समवत मौलिक रूप में उतना मुकर न था इसलिए उल्हास उल्हास, आदि परिवर्तन अपभ्रंशभाषी हो गए। मैथिली के प्राचीन प्रयोगों से तुचनीय। (वर्णरत्नाकर § २२)।

§ ५४ ब्रजभाषा में व्यजन द्वित्व को उच्चारण सौकर्य के लिए सरल करके (simplification) उसके स्थान में एक व्यजन और परवर्ती स्वर का दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रबल है। उदाहरण के लिए ब्रज में ङूठो (ङूठ < *ङुठ या उञ्छिष्ठ) ठाजुर (< ठकजुर अप०) डादो (डडूडा अप० < दग्ध) तीखो (तिकखेइ अप० < तीत्) आदि शब्दों में यह क्षतिपूर्क सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अपभ्रंश के इन दोहों में भी यह व्यवस्था शुरू हो गई थी यद्यपि उसका विकास परवर्ती अपभ्रंश में ज्यादा हुआ।

ऊसासिहि (४। ४३१ < उञ्छयासे), ओहइह (४। ४१६ < अं उं < अमभ्रश्यते) दूसासणु (४। ३६१ < दुसपासणु < दुशासन) नीसरहि (४। ४३८ < निस्सरहि < नि सरसि) नीसासु (४। ४३० < निस्सास < नि शास) सीह (४। ४१८ < सिह) तामु (४। ३५८ < तत्स < तस्य) जामु (< जस्त < यत्य) कामु (किस्त < कस्य)। जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रंश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे इनका वास्तविक विकास १२वीं शताब्दी के बाद की आरम्भिक ब्रजभाषा में दिखाई पड़ता है, वैसे यह भाषा विकास की एक महत्पूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते। प्राकृत वाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ऊसव (८। २। २२ < उत्तव), ऊससिरो (२। १४५ < उञ्छवसनशील) ऊसारियो (२। २१ < उत्सारित) कात्तिवा (१। ४३ < कश्यप) दूहिया (१। १३ < दु खित)।

तरह होता था (ब्रजभाषा § ८८) । अपभ्रंश में प्राकृत परम्परा से स्वरों की विवृत्ति की सुरक्षा हुई है, किन्तु ब्रजभाषा में अउ या अइ का 'ओ' 'औ' या 'ए' 'ऐ', हो जाता है । यह प्रवृत्ति कुछ अशों में हेम व्याकरण ने प्राकृतता में भी लिखाई पड़ती है, यद्यपि अत्यन्त न्यूनांश में । 'ए (८। १। १६६ < अथि) आओ (आयो = ब्रज ८। २६८ < आगत) किन्तु हेम व्याकरण के अपभ्रंश भाग में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती । फिर भी लण (४। ४४८ < उण < लण) तथा सोएवा (८। ४। ४३८ सउ < स्वय) तो (४। ३७६ < तउ < तत) । आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि प्राकृत वाले हिस्से में जिन शब्दों में स्वर विवृत्ति की हयाने का प्रयत्न हुआ है, उन्हीं को बाद में सुरक्षित दिखाया गया है, इसे लिपिकार की प्रवीणता कहें या नियम की प्रतिक्रिया । चौदह (८। १। १७१ < चतुर्दश) चौदसी (८। १। १७१ < चतुर्दशी) चाव्वारो (८। १। १७७ < चतुर्वार) यही चतुर्दश शब्द मुज के दाढ़े में 'चउदहसद' दिखाई पड़ता है । जो भी हो अपभ्रंश की यह यह अइ अउ वाली प्रवृत्ति ही ब्रज में ऐ और औ के रूप में दिखाई पड़ती है ।

§ ५३ व्यजन की दृष्टि से ब्रजभाषा में लुडित सघोष 'ल्ह' सघोष अनुनासिक ष्, न्ह आदि ध्वनिशा मौलिक और महत्वपूर्ण कही जा सकती है । इनका भी आरम्भ अपभ्रंश के इन दोहों में दिखाई पड़ता है । उण्ड (४। ३४२ < उण्ण) तुम्हेहि (४। ३७१ < *तुमे) अम्हेहि (४। ३७१ < *अमे) ण्हाणु (४। ३६६ < स्नान = न्दानो, ब्रज) । उल्हवड (४। ४१६ < उल्हसति) इसी तरह मेलहद < मेलद (४। ४३०) का परवर्ती विकास हो सकता है 'ल्ह' का उच्चारण संभवतः मौलिक रूप में उतना सुकर न था इसलिए उल्हास उल्हास, आदि परिवर्तन अच्युतभावी हो गए । मैथिली के प्राचीन प्रयोगों से तुलनीय । (वर्णरत्नाकर § २२) ।

§ ५४ ब्रजभाषा में व्यजन द्वित्व को उच्चारण सौकर्य के लिए सरल करके (simplification) उसके स्थान में एक व्यजन और परवर्ती स्वर का दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति काफी प्रबल है । उदाहरण के लिए ब्रज में नूटो (नूट < *नुष या उच्छिष) ठकुर (< ठकुर अप०) डादो (डड्ढा अप० < दग्ध) तीखो (तिखेह अप० < तीक्ष्ण) आदि शब्दों में यह क्षतिपूर्क सरलीकरण की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । अपभ्रंश के इन दोहों में भी यह व्यवस्था शुरू हो गई थी यद्यपि उसका विकास परवर्ती अपभ्रंश में नगदा हुआ ।

ऊसासैंहि (४। ४३१ < उच्छवासे), ओहट्टह (४। ४१६ < अं उँ < अत्रभ्रश्यते) दूसासणु (४। ३६१ < दुस्पासणु < दुशासन) नीसरहि (४। ४३८ < निसरहि < नि सरसि) नीसासु (४। ४३० < निस्तास < नि शास) सोह (४। ४१८ < सिह) तासु (४। ३५८ < तस्स < तस्य) जामु (< बस्स < यत्स्य) कामु (किस्स < कत्स्य) । जैसा कि ऊपर निवेदन किया गया अपभ्रंश में ऐसे नियम बहुप्रचलित नहीं हुए थे इनका वास्तविक विकास १२वीं शताब्दी के बाद की आरम्भिक ब्रजभाषा में दिखाई पड़ता है, वैसे यह भाषा विकास की एक महत्पूर्ण प्रवृत्ति मानी जाती है, किन्तु ऐसे रूप प्राकृत में भी कम नहीं मिलते । प्राकृत वाले भाग में भी यह प्रवृत्ति मिलती है ऊसव (८। २। २२ < उत्सव), ऊससिरो (२। १४५ < उच्छ्वसनशील) ऊसारियो (२। २१ < उत्सारित) कात्तिवा (१। ४३ < कश्यप) दूहिया (१। १३ < दु खित) ।

अध्ययन काफी महत्वपूर्ण और परवर्ती भाषा विकास की कतिपय उलभी हुई गुणियों को खोलने में सहायक है। अपभ्रंश की सबसे महत्वपूर्ण विभक्ति 'हि' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण इन दोनों कारकों में होता था।

(क) अगहि अगण मिलिउ (४। ३३२)करण

(ख) अडा बलया महिहिं गउ (४। ४२२)अधिकरण

(ग) नवि उजाण वणेंहि (४। ४२२)अधिकरण

ब्रजभाषा में 'हि' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण अधिकरण में बल्कि कर्म और सम्प्रदान में भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण वहाँ खड़ी बोली में प्राचीन विभक्तियों के अशुद्ध चिह्नों का एकदम अभाव दिखाई पड़ता है, वहाँ ब्रजभाषा में परसर्गों के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियों के विकसित रूपों का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खड़ी बोली में कर्म-सम्प्रदान में 'कों' 'के लिए' आदि के साथ 'हि' का कोई प्राचीन रूप नहीं मिलता।

ब्रजभाषा में 'हि' के कुछ उदाहरण उपरिथत किये जाते हैं।

(क) राषेहिं सखी बतावत री (सूर० ३५५८)—कर्म

(ख) सूर हमहिं पहुँचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१)—कर्म

(ग) राज दीन्हो उमसेनाहिं (सूर० ३४८५)—कर्म सम्प्रदान

(घ) ले मधुपुरिहिं सिधारे (सूर० ३५६४)—अधिकरण

(ङ) धरयो गिरिवर वाम कर जिहिं (सूर० ३०२७)—करण

न केवल ब्रजभाषा में ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है, साथ ही एकाधिक कारकों में इसका स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई पड़ता है, परवता अपभ्रंश या अवहट्ट में तो इसका प्रयोग अत्यन्त स्वच्छन्द हो ही गया था, जिसे डा० चाटुर्ज्या के शब्दों में वाम चलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (A sort of made up of all work) कह सकते हैं, इन अपभ्रंश टोहा की भाषा में भी इस के प्रयोग में दिखाई पड़ती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिये गए हैं। चतुथा और द्वितीया में इससे प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते, किन्तु हेमचन्द्र ने चतुर्थी के परसर्गों 'केहि और रेसि' के उदाहरण में चतुथा-अर्थ में 'हि' का प्रयोग किया है।

तुहुं पुणु अन्नहिं रेसि ४। ४२५ (अन्य के लिए)

इस प्रकार के प्रयोग बाद में कुछ परसर्गों के साथ और कुछ बिना परसर्ग के भी 'हि' विभक्ति द्वारा चतुथा का अर्थ व्यक्त करने लगे होंगे।

§ ६१. हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में एक विशिष्टता यह भी दिखाई पड़ती है कि परसर्गों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ नहीं बल्कि सविभक्तिक पदों के साथ सहायक शब्द के रूप में होता है। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी में 'अन्नहि' यानी सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

१—पदों की सरया, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के मूरसागर प्रथम संस्करण २००३ वि० के आधार पर दी गई है।

अध्ययन काफी महत्वपूर्ण और परवर्ती भाषा विकास की कतिपय उलभी हुई गुणधियों को खोलने में सहायक है। अपभ्रंश की सबसे महत्वपूर्ण विभक्ति 'हि' है जिसका प्रयोग अधिकरण और करण इन दोनों कारकों में होता था।

(क) अगहि अगण मिलिउ (४। ३३२)करण

(ख) अद्दा बलया महिहि गउ (४। ४२२)अधिकरण

(ग) नवि उज्जाण यणैहि (४। ४२२)अधिकरण

ब्रजभाषा में 'हि' विभक्ति का प्रयोग न केवल करण अधिकरण में बल्कि कर्म और सम्प्रदान में भी बहुतायत से होता है। परसर्गों के प्रचुर प्रयोग के कारण जहाँ खड़ी बोली में प्राचीन विभक्तियों के अशुद्ध चिह्नों का एकदम अभाव दिखाई पड़ता है, वहाँ ब्रजभाषा में परसर्गों के प्रयोग के साथ प्राचीन विभक्तियों के विकसित रूपों का प्रयोग भी सुरक्षित रहा। खड़ी बोली में कर्म-सम्प्रदान में 'की' 'के लिए' आदि के साथ 'हि' का कोई प्राचीन रूप नहीं मिलता।

ब्रजभाषा में 'हि' के कुछ उदाहरण उपरिथत किये जाते हैं।

(क) रावेहि सखी बतावत री (सूर० ३५५८)—कर्म

(ख) सूर हमहि पहुँचाइ मधुपुरी (सूर० ३४७१)—कर्म

(ग) राज दीन्हो उग्रसेनाहि (सूर० ३४८५)—कर्म सम्प्रदान

(घ) ले मधुपुरिहि मिथारे (सूर० ३५६४)—अधिकरण

(ङ) घरयो गिरिवर चाम कर जिहि (सूर० ३०२७)—करण

न केवल ब्रजभाषा में ये पुरानी विभक्तियाँ सुरक्षित हैं बल्कि इनके प्रयोग की बहुलता दिखाई पड़ती है, साथ ही एकाधिक कारकों में इसका स्वच्छन्द प्रयोग दिखाई पड़ता है, परवता अपभ्रंश या अवहट्ट में तो इसका प्रयोग अत्यन्त स्वच्छन्द हो ही गया था, जिसे डा० चाटुर्व्या के शब्दों में काम चलाऊ सर्वनिष्ठ विभक्ति (A sort of made up of all work) कह सकते हैं, इन अपभ्रंश टोहा की भाषा में भी इस के प्रयोग में दिखाई पड़ती है। ऊपर अधिकरण और करण के उदाहरण दिये गए हैं। चतुथा और द्वितीया में इससे प्रयोग के उदाहरण नहीं मिलते, किंतु हेमचन्द्र ने चतुर्थी के परसर्गों 'केहि और रेसि' के उदाहरण में चतुथा-अर्थ में 'हि' का प्रयोग किया है।

तहु पुणु अन्नहि रेसि ४। ४२५ (अन्य के लिए)

इस प्रकार के प्रयोग बाद में कुछ परसर्गों के साथ और कुछ बिना परसर्ग के भी 'हि' विभक्ति द्वारा चतुथा का अर्थ व्यक्त करने लगे होंगे।

§ ६१. हेम व्याकरण के अपभ्रंश दोहों की भाषा में एक विशिष्टता यह भी दिखाई पड़ती है कि परसर्गों का प्रयोग मूल शब्दों के साथ नहीं बल्कि सविभक्तिक पदों के साथ सहायक शब्द के रूप में होता है। अर्थात् 'रेसि' परसर्ग चतुर्थी में 'अन्नहि' यानी सविभक्तिक पद के साथ प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही अन्य परसर्ग भी।

१—पदों की सरपा, काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सूरसागर प्रथम संस्करण २००७ वि० के नाधार पर दी गई है।

इसों का परवर्ती विकास 'में' के रूप में भी दिखाई पड़ता है। अधिकरण में एक दूसरे परसर्ग 'उप्परि' का भी प्रयोग हुआ है।

सायरि उप्परि तृण घरेह ४।३३४

इस उप्परि के ऊपर, पर, पै आदि रूप विकसित हुए जिनके प्रयोग ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

१—मदन ललित वदन उपर बारि डारे (सूर० ८२३)

२—पुनि जहाज पै आवै (सूर० १६८)

३—आपुनि पौढ अघर सेज्या पर (सूर० १२७३)

सम्प्रदान के परसर्ग 'कैदि' का 'कहै', 'कैं' आदि रूप भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है किन्तु सबसे महत्वपूर्ण विकास तणा या तणेण परसर्ग का है जो ब्रजभाषा में तैं या त्यो के रूप में दिखाई पड़ता है। हेम व्याकरण में ये कुल आठ बार प्रयुक्त हुए हैं।

१—तेहि तणेण (४। ४२५) करण

२—अह मग्गा अग्हह तणा (४। ३७६) सम्बन्ध

३—बहुतणहो तणेण (४। ४३७) सम्प्रदान

अपभ्रश में यह परसर्ग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध इन तीन कारकों में प्रयुक्त होता था, इसी का परवर्ती विकास तणेण > तनें, तैं के रूप में हुआ। ब्रजभाषा में तैं और त्यो का प्रयोग होता है। ब्रज में इसका अपादान में भी प्रयोग होता है।

१—लच्छा गह तैं काटि कै (अपादान)

२—तुव सगप तैं मरिहैं (करण)

३—भीर के परै तैं घोर सबदिन तजी (करण)

तण का 'तन' प्रयोग ओर के अर्थ में भी चलता है। हम तन नहीं पेलत (२४८४) हमारी ओर नहीं देखते।

अपभ्रश के कारण का सहुँ परसर्ग बाद में सउँ > सौं के रूप में ब्रज में प्रयुक्त हुआ।

१—मह सहुँ नचि तिल तार (४। ३५६ हेम०)

२—जह पवसन्तैं सहुँ न गय (४। ३१६ हेम०)

यहाँ सहुँ का अर्थ मूलतः सह या साथ ही है, उसका तृतीया का 'से' अर्थ बोध तबतक प्रस्तुति नहीं हुआ था, बाद में इसने साथ सूचक से कर्तृत्व सूचक रूप ले लिया।

(१) कासीं कहै पुकारो (सूर ३६८७)

(२) हरि पौ मेरो मन अटक्यो (सूर ३५८५)

(३) अब हरि कौने मौं रति जोरी (सूर ३३६१)

सर्वनाम—

§ ६३. हेम-व्याकरण-अपभ्रश के सर्वनामों में न केवल ऐसे रूप हैं जो ब्रजभाषा के सर्वनामों के निर्माण में सहायक हुए बल्कि कई ऐसे प्रयोग हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में विचित्र प्रकार के साधित सर्वनाम रूपों को जन्म दिया। ब्रजमें सर्वनाम जिस, तिस, किस प्रकार के नहीं बल्कि जा, ता, का प्रकार के साधित रूपों से बनते हैं। नाँचे अपभ्रश और ब्रजभाषा में सर्वनामिक रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के हउ और मइ के दो रूप हेम व्याकरण में प्राप्त होते हैं। हउ के १३ प्रयोग और मइ के १५

इसी का परवर्ती विकास 'में' के रूप में भी दिखाई पड़ता है। अधिकरण में एक दूसरे परसर्ग 'उपरि' का भी प्रयोग हुआ है।

सायरि उपरि तृण घरेइ ४।३३४

इस उपरि के ऊपर, पर, पै आदि रूप विकसित हुए जिनके प्रयोग ब्रजभाषा में प्राप्त होते हैं।

१—मदन ललित वदन उपर बारि डारे (सूर० ८२३)

२—पुनि जहाज पै आवै (सूर० १६८)

३—आपुनि पौढ अचर सेव्या पर (सूर० १२७३)

सम्प्रदान के परसर्ग 'कहि' का 'कहै', 'कौं' आदि रूप भी ब्रजभाषा में प्रयुक्त हुआ है किन्तु सबसे महत्वपूर्ण विकास तणा या तणेण परसर्ग का है जो ब्रजभाषा में तैं या त्यों के रूप में दिखाई पड़ता है। हेम व्याकरण में ये कुल आठ बार प्रयुक्त हुए हैं।

१—तेहि तणेण (४। ४२५) करण

२—अह मग्गा अम्हह तणा (४। ३७६) सम्बन्ध

३—बहुतणहो तणेण (४। ४३७) सम्प्रदान

अपभ्रश में यह परसर्ग करण, सम्प्रदान और सम्बन्ध इन तीन कारकों में प्रयुक्त होता था, इसी का परवर्ती विकास तणेण > तनैं, तैं के रूप में हुआ। ब्रजभाषा में तैं और त्यों का प्रयोग होता है। ब्रज में इसका अभादान में भी प्रयोग होता है।

१—लच्छा गृह तैं काटि कै (अपादान)

२—नुव सराप तैं मरिहैं (करण)

३—भीर के परै तैं घोर सवहिन तजी (करण)

तण का 'तन' प्रयोग ओर के अर्थ में भी चलता है। हम तन नहीं पेलत (२४८४) हमारी ओर नहीं देखते।

अपभ्रश के कारण का सहुँ परसर्ग बाद में सउँ > सौं के रूप में ब्रज में प्रयुक्त हुआ।

१—मह सहुँ नचि तिल तार (४। ३५६ हेम०)

२—जह पवसन्तैं सहुँ न गय (४। ३१६ हेम०)

यहाँ सहुँ का अर्थ मूलतः सह या साथ ही है, उसका तृतीया का 'से' अर्थ बोध तबतक प्रयुक्त नहीं हुआ था, बाद में इसने साथ सूचक से कर्तृत्व सूचक रूप ले लिया।

(१) कासौं कहै पुकारी (सूर ३६८७)

(२) हरि सौं मेरो मन अट्क्यो (सूर ३५८५)

(३) अब हरि कौने सौं रति बोरी (सूर ३३६१)

सर्वनाम—

§ ६३. हेम-व्याकरण-अपभ्रश के सर्वनामों में न केवल ऐसे रूप हैं जो ब्रजभाषा के सर्वनामों के निर्माण में सहायक हुए बल्कि कई ऐसे प्रयोग हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में विचित्र प्रकार के साधित सर्वनाम रूपों को जन्म दिया। ब्रजमें सर्वनाम जिस, तिस, किस प्रकार के नहीं बल्कि जा, ता, का प्रकार के साधित रूपों से बनते हैं। नीचे अपभ्रश और ब्रजभाषा में सर्वनामिक रूपों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं। पुरुषवाचक सर्वनाम के उत्तम पुरुष के हउ और मइ के दो रूप हेम व्याकरण में प्राप्त होते हैं। हउ के १३ प्रयोग और मइ के १५

(३) घाइ चक्रु लै ताहि उबारयो (सूर)

(४) अर्जुन गये यह ताहि (सूर० सार०)

(५) तासौं नेह लगायो (सूर)

वे,उन आदि रूपों के लिए भी हम अनभ्रंश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं—

(१) तो बड़ा घर ओइ (४।३६४)

(२) वे देखो आवत दोऊ जन (३६५४ सूर० सा०)

(३) वह तो मेरी गाइ न होइ (२६३३ सूर० सा०)

सर्वनामों की दृष्टि से ब्रजभाषा की सबसे बड़ी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं। जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है, ठाकौ, बाकौ, जाकौ, चाने, वाने, आदि रूप। इस प्रकार के रूपों का भी आरम्भ अनभ्रंश के इन दोहों की भाषा में दिखाई पड़ता है।

बा वप्नो की मुइहडी (४।३६५)

इसी आ में को, सौं, तै आदि के प्रयोग से जाकौ, जातै, जासौं आदि रूप बनते हैं। बा के अलावा संबन्धवाचक 'यद्' के अन्व भी रूप अनभ्रंश से ब्रज में आये। जिनमें जो (४।३३०) जेग (४।४१४) जास (४।३५८) जसु (४।३७०) जाह (४।३५३) आदि रूप महत्वपूर्ण हैं। इनके ब्रज में प्रयोग निम्नप्रकार होते हैं।

(१) घर की नारि बहुत हित जासौं (सूर)

(२) बामु नाम गुन गनत हृदय तैं (सूर)

(३) आ दिन तैं गोपाल चले (४२६२)

प्रश्नवाचक सर्वनाम क्वण (४।३५०) क्वणु (४।३६५) क्वणेष (४।३६७) क्रमशः कौन, कोनो और क्वनें का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम ब्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुये हैं।

(१) कौन परी मेरे लालहि बानि (१८२६)

(२) कौने बाप्यो डोरी (सूर)

(३) कही कौन पै कइत कइकी (सूर)

(४) किन नम बाप्यो भोरी (सूर)

सर्वनामिक विशेषण—

§ ६४. पुरुषवाचक और निब्रवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामोंको छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी बाद वाले दो मुख्य सर्वनाम विशेषण जाने माते हैं।

अइसो (४।००३ < ईदृशः) यह प्रकार-सूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण सूचक एबहु (४।४०८ < इयत्) तथा एतुलो (४।४०८ < इयान्) हैं। अइस के ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप बनते हैं जबकि एतुलो से एतौ, इती, इतनी, आदि।

(१) एतौ इठि अब छांडि मानि री (सूर० ३२११)

(२) ठुम विलु एतौ को करै (ब्रज कवि)

(३) ऊधौ इतनी कहियो बाद (सूर० ४०५६)

(४) ऐसो एक कोद की हेत (सूर० ४५३७)

(३) घाड़ चक्रु लै ताहि उबारयो (सर)

(४) अर्जुन गये यह चाहि (सूर० सा०)

(५) तासौं नेह लगायो (सर)

वे,उन आदि रूपों के लिए भी हम अनभ्रंश का 'ओइ' सर्वनाम देख सकते हैं—

(१) तो बड़ा घर ओइ (४।३६४)

(२) वे देखो आवत दोऊ नन (३६५४ सूर० सा०)

(३) वह तो मेरी गाइ न होइ (२६३३ सूर० सा०)

सर्वनामों की दृष्टि से प्रब्रभाषा की सबसे बड़ी विशिष्टता उसके साधित रूप हैं। जिनमें परसगों के प्रयोग से कारकों का निर्माण होता है, ताकौ, वाकौ, जाकौ, वाने, वाने, आदि रूप। इस प्रकार के रूपों का भी आरम्भ अनभ्रंश के इन दोहों की भाषा में दिखाई पड़ता है।

जा वन्ही की मुइहडी (४।३६५)

इसी जा में को, सौं, तै आदि के प्रयोग से जाकौ, जातै, जासौं आदि रूप बनते हैं। जा के अलावा संबन्धवाचक 'वद्' के अन्व भी रूप अनभ्रंश से ब्रज में आये। जिनमें जो (४।३३०) जेग (४।४१४) जास (४।३५८) जहु (४।३७०) बाह (४।३५३) आदि रूप महत्वपूर्ण हैं। इनके ब्रज में प्रयोग निम्नप्रकार होते हैं।

(१) घर की नारि बहुत हित जासौं (सर)

(२) बागु नाम गुन गनत हृदय तैं (सर)

(३) जा दिन तैं गोपाल चले (४२६२)

प्रश्नवाचक सर्वनाम कवण (४।३५०) कवणु (४।३६५) कवणेष (४।३६७) क्रमशः कौन, फोनो और कवनें का रूप लेते हैं। ये सर्वनाम ब्रजभाषा में बहुतायत से प्रयुक्त हुये हैं।

(१) कौन परी मेरे लालहि वानि (१८२६)

(२) कौने बाघ्यो डोरी (सर)

(३) कही कौन पै कइत कनूकी (सर)

(४) किन नम बाघ्यो भोरी (सर)

सर्वनामिक विशेषण—

§ ६५. पुरुषवाचक और निब्रवाचक इन दो प्रकार के सर्वनामोंको छोड़कर बाकी सभी प्रकार के सर्वनाम विशेषणवत् प्रयुक्त हो सकते हैं। फिर भी बाद वाले दो मुख्य सर्वनाम विशेषण जाने माते हैं।

अइसो (४।००३ < ईत्थः) यह प्रकार-सूचक सर्वनामिक विशेषण है। दूसरे परिमाण सूचक एवहु (४।४०८ < इप्त) तथा एतुलो (४।४०८ < इयान्) हैं। अइस के ऐसा, ऐसे, ऐसो रूप बनते हैं जबकि एत्तुयो से एतौ, इती, इतनी, आदि।

(१) एतौ इठि अब छांडि मानि री (सूर० ३२११)

(२) द्रुम विनु एतौ को करै (ब्रज कवि)

(३) ऊधौ इतनी कहियो बाइ (सूर० ४०५६)

(४) ऐसो एक कोद कौ हेत (सूर० ४५३७)

परम्परा की छोड़ दिया है। किन्तु ब्रज में यह पूर्णतः सुरक्षित है। केवल अन्तिम संप्रयुक्त शरों को संयुक्त करके अइ > ऐ या अउ > औ कर दिया जाता है।

- (१) निच्छद रुसइ जामु (४।३५८)
निश्चिचे रुसी जामु
- (२) तलि घल्लइ रयगाईं (४।३३६)
मातु पितु सकट घालै (सू० ११३१)
- (३) उच्छगि धरेइ (धरे) (४।३३६)
- (४) जां गुण गोवइ अपग्या
लाननि अलियनि गोवै (सू० ६६५)
- (५) हउ बलि क्रिजाउं (४।३३८)
- (६) ही बलि जाउं (सू० ७२३)

बहुवचन में प्रायः द्वि विभक्ति चलती है जो ब्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल जुम्भ समि राहु करहि (४।३८२)

पूरी पक्ति जैसे ब्रजभाषा की ही है। ब्रज में परी अहि > अइ होकर ऐं हो जाता है जो चलै करै आदि में मिलता है।

(ग) भविष्यत् काल में ब्रजभाषा में ग-वाले रूपों की अधिकता दिखाई पड़ती है किन्तु 'ह' प्रकार के रूप भी कम नहीं हैं जो धृति > म्द > हइ > है के रूप में आए। अपभ्रंश में हइ वाले रूप प्राप्त होते हैं।

'निर्दप गमिही रत्तही' का गमिही होकर ब्रज में प्रयुक्त होता है किन्तु अधिकारतः, जाइ है (गमिही का रूपान्तर जाइ है) का प्रयोग होता है। आगे कुछ समता सूचक रूप दिये जाते हैं—होहिइ (४।३३८ होइ है) हेमचन्द्र ने प्राकृतारण्य में स्पष्टतः भविष्य के लिए इहि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति इभिहिइ, इहिहिइ' (२।४।२४६)

इस इहिहिइ का रूप इहि है ब्रज में अत्यन्त प्रचलित है। उसी तरह पठिहिइ (अ० १७७ पठि है)।

(घ) नन्य आर्य भाषाओं में सयुक्त क्रिया का अपना अन्तम दग का निरास हुआ है। भूत कृदन्त अक्षरमयिना क्रिया तथा क्रियायुक्त क्रियापदों तथा अन्य क्रिया के तिङन्त रूपों की मदद से ये रूप निष्पन्न होते हैं।

पहिय रडन्तउ जाइ (४।४४५)

कुछ कह्यो न जाइ (सू०)

तुम अलि कामो कहत बनाइ (सू० ३६१७)

भूतसालिक से—

भग्ना घर एन्तु (४।३५१)

नैना कह्यो न मानत (सू०)

बहे जात माँगन उतराई (सू०)

परम्परा की छोड़ दिया है। म्निवु ब्रज में वह पूर्णतः सुरक्षित है। केवल अन्तिम संप्रयुक्त स्वरों को संयुक्त करके अइ > ऐ या अउ > औ कर दिया जाता है।

- (१) निच्छद्र कसइ बामु (४।३५८)
निदिचै रुसै बामु
- (२) तलि घल्लइ रयगाइं (४।३३४)
मातु पितु सकट घालै (सू० ११३१)
- (३) उच्छगि धरेइ (धरे) (४।३३६)
- (४) जो गुण गोचइ अणग्या
लाजनि अखियनि गोवै (सू० ६६५)
- (५) इउ बलि क्रिज्जउं (४।३३८)
- (६) ही बलि जाउं (सू० ७२३)

बहुवचन में प्रायः द्वि विभक्ति चलती है जो ब्रजभाषा में भी प्राप्त होती है।

मल्ल बुभुक्ष समि राहु करदि (४।३८२)

पूरी पक्ति जैसे ब्रजभाषा की ही है। ब्रज में पही अदि > अइं होकर ऐं हो जाता है जो चलै करै आदि में मिलता है।

(ग) भविष्यत् काल में ब्रजभाषा में ग-वाले रूपों की अधिकता दिखाई पड़ती है किन्तु 'इ' प्रकार के रूप भी कम नहीं हैं जो प्यति > प्यइ > इइ > इ के रूप में आय। अत्रप्रश में इइ वाले रूप प्राप्त होने हैं।

'निदृष्ट गमिही रत्तरी' का गमिही गमिइ होकर ब्रज में प्रयुक्त होता है किन्तु अधिकारात*, बादइ (गमिइ का रूपान्तर बादइ) का प्रयोग होता है। आगे कुछ समता सूचक रूप दिये जाते हैं—होदिइ (४।३३८ होइइ) हेमचन्द्र ने प्राकृतार में स्पष्टतः भविष्य के लिए इदि का प्रयोग किया है।

'भविष्यति बन्निहिइ, इदिहिइ' (२।४।२४६)

इस इदिहिइ का रूप इदिइ ब्रज में अत्यन्त प्रचलित है। उसी तरह पडिहिइ (अ० १७७ पदिइ)।

(घ) नय्य आर्य भाषाओं में संयुक्त क्रिया का अपना अलग दग का विकास हुआ है। भूत वृत्त अस्मान्निग क्रिया तथा नियाभक क्रियापदों तथा अन्य क्रिया के तिङन्त रूपों की मदद से ये रूप निष्पन्न होते हैं।

पहिय रडन्तउ जाइ (४।४४५)

कुछ कही न जाइ (सू०)

तुम अलि कासो कहत बनाइ (सू० ३६१७)

भूतकालिक से—

भग्गा घर एनु (४।३५१)

नैना कह्यो न मानत (सू०)

बदे जात माँगत उतराई (सू०)

प्रयोग में आते थे। हेम व्याकरण के दोही में प्रयुक्त इन शब्दों की सख्या भी कम नहीं है, जैसे हेमचन्द्र ने इन शब्दों के महत्व को स्वीकार करके श्रलग देशीनाममाला^१ में इनका संकलन किया।

§ ६८. नीचे प्राकृत व्याकरण के महत्वपूर्ण तद्भव और देशान्त के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक की संस्कृत व्युत्पत्ति भी हूँदी जा सकती है।

ओखल	११७७	ओखरी	(सूर० को० ^३ १७६)
कुमल	११२६	कौपल और कौप	(सूर० को० ६५)
खाइ	४१४२४	खाई	चहुदिस खाई गदिर गभीर (प्र० चरित)
खोडि	४१४१६	खोरि, खुडि	भैरे नयननि ही सब खोरि (सूर)
गड्डो	२१३५	गड्ढा	गड्ढा, गड्ढ (सूर० को० ३६८)
गुण्डिउ	४१४२३	गुडकी	गुडुआना (सूर० को० ४५६)
चूडल्लउ	४१३६५	चूडी	दियौ तुरत नौवा कौं घुरकी (१०१८०)
छइल्ल	४१४१२	छैला	(सू० को० ५२३)
छुच्छ	२१२०४	छ्छा	छैल्लनि को सग यो फिरँ (सूर ११४४)
मुण्डा	४१४१६	भोणडा	छ्छी छाडि मद्रकिया दधि की (१०१२६०)
डाल	४१४४५	डाल, डार	प्रश्न तुम्हारे छ्छे
तिरिच्छी	४१४१४	तिरछी	(सूर० को० ६८)
धू	२१२००	बुत्ताया निपातः	एक डार के से तारे (३०५६) नवरग दूल्ह
धूणा	१११२२	धूनी	रास रच्यो (कुंभनदास ३८)
नवल्ली	२११६५	नवेली	तिरछै है जु अरै (सूर)
नवली	४१४२०	नोखी	थूथू
पराई	४१३५०	परकीया	बहु प्रयुक्त
वण्डा	४१३८०	वापुरो	नवेली मुनु नवळ पिय नव निकुज है री
लट्ठी	११२४०	लाठी	(३०७१)
लोहडी	४१४२३	लुगरी	कैसी बुद्धि रची है नोखी (सूर २१६०)
विहाण	४१३३०	विहान	नारि पराई देखिकै (सू० सा० २१६५)
सलोणी	४१४२०	सलोनी	कहा वापुरो कचन कदली (कुंभन १६८)
			लाठीं कबहु न छाडिये (गिरधरदास)
			बहु प्रयुक्त लुगरी
			विहान, सवेरा
			कहाँ तै आई परम सलोनी नारी
			(सू० सा० २१५६)

१. देशी नाममाला, द्वितीय संस्करण, स० श्री परवस्तु वैकट रामानुजस्वामी, पूना, १९३८

२. वज्रभाषा सूर कोश, स० प्रेमनारायण टंडन, लखनऊ, २००७ सम्बन्ध

प्रयोग में आते थे। हेम व्याकरण के दोहों में प्रयुक्त इन शब्दों की संख्या भी कम नहीं है, वैसे हेमचन्द्र ने इन शब्दों के महत्व को स्वीकार करके श्रलग्य देशीनाममाला^१ में इनका संकलन किया।

§ ६८. नीचे प्राकृत व्याकरण के महत्वपूर्ण तद्भव और देशज के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। इन शब्दों में से कुछेक की संस्कृत व्युत्पत्ति भी हुई जा सकती है।

ओखल	११७७	ओखरी	(सू० को० ^३ १७६)
कुमल	११२६	कोपल और कोप	(सू० को० ६५)
खाद	४१४२४	खाई	चहुदिस खाई गहिर गभीर (प्र० चरित)
खोडि	४१४१६	खोरि, खुटि	भेरे नयननि ही सन खोरि (सू०)
गड्डो	२१३५	गड्डा	गडहा, गड्ड (सू० को० ३६८)
घुगिउ	४१४२३	घुडकी	घुघुआना (सू० को० ४५६)
			दियौ तुरत नीवा कौ घुरकी (१०१८०)
चूडल्लउ	४१३६५	चूडी	(सू० को० ५२३)
छुरल्ल	४१४१२	छैला	छैलनि को संग यो फिरँ (सू० ११४४)
छुंछु	२१२०४	छुंछा	छुंछी छाडि मडकिया दधि की (१०१२६०)
			प्रन तुम्हारे छुंछे
भुम्पडा	४१४१६	भोपडा	(सू० को० ६८)
डाल	४१४४५	डाल, डार	एक डार के से तारे (३०५६) नवरंग दूल्ह
			राम रच्यो (कुंभनदास ३८)
तिरिच्छी	४१४१४	तिरछी	तिरछै है शु भरे (सू०)
थू	२१२००	कुत्साया निपातः	थूथू
थूणा	११२२२	थूनी	बहु प्रयुक्त
नवल्ली	२११६५	नवेली	नवेली मुनु नवल पिय नव निकुंज है री
			(३०७१)
नवली	४१४२०	नोली	कैसी बुद्धि रची है नोली (सू० २१६०)
पराई	४१३५०	परकीया	नारि पराई देखिकै (सू० सा० २१६५)
बपुडा	४१३८०	बापुरो	बहा बापुरो बचन कदली (कुंभन १६८)
लट्ठी	११२४०	लाठी	लाठी कबहु न छाडिये (गिरधरदास)
लोहडी	४१४२३	लुगरी	बहु प्रयुक्त लुगरी
विहाण	४१३३०	विहान	विहान, सवेरा
सलोणी	४१४२०	सलोनी	बहाँ तै आई परम सलोनी नारी
			(सू० सा० २१५६)

१. देशी नाममाला, द्वितीय संस्करण, सं० श्री परवस्तु बेंकट रामानुजस्वामी, पूना, १९३८

२. प्रजभाषा सूर कोश, सं० प्रेमनारायण टंडन, लखनऊ, २००७ सम्बद्ध

गुत्ती	२।११०	शिरोबन्धनम् । पाटम्बर गातो सत्र दिने (सूर)
गोच्छ्रा	२।६५	गुच्छ्रा (सूर० को० ५००)
गोहुरं	२।६६	गोहरा (सूर० को० ५३४)
घग्घरं	२।१०७	जवनस्थ वल्लभेदः घघरा मोहन मुमुक्ति गद्दी दौरत में छूटी तनी छुद रहित घाघरी (२६३६)
घट्टो	२।१११	नदीतीर्थम् । घाट पर्यो तुम यदै जानि के (सूर)
घम्मोह	२।१०६	गुण्डुत्सहृणुणम् (सूर० कोश ४४६)
चग	३।१	चगा, ठीक, । रही रीक्त वह नारि चगी (सूर)
चाउला	३।८	चावल, ब्रज० चाउर (सूर० कोश० ४६६)
चोटी	३।१	चोटी, मैया कब बटिहै मेरी चोटी (सूर)
छरसो	३।२४	छेला, छैलनि के संग या फिरै जैसे तनु संग छुई (सूर० १।४४)
छलियो	३।२४	छलिया, जिन चलनि छलियो बलि राजा (१०।१४१)
छासी	३।२४	छाँछ, भये छाँछ के दानी (३३०२)
छिण्णालो	३।२६	छिनाल, जारः । चोरी रही छिनारौ अब भयो (सूर, ७७३)
भ्रखो	३।५३	भ्रंख, भ्रखत ययोदा जननी तीर (१०।१६१)
भ्रडी	३।५३	निरन्तरवृष्टिः, (सूर० को० ६४८) ब्रजपर गई नेक न भारि (६७३)
भ्राड	३।५७	लतागहनम् (सूर को० ६५१)
भ्रिहिरिभ्रा	३।६२	भ्रिह्नी (सूर को० ६६१)
भ्रोलिआ	३।५६	भ्रोली, बटुआ भोरी दोऊ अघारा (३२८४)
ढहो	४।५	निर्धनः, बेकार, ऐमी को टाली वैसी है तौं सौ मूड चयवै (३२८७)
डोला	४।११	शिबिका, (सूर को० ७२४)
डोरो	३।५८	डूजम्, डोरा । तोरि लपौ बटिहू को डोरो (सूर २।३०)
पपीओ	६।१३	बहुत दिन बीओ पपीहा प्यारे (सूर)
पभु	६।८२	पाग, हरि सग खेलन पागु चली (सूर० २१८३)
बप्यो	६।८८	बाप, बाबा । बाबा मो को दुहुन सिलायो (सूर १२८५)
वाउछो	७।५६	वावरी, वावरी बावरे जैन, वावरी कहीं धो अब बाँसुरी सौं तू लरै (सूर १६०८)

§ ७०. इस प्रसंग में हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए । अपभ्रंश में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देशी क्रियाओं का इत्तेमाल हुआ है, जो

गुत्ती	२।११०	शिरोबन्धनम् । पाठम्बर गाती तत्र दिवे (सू०)
गोम्झा	२।१५	गुम्झा (सू० को० ४००)
गोहरं	२।१६	गोहरा (सू० को० ४३४)
घण्टरं	२।१०७	जवनस्थ वस्त्रभेदः घण्टा मोहन मुसुकि गद्दी दौरत में छूटी तनी छुद रक्षित पापरी (२६३६)
घट्टो	२।१११	नदीतीर्थम् । घाट पर्यां तुम यदै जानि के (सू०)
घग्मोह	२।१०६	गुण्डुत्सहनृणम् (सू० कोश ४४६)
चग	३।१	चगा, ठीक, । रही रीक वह नारि चगी (सू०)
चाडला	३।८	चावल, ब्रज० चाउर (सू० कोश० ४६६)
चोटी	३।१	चोटी, मैया कब बटिदै मेरी चोटी (सू०)
छइल्लो	३।२४	छैला, छैलनि के संग या फिरै जैसे तनु संग छुई (सू० १।४४)
छलियो	३।२४	छलिया, जिन चरनि छलियो बलि राजा (१०।१४१)
छासी	३।२४	छाछ, भये छाछ के दानी (३३०२)
छिणाली	३।२६	छिनाल, चारः । चोरी रही छिनारी अब भयो (सू०, ७७३)
भल्लो	३।५३	भल्ल, भल्लत यरोदा जननी तीर (१०।१६१)
भडी	३।५३	निरन्तरवृष्टिः, (सू० को० ६४८) ब्रजपर गई नेक न भारि (६७३)
भगड	३।५७	भतागहनम् (सू० को० ६५१)
भिल्लिरिआ	३।६२	भिल्ली (सू० को० ६६१)
भोलिआ	३।५६	भोली, बटुआ भोरी दोऊ अथारा (३२८४)
टल्लो	४।५	निर्धनः, बेकार, ऐमी को टाली वैसी है सौं सौं मूड चयवै (३२८७)
डोला	४।११	शिविका, (सू० को० ७२४)
दोरो	३।५८	दूजम्, डोरा । तोरि लपौ बटिहू को डोरी (सू० २।३०)
पपीओ	६।१३	बहुत दिन जीओ पपीहा प्यारे (सू०)
पभु	६।८२	पाग, हरि सग खेलन पागु चली (सू० २१८३)
बप्यो	६।८८	बाप, बाबा । बाबा मो को दुहुन सिलायो (सू० १२८५)
बाउल्लो	७।५६	बावरी, बावरी बावरे नैन, बावरी कहां धां अब बाँगुरी सौं तू लरै (सू० १६०८)

§ ७०. इस प्रसंग में हेमचन्द्र के व्याकरण में प्रयुक्त देशी धातुओं का भी विचार होना चाहिए। अपभ्रंश में कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण देशी क्रियाओं का हस्तमाला हुआ है, जो

इस पंक्ति में मेह और बड़वानर दोनों का प्रयोग में निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ सतुलनात्मक प्रयोग उपस्थित किये जाते हैं—

प्रथमा—

- (१) कायर एम्ब भणन्ति (४।३७७)
- (२) धण मेल्लइ नोमासु (४।४३०)
- (३) मोहन जा दिन वनदि न जात (सूर० ३२०२)
- (४) लोचन करमरात हैं मेरे (कुमन० २१८)

द्वितीया—

- (१) सन्ता भोग जु परिहरइ (४।३८६)
- (२) बइ पुच्छइ घर नड्डाइ (४।३६४)
- (३) पल लिहिआ भुजन्ति (४।३३५)
- (४) निरलि कोमल चार मूरति (सूर० ३०३६)
- (५) काहे बावति नादिन छूटे केस (कुमन ३०४)

अपभ्रंश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। सम्बन्ध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं। किन्तु वहाँ समस्तपद की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रंश में अधिकरण में इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। जैसे तालि, यडि, घरि आदि ये रूप उच्चारण सौकर्य के लिए बाद में या तो अकारान्त रह गए या उनमें ए विभक्ति का प्रयोग होने लगा। इस तरह ब्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पड़ते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगाकर घरै, द्वारै, आदि रूपान्तर बन जाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः प्रत्येक कारक में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

२—विभक्तियों के प्रयोग के नियमों की शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। अरभ्रंश में इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। पद्यी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारका का भाव व्यक्त करने के लिए किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्या स्थाने पद्यी मरति। मुणिसस, मुणीग देइ, नमो देवस्म।^१ यही नहीं द्वितीया के लिए भी पद्यी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया और पञ्चमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।^२ प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अरभ्रंश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रंश में कथ, भण आदि क्रियाओं के साथ कर्म हमेशा द्वितीया में ही होता था, किन्तु अपभ्रंश में

१ चतुर्थ्या पद्यी हेमव्याकरण ८।३।१३१

२. पद्यी कचिद् द्वितीयादे १३।१३४ द्वितीयातृतीयायो सप्तमी ३।१३५

पञ्चम्यास्तृतीया च ३।१३६ सप्तम्या द्वितीया ३।१३७

इस पक्ति में मेह और बड़वानर दोनों का प्रयमा में निर्विभक्तिक प्रयोग हुआ है। नीचे कुछ समुच्चनात्मक प्रयोग उपरिपत क्रिये जाते हैं—

प्रथमा—

- (१) कायर एम्ब भणन्ति (४।३७७)
- (२) घण्ट मेल्लह नोयातु (४।४३०)
- (३) मोहन जा दिन वनदि न जात (सूर० ३२०२)
- (४) लोचन करमरात हैं मेरे (कुम्भन० २१८)

द्वितीया—

- (१) सन्ता भोग जु परिहरइ (४।३८६)
- (२) बइ पुच्छइ घर नड्डाइ (४।३६४)
- (३) फल लिहिआ भुजन्ति (४।३३५)
- (४) निरलि कोमल चार मूरति (सूर० ३०३६)
- (५) काहे थावति नरदिन दूटे नेस (कुम्भन ३०४)

अपभ्रश में करण, अधिकरण और अपादान के निर्विभक्तिक प्रयोगों का एकदम अभाव है। सम्बन्ध में इस तरह के निर्विभक्तिक प्रयोग बहुत मिलते हैं। किन्तु वहाँ समस्तपद की तरह ही प्रयुक्त हुए हैं। अपभ्रश में अधिकरण में इकारान्त प्रयोग मिलते हैं। जैसे तालि, घडि, घरि आदि ये रूप उच्चारण सौकर्य के लिए बाद में या तो अकारान्त रह गए या उनमें ए विभक्ति का प्रयोग होने लगा। इस तरह ब्रजभाषा में कुछ रूप निर्विभक्तिक दिखाई पड़ते हैं। कुछ रूपों में ऐ लगाकर घरै, दारै, आदि रूपान्तर बन जाते हैं। ब्रजभाषा में प्रायः प्रत्येक कारक में निर्विभक्तिक प्रयोग प्राप्त होते हैं।

२—विभक्तियों के प्रयोग के नियमों की शिथिलता की बात पहले कही जा चुकी है। इस शिथिलता के कारण कुछ विशिष्ट प्रकार के कारक प्रयोग भी दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रश में इस प्रकार के विभक्ति-व्यत्यय के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। हेमचन्द्र ने प्राकृत में इस प्रकार के व्यत्यय को लक्षित किया था। पद्यी विभक्ति का प्रयोग एकाधिक कारका का भाव व्यक्त करने के लिए किया जाता था, इस विषय में उन्होंने स्पष्ट संकेत किया है। चतुर्थ्या स्थाने पद्यी भवति। मुणिस, मुणीम देइ, नमो देवस्म।^१ यही नहीं द्वितीया के लिए भी पद्यी प्रयोग होता था। द्वितीया और तृतीया और पञ्चमी में सप्तमी (अधिकरण) का प्रयोग भी प्रचलित था। अधिकरण अर्थ में द्वितीया का प्रयोग भी चलता था।^१ प्राकृत (शौरसेनी) की यह प्रवृत्ति शौरसेनी अपभ्रंश को भी प्राप्त हुई। विभक्ति व्यत्यय के उदाहरण हेमव्याकरण के अपभ्रश दोहों में कम नहीं मिलते। इसी प्रवृत्ति का विकास ब्रजभाषा में भी हुआ। अपभ्रश में कथ, भण आदि क्रियाओं के साथ कर्म श्मेशा द्वितीया में ही होता था, किन्तु अपभ्रश में

१ चतुर्थ्या पद्यी हेमव्याकरण ८।३।१३१

२. पद्यी कचिद् द्वितीयादे १३।१३४ द्वितीयातृतीयायो सप्तमी ३।१३५

पञ्चम्यात्तृतीया च ३।१३६ सप्तम्या द्वितीया ३।१३७

दोहों, जोरन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशरासक में दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवृत्ति पर्यवर्त भाषा में भी दिखाई पड़ती है।¹

- (१) पर भुजगहिं न जाइ (४।४४१ हेम०)
- (२) त अक्खणह न जाइ (४।३५० हेम०)
- (३) न धरणउ जाइ (स० रा० ७१ क)
- (४) कहणु न जाइ (स० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप व्रजभाषा में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

- (१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
- (२) कहु समुभि न जाइ (सूर० २३२३)
- (३) सोभा वरनि न जाइ (कुभन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा व्रज के और भी नजदीक मान्य होती है। मार्टव, सत्तेप, लोच और शब्दों के अत्यन्त विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी व्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

अपभ्रंश

व्रज

- | | |
|---|---|
| (१) अगहि अग न मिलिउ ४।३३२ | (१) अगहि अग न मिल्यो |
| (२) इउ किन जुत्यउ दुहु दिसिहि ४।३४० | (२) हो किन जुत्तों दुहुँ दिसहिं |
| (३) वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कितिउ
रुवहि इयास ४।३८२ | (३) पपीहा पिउ पिउ भनि कित्ती रुवै
इतास |
| (४) जइ ससनेही तो मुवइ जइ जीवइ
विनेइ ४।३६७ | (४) जो ससनेही तो मुवै जो जीवै
वितु नेइ |
| (५) वप्पीहा कइ वोल्लिएण निग्घिण
वारइ वार
सागरि भरिया विमल जल लहर न
एकइ धार ४।३८२ | (५) पपीहा कै वोल्लिए निर्घुण वारहि वार
सागर मरियो विमल जल लहरै न एकौ धार |
| (६) साय सलोणी गोरडी नवली कवि
विस गण्डि ४।४२० | (६) साय सलोनी गोरी नोखी विमकै गाडि |

इस प्रकार की अनेक श्रद्धालियाँ, पत्तियाँ, दोहे व्रजभाषा से मिलते जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं, भूत क्रिया के

1 The use of the infinitive with ण (or and interrogative particle) and जाइ to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa. We find this construction in Hemchandra's illustrative stanzas and in the Parmatma Prakasa of Joidnu. The idiom is current in Modern Languages.

दोहों, जोरन्दु के परमात्मप्रकाश और सन्देशासक्त में दिखाई पड़ते हैं। यह प्रवृत्ति परवर्ती भाषा में भी दिखाई पड़ती है।¹

- (१) पर भुजगहिं न जाइ (४।४४१ हेम०)
- (२) त अकलणह न जाइ (४।३५० हेम०)
- (३) न भरणड जाइ (स० रा० ७१ क)
- (४) कहणु न जाइ (स० रा० ८१ क)

इस प्रकार के रूप ब्रजभाषा में किञ्चित् परिवर्तन के साथ प्राप्त होते हैं।

- (१) मो पै कही न जाइ (सूर० १८६८)
- (२) कह्यु समुभि न जाइ (सूर० २३२३)
- (३) सोभा वरनि न जाइ (कुभन० २३)

५—वाक्य-गठन की दृष्टि से अपभ्रंश के इन दोहों की भाषा ब्रज के और भी नजदीक मान्य होती है। मार्दव, सत्पेय, लोच और शब्दों के अत्यन्त विकसित रूपों के कारण इस भाषा का स्वरूप प्रायः पुरानी ब्रज जैसा ही है। नीचे कुछ चुने हुए वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

अपभ्रंश

ब्रज

- | | |
|---|---|
| (१) अगहि अग न मिलिउ ४।३३२ | (१) अगहि अग न मिल्लो |
| (२) हउ किन जुत्यउ दुहु दिसिहि ४।३४० | (२) ही किन जुत्यो दुहुँ दिसहिं |
| (३) वप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ
रुवहि ह्यास ४।३८२ | (३) पपीहा पिउ पिउ भनि कित्ती रुवै
ह्यास |
| (४) बइ ससनेही तो मुवइ जइ जीवइ
विजेइ ४।३६७ | (४) जो ससनेही तो मुवै जो जीवै
विजु नैइ |
| (५) वप्पीहा कइ वोल्लिएण निगिण
बारइ बार
सागरि भरिया विमल जल लहइ न
एकइ धार ४।३८२ | (५) पपीहा कै वोल्लिए निर्णण वारहि वार
सागर मरियो विमल जल लहै न एकौ धार |
| (६) सान सलोणी गोरडी भवली कवि
विस गलिउ ४।४२० | (६) साव सलोनी गोरी भोखी विमकै गाठि |

इस प्रकार की अनेक अर्द्धाक्षरियाँ, पक्षरियाँ, दोहे ब्रजभाषा से मिलते जुलते हैं। कुछ दोहों में राजस्थानी प्रभाव के कारण ण, उ, ड, आदि के प्रयोग अधिक हैं, भूत क्रिया के

1 The use of the infinitive with ण (or and interrogative particle) and जाइ to denote impossibility of performing an action because of its extreme nature is peculiarity of Apabhramsa. We find this construction in Hemchandra's illustrative atenzas and in the Parmatma Prakasa of Jomdu. The idiom is current in Modern Languages.

संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा (विक्रमी संवत् १२०० से १४०० तक)

§ ७२. आचार्य हेमचन्द्र के समय में ही शौरसेनी अपभ्रंश जनता की भाषा के सामान्य आसन से उतर चुका था। प्राचीन परम्परा के पालन करने वाले बहुत से कवि आचार्य अत्र भी साहित्यिक अपभ्रंश में रचनाये करते थे। रचनाओं का यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक चलता रहा। हेमचन्द्र के समय में शौरसेनी अपभ्रंश कुछ थोड़े से विशिष्टजन की भाषा रह गया था, यह मत कई भाषाविदों ने व्यक्त किया है। प्राकृत पिंगलम् की भाषा पर विचार करते हुए डा० एल० पी० तेसीतोरी ने लिखा है : हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी ईस्वी (स० ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है वह उनसे पहले का है इसलिए इस प्रमाण पर हम शौरसेन अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा कम से कम १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।^१ डा० तेसीतोरी की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है, वह बहुत पुष्ट नहीं मालूम होता। हेमचन्द्र व्याकरण में जीवित या प्रचलित अपभ्रंश की भी चर्चा कर सकते थे, केवल इस आधार पर कि व्याकरण ग्रन्थ लिखने वाले पूर्ववर्ती भाषा को ही स्वीकार करते हैं, हम ऊपर की मान्यता ठीक नहीं समझते। डा० तेसीतोरी का दूसरा तर्क अवश्य ही विचारणीय है। वे आगे लिखते हैं—“जिस भाषा में पिंगल सूत्र के उदाहरण लिखे गये हैं वह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा की अवस्था का पता देती है, इस परवर्ती अवस्था की केवल एक, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण विशेषता के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखते हुए मैं वर्तमान कर्मवाच्य का रूप उद्भूत कर सकता

१. तेसीतोरी; पुरानी राजस्थानों, हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा, १९५६ ई०,
पृ० ५

संक्रान्तिकालीन ब्रजभाषा

(विक्रमी संवत् १२०० से १४०० तक)

§ ७२. आचार्य हेमचन्द्र के समय में ही शौरसेनी अपभ्रंश जनता की भाषा के सामान्य आसन से उतर चुका था। प्राचीन परम्परा के पालन करने वाले बहुत से कवि आचार्य अथ भी साहित्यिक अपभ्रंश में रचनावे करते थे। रचनाओं का यह क्रम १७ वीं शताब्दी तक चलता रहा। हेमचन्द्र के समय में शौरसेनी अपभ्रंश कुछ योके से विशिष्टजन की भाषा रह गया था, यह मत कई भाषाविदों ने व्यक्त किया है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा पर विचार करते हुए डा० एल० पी० तेसीतोरी ने लिखा है : हेमचन्द्र १२ वीं शताब्दी ईस्वी (स० ११४४-१२२८) में हुए थे और स्पष्ट है कि उन्होंने जिस अपभ्रंश का परिचय दिया है वह उनसे पहले का है इसलिए इस प्रमाण पर हम शौरसेन अपभ्रंश की पूर्ववर्ती सीमा कम से कम १० वीं शताब्दी ईस्वी रख सकते हैं।^१ डा० तेसीतोरी की इस मान्यता के पीछे जो तर्क है, वह बहुत पुष्ट नहीं मालूम होता। हेमचन्द्र व्याकरण में जीवित या प्रचलित अपभ्रंश की भी चर्चा कर सकते थे, केवल इस आधार पर कि व्याकरण ग्रन्थ लिखने वाले पूर्ववर्ती भाषा को ही स्वीकार करते हैं, हम ऊपर की मान्यता ठीक नहीं समझते। डा० तेसीतोरी का दूसरा तर्क अक्षर्य ही विचारणीय है। वे आगे लिखते हैं—“जिस भाषा में पैंगल सूत्र के उदाहरण लिखे गये हैं वह हेमचन्द्र के अपभ्रंश से अधिक विकसित भाषा की अवस्था का पता देती है, इस परवर्ती अवस्था की केवल एक, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण विशेषता के उल्लेख तक ही अपने को सीमित रखते हुए मैं वर्तमान कर्मवाच्य का रूप उद्भूत कर सकता

१. तेसीतोरी; पुरानी राजस्थानी, हिन्दी अनुवाद, ना० प्र० सभा, १९५६ ई०,

पूर्व-कवि प्रयोग, प्रतीति वैषम्य और श्रुति-सुख का प्रयोग निःसंदेह प्राकृत भाषाओं के विवरण में आया है अतः इसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता इस आपत्ति का विरोध करते हुए श्री दिवेतिया का कहना है कि हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्रकृत मानी जाती है इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतों के साथ अपभ्रंश के लिए मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में वहाँ भी अपभ्रंश को भाषा नहीं कहा है और न तो उसे वे लोक भाषा ही कहते हैं। अतः 'भाषा' शब्द और 'लोकतोवगन्तया.' आदि का अर्थ दूसरा ही है यह तत्कालीन अपभ्रंशोत्तर देशभाषाओं की ओर संकेत है।

३—तीसरे प्रमाण के लिये श्री दिवेतिया ने प्राकृत या द्रव्याभ्युपगम्य (कुमारपाल चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि इस ग्रन्थ में प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण मिलते हैं, यदि वस्तुतः अपभ्रंश लोकभाषा थी तो इसके व्याकरणिक नियमों के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जन-प्रचलित भाषा नहीं थी, इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणों की पुष्टि पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। पहले और दूसरे तर्कों से यद्यपि लोक-प्रमाण की ओर संकेत मिलता है, यह भी ज्ञात होता है कि प्राकृतों के समय में भी लोक-भाषाओं की एक स्थिति थी जो साहित्यिक या शिष्टजन की प्राकृतों के कुछ विवादास्पद व्याकरणिक समस्याओं के सुलभभाव के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश को प्राकृतों के साथ एकत्र करके 'लोकभाषा' की तीसरी स्थिति का अनुमान करना उचित नहीं मान्य होता क्योंकि प्राकृतों के साथ जिसे हेमचन्द्र ने लोकभाषा कहा वे संभवतः अपभ्रंश ही थी। दिवेतिया का तीसरा तर्क अवश्य ही जाँचदार मान्य होता है। हालाँकि इसका उत्तर गुलेरीजी बहुत पहले दे चुके हैं। 'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिए या सर्वसाधारण के लिए उसने व्याकरण लिखा वे सस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों की सगति को पदों या वाक्य खण्डों में समझ लेते। उसके दिये उदाहरणों को न समझने तो सस्कृत और किताबी प्राकृत का वाङ्मय उनके सामने था, नये उदाहरण हूँद लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम या समझ में न आते। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी सस्कृत और प्राकृत आकर अर्थात् तक तो पहुँच थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावतः नाक-भा चढ़ाते थे उनके नियमों को न समझते। गुलेरी जी के इस स्पष्टीकरण में कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु उन्होंने यह निष्कर्ष समझतः अपने समय में उपलब्ध अपभ्रंश की सामग्री को देखते हुए निकाला था, अपभ्रंश के भी पचीसों आकर अथ श्वेताम्बर जैन साधुओं की अपनी परम्परा में ही प्राप्त थे। गुलेरी जी के इस निष्कर्ष का एक दूसरा पहलू भी है। गुलेरी जी प्राकृत के अन्तर्गत पूर्ववर्ता रुद्र अपभ्रंश की भी गणना करते हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश को तो वे अपभ्रंश नहीं पुरानी हिन्दी मानते हैं। वे स्पष्टतया कहते हैं : विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। इस प्रकार गुलेरी जी के मत से भी अपभ्रंश पुराने अर्थ में हेमचन्द्र के समय तक

१. पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं० २००५, पृ० २६-३०

२. वही, पृ० ८।

पूर्व-कवि प्रयोग, प्रतीति वैषम्य और श्रुति-सुख का प्रयोग निःसंदेह प्राकृत भाषाओं के विवरण में आया है अतः इसका सीधा सम्बन्ध अपभ्रंश से नहीं माना जा सकता इस आपत्ति का विरोध करने हुए भी दिवेतिया का कहना है कि हेमचन्द्र के अनुसार प्राकृत के अन्तर्गत आठवें अध्याय की सभी भाषाएँ आती हैं जो एक के बाद एक दूसरे की प्रकृत मानी जाती है इसलिए इस पूरे प्रमाण को प्राकृतों के साथ अपभ्रंश के लिए मान सकते हैं। दूसरे हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में यहीं भी अपभ्रंश को भाषा नहीं कहा है और न तो उसे वे लोक भाषा ही कहते हैं। अतः 'भाषा' शब्द और 'लोकतोवगन्तया.' आदि का अर्थ दूसरा ही है यह तत्कालीन अभ्रंशोत्तर देशभाषाओं की ओर संकेत है।

३—तीसरे प्रमाण के लिये भी दिवेतिया ने प्राकृत या द्रघाश्रयकाव्य (कुमारपाल चरित) के आधार पर यह तर्क दिया है कि इस ग्रन्थ में प्रकारान्तर से प्राकृत व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण मिलते हैं, यदि वस्तुतः अपभ्रंश लोकभाषा थी तो इसके व्याकरणिक नियमों के उदाहरण इस तरीके से बनाने की कोई जरूरत नहीं थी।

हेमचन्द्र के समय में अपभ्रंश जन-प्रचलित भाषा नहीं थी, इसे सिद्ध करने के लिए ऊपर दिए गए प्रमाणों की पुष्टि पर बहुत जोर नहीं दिया जा सकता। पहले और दूसरे तर्कों से यद्यपि लोक-प्रमाण की ओर संकेत मिलता है, यह भी ज्ञात होता है कि प्राकृतों के समय में भी लोक-भाषाओं की एक स्थिति थी जो साहित्यिक या शिष्टजन की प्राकृतों के कुछ विवादास्पद व्याकरणिक समस्याओं के सुलभत्व के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। यहाँ अपभ्रंश को प्राकृतों के साथ एकत्र करके 'लोकभाषा' की तीसरी स्थिति का अनुमान करना उचित नहीं मान्य होता क्योंकि प्राकृतों के साथ जिसे हेमचन्द्र ने लोकभाषा कहा वे सम्भवतः अपभ्रंश ही थी। दिवेतिया का तीसरा तर्क अवश्य ही जोरदार मान्य होता है। हालाँकि इसका उत्तर गुलेरीजी बहुत पहले दे चुके हैं। 'जिन श्वेताम्बर जैन साधुओं के लिए या सर्वसाधारण के लिए उसने व्याकरण लिखा वे संस्कृत प्राकृत के नियमों को, उनके सूत्रों की सगति को पदों या वाक्य खण्डों में समझ लेते। उसके दिये उदाहरणों को न समझने तो संस्कृत और कितानी प्राकृत का वाद्मय उनके सामने था, नये उदाहरण हूँद लेते। किन्तु अपभ्रंश के नियम या समझ में न आते। यदि हेमचन्द्र पूरे उदाहरण न देता तो पढ़ने वाले जिनकी संस्कृत और प्राकृत आकर अर्थात् तक तो पहुँच थी किन्तु जो भाषा साहित्य से स्वभावतः नाक-भा चढाते थे उनके नियमों को न समझने। गुलेरी जी के इस स्पष्टीकरण में कुछ तथ्य अवश्य है किन्तु उन्होंने यह निष्कर्ष समझतः अपने समय में उपलब्ध अपभ्रंश की सामग्री को देखते हुए निकाला था, अपभ्रंश के भी पचीसों आकर मध्य श्वेताम्बर जैन साधुओं की अपनी परम्परा में ही प्राप्त थे। गुलेरी जी के इस निष्कर्ष का एक दूसरा पहलू भी है। गुलेरी जी प्राकृत के अन्तर्गत पूर्ववर्ती रुढ अपभ्रंश की भी गणना करते हैं, हेमचन्द्र की अपभ्रंश को तो वे अपभ्रंश नहीं पुरानी हिन्दी मानते हैं। वे स्पष्टतया कहते हैं : विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिन्दी में परिणत हो गई। इस प्रकार गुलेरी जी के मत से भी अपभ्रंश पुराने अर्थ में हेमचन्द्र के समय तक

१. पुरानी हिन्दी, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, प्र० सं० २००५, पृ० २६-३०

२. वही, पृ० ८।

राजस्थानी चरणों की पिंगल कृतियों आदि शामिल हैं, दूसरी शैली का पता देनेवाली कोई महत्वपूर्ण कृति इस निर्धारित समय में नहीं उपलब्ध होती, किन्तु श्रौतिक ग्रंथों, उक्ति-पक्ति, बालावबोध, उक्तिरत्नाकर और अन्य स्रोतों से इस भाषा के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। पहली शैली रुढ़ होकर १७वीं तक एकदम समाप्त हो गई जब कि दूसरी शैली १४वीं शताब्दी से आरम्भ होकर ब्रजभाषा के भक्ति और रीतिकाल के अद्वितीय वैभवपूर्ण साहित्य के निर्माण का श्रेय पाकर परिनिष्ठित ब्रजभाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गई। आगे इन दोनों शैलियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ ७६ शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ट के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ट शब्द में स्वयं कोई ऐसा सन्देह नहीं जिसके आधार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ती रूप मानें। क्योंकि सस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के वाच्य में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर (१३२५ ईस्वी) विद्यापति की कर्तिलता (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगों के और पहले इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती के अहहमाण ने अपने सन्देशरासक में भाषानयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

अवहट्टय सक्य पाइयमि पेसापमि भासाप
लखण छन्दाहरेण सुकइत भूसिय जेहि
ताण उणु कईण अम्हारिसाण सुइसइसत्थ रहियाण
एखइन्द पमुक्क कुकवित को प ससेइ ।

(स० रा० ६-४७)

अहहमाण ने भी सस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ट का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने सस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। सस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग सस्कृत अलंकारियों ने एकाधिक बार किया है। पट्टभाषा प्रसंग में सस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मल कवि के श्लोक चरित की टीका से पता चलता है कि छ् भाषाओं में सस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश) मागधी, पेशाची की गणना होती थी।

सस्कृत प्राकृत चैव शूरसेनी तदुद्भवा ।

ततोऽपि मागधा प्राग्वत् पेशाची देशजापि च ॥

१. पुत्रु कइसन भाट सस्कृत प्राकृत, अवहट्ट पेशाची, शौरसेनी मागधी छहु भाषा क तरवइ, शकारी, आभिरौ, चाडाली, सावली, दाविली, भोतकली विनासिया सातहु उपभाषाक कुशलह । वर्णरत्नाकर ५५ ख
डा० सुनीतिबुमार चाडुग्याँ और बतुभा मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०
- २ सक्य चार्गा बुहजन भावइ, पाठअ रस को मग्ग न पावइ
देसिल बभता सवजन मिट्टा, स तैसन जम्पओ अवहट्टा

(कर्तिलता ११९-२२)

कर्तिलता और अवहट्ट भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०

राजस्थानी चरणों की पिंगल वृत्तियों आदि शामिल हैं, दूसरी शैली का पता देनेवाली कोई महत्वपूर्ण कृति इस निर्धारित समय में नहीं उपलब्ध होती, किन्तु श्रौतिक ग्रंथों, उत्ति-पत्ति, बालावबोध, उत्तिरलाकर और अन्य स्रोतों से इस भाषा के स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है। पहली शैली रुढ़ होकर १७वीं तक एकदम समाप्त हो गई जब कि दूसरी शैली १४वीं शताब्दी से आरम्भ होकर ब्रजभाषा के भक्ति और रीतिकाल के अद्वितीय वैभवपूर्ण साहित्य के निर्माण का श्रेय पाकर परिनिष्ठित ब्रजभाषा के रूप में सम्पूर्ण उत्तर भारत में फैल गई। आगे इन दोनों शैलियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

§ ७६ शौरसेनी अपभ्रंश का परवर्ती रूप अवहट्ट के नाम से अभिहित होता है। अवहट्ट शब्द में स्वयं कोई ऐसा सञ्ज्ञे नहीं जिसके आघार पर हम इसे शौरसेनी का परवर्ता रूप मानें। क्योंकि सस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश के वाच्य्य में जहाँ भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है इसका अर्थ अपभ्रंश ही है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर (१३२५ ईस्वी) विद्यापति की कर्तिलता^१ (१४०६ ईस्वी) के प्रयोगों के और पहले इस शब्द का उल्लेख मिलता है। १२ वीं शती के अहहमाण ने अपने सन्देशरासक में भाषानयी और उनके लेखकों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए कहा है—

अवहट्टय सक्य पाह्यमि पेसायमि भासाए
लखण छन्दाहरेण सुकइत भूसिय जेहि
ताण उणु कईण अहहारिसाण सुइसइसत्य रहियाण
लखणछन्द पमुक्क कुकवित की प ससेइ ।

(स० रा० ६-४७)

अहहमाण ने भी सस्कृत प्राकृत के साथ अवहट्ट का नाम लिया है। ज्योतिरीश्वर और विद्यापति ने सस्कृत प्राकृत के बाद ही इस शब्द का उल्लेख किया है। सस्कृत, प्राकृत के बाद अपभ्रंश शब्द का प्रयोग सस्कृत अलकारियों ने एकाधिक बार किया है। पटभाषा प्रसंग में सस्कृत प्राकृत के बाद अपभ्रंश की गणना का नियम था। मल कवि के श्लोक चरित की टीका से पता चलता है कि छ भाषाओं में सस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी (अपभ्रंश) मागधी, पेशाची की गणना होती थी।

सस्कृत प्राकृत चैव शौरसेनी तदुद्भवा ।

ततोऽपि मागधा प्राग्वत् पेशाची देशजापि च ॥

१. पुन कइसन भाट सस्कृत प्राकृत, अवहट्ट पेशाची, शौरसेनी मागधी छद्म भाषा क तत्वज्ञ, शकारी, आभिरौ, चाडाली, सावली, दाबिली, ओतकली विनासिया सातहु उपभाषाक कुशलह । वर्णरत्नाकर ५५ ख
७० सुनीतिकुमार चाहुगर्ग और चतुभा मिश्र द्वारा संपादित, कलकत्ता १९४० ई०
- २ सक्य बागी बुहजन भावइ, पाठअ रस की मम्म न पावइ
देसिल बचना सवजन मिट्टा, स तैसन जम्पओ अवहट्टा

(कर्तिलता १११६-२२)

कर्तिलता और अवहट्ट भाषा, प्रयाग, १९५५ ई०

दशीधरने इस वाक्य द्वारा अवहट्ट भाषा में निर्विमर्शिक प्रयोगों को बहुलता देकर यह चेतावनी दी है। निर्विमर्शिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अभ्रश यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दाहों में भी कम से कम हुआ है, किन्तु नव आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पड़ती है, सल्लूत, प्राकृत और अरभ्रश के वाक्यविन्यास की सविमर्शिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसगों की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्य गठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरलीव) को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैना दशीधर के सन्नेत से स्पष्ट है, अवहट्ट भाषा में वर्तमान थी, इन प्रकार दशीधर का अवहट्ट भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अरभ्रश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ट, जैना कि अरभ्रश शब्द का विकसित रूप है, क्यों १० शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अरभ्रश करते थे। अरभ्रश में निहित 'च्युति' को सञ्चय करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयम्, पुण्यदत्त, जैसे गौरवात्सव कवि इस भाषा को देशी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अरभ्रश नाम का कम से कम प्रयोग किया। सल्लूत शालाचारिकों ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का वे प्रयोग भी करते रहे, अरभ्रश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अरभ्रश अवहट्ट हो गया, प्रयोग में आते आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अरभ्रश विकसित होकर राष्ट्रभाषी हुई और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ट कहा जाने लगा। परवर्ती अरभ्रश प्राकृत प्रमाण से विवक्षित एक रूढ़ भाषा थी, परवर्ती कवियों अवहट्ट, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देसिलवचना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रसाह से अभिषिक्त करने नया रूप दे दिया, इन नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अरभ्रश नहीं अवहट्ट यानो एक संज्ञा और बाद की भाषा कहा।^१

§ ७७. शौरसेनी अरभ्रश का अप्रसारीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में पिंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ट ही पिंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक सन्नेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अरभ्रश (अवहट्ट) और पिंगल के भाषा तत्त्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ट ही पिंगल है। डा० सुनीतिङ्गुमार चाडुर्णा ने लिखा है कि 'शौरसेनी अरभ्रश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिष्ठित अरभ्रश १००० ईस्वी और व्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

१. दीह समास पत्राहा वक्रिय, सञ्चय पायय पुलिणा लक्रिय
देशी भाषा उभय तदुज्जल कविदुष्कर घग सह सिलायल (पउमचरिउ)

२. वायरणु देसि सद्ध गाड (पासगाहचरिउ)
ण विणयाभि देमी (महापुराण)

३. अवहट्ट सवधो विसृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य - लेखक की पुस्तक कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, माहिल्य भवन, प्रयाग, १९५५ ई०

वशीघरने इस वाक्य द्वारा अवहट्ट भाषा में निर्विमलिक प्रयोगों की बहुलता देखाकर यह चेतावनी दी है। निर्विमलिक पदों का प्रयोग शौरसेनी अग्रभ्रश यहाँ तक कि हेमचन्द्र के दाहों में भी कम से कम हुआ है, किन्तु नये आर्य भाषाओं में इस प्रकार की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल दिखाई पड़ती है, सल्लत, प्राकृत और अग्रभ्रश के वाक्यविन्यास की सविमलिक प्रयोग वाली विशिष्टता नई भाषाओं में समाप्त हो गई, इस अनियमितता के कारण परसगों की सृष्टि करनी पड़ी और वाक्य गठन में स्थानवैशिष्ट्य (कर्ता, कर्म, क्रिया की निश्चित तरतीब) को स्वीकार करना पड़ा। यह प्रवृत्ति जैना वशीघर के सन्त से स्पष्ट है, अवहट्ट भाषा में वर्तमान थी, इन प्रकार वशीघर का अवहट्ट भाषाशास्त्रीय विवेचन के आधार पर अग्रभ्रश के बाद की स्थिति का संकेत करता है।

इस स्थान पर एक और पहलू से विचार हो सकता है। अवहट्ट, जैना कि अग्रभ्रश शब्द का विचलित रूप है, क्यों १० शती के बाद ही प्रयुक्त हुआ। पहले के लेखक, आचार्य इस भाषा को अग्रभ्रश करते थे। अग्रभ्रश ने निहित 'च्युति' को सञ्चय करके इस भाषा के प्रेमी लेखक इसे देशी भाषा, लोक भाषा आदि नामों से अभिहित करते थे। स्वयम्, 'पुष्पदन्त', जैसे गौरवात्सव कवि इस भाषा को देशी कहना ही पसन्द करते थे, उन्होंने अग्रभ्रश नाम का कम से कम प्रयोग किया। सल्लत आलङ्कारिकों ने तिरस्कार से यह नाम इस 'पामरजन' की बोली को दिया, उसी का ये प्रयोग भी करते रहे, अग्रभ्रश उनका ही दिया नाम था। बाद में यह अग्रभ्रश अवहट्ट हो गया, प्रयोग में आते आते इसके भीतर निहित तिरस्कार की भावना समाप्त हो गई। अग्रभ्रश विकसित होकर राष्ट्रभाषी हुई और उसका निरन्तर विकासमान रूप बाद में अवहट्ट कहा जाने लगा। परवर्ती अग्रभ्रश प्राकृत प्रमाण से निजडित एक रूढ भाषा थी, परवर्ती कवियों अहहमाण, विद्यापति या प्राकृत पैंगलम् के लेखक ने इसे 'देविल्लवचना' के स्तर पर उतार कर लोकप्रनाह से अभिपिक्त करते नया रूप दे दिया, इन नये और विकसित रूप की भाषा को इन कवियों ने अग्रभ्रश नहीं अवहट्ट यानो एक सौदी और बाद की भाषा कहा।^१

§ ७७. शौरसेनी अग्रभ्रश का अप्रसरीभूत रूप यानी अवहट्ट राजस्थान में विंगल नाम से प्रसिद्ध था। अवहट्ट ही विंगल था इस बात का कोई प्रामाणिक संकेत उपलब्ध नहीं होता, किन्तु परवर्ती पश्चिमी अग्रभ्रश (अवहट्ट) और विंगल के भाषा तत्त्वों की एकरूपता देखकर भाषाविदों ने यह स्वीकार किया कि अवहट्ट ही विंगल है। डा० सुनीतिङ्गुमार चाटुर्जा ने लिखा है कि 'शौरसेनी अग्रभ्रश का कनिष्ठ रूप, जो भाषिक गठन और साधारण आकार-प्रकार की दृष्टि से परिनिर्मित अग्रभ्रश १००० ईस्वी और व्रजभाषा १५०० ई० के बीच की

१. दाह समाप्त पत्राहा सक्रिय, सक्रय पायय पुलिगा लक्रिय
देशी भाषा उभय तदुज्जल कविदुष्कर घग सह सिलायल (पञ्चमचरित)
२. धायरणु देसि सद्य गाड (पासगाहचरित)
ण विगयामि देमी (महापुराण)
३. अवहट्ट सबधो विल्लुत विवेचन के लिए द्रष्टव्य - लेखक की पुस्तक कोतिलता
और अवहट्ट भाषा, साहित्य भवन, प्रयाग, १९५५ ई०

शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही हैं अतएव पिंगल शब्द ब्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए।^१ ऊपर का निर्णय कतिपय उन विद्वानों के मतों के विरोध में दिया गया है जो पिंगल को ब्रजभाषा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-पिंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से सम्भव है। बाद में तुक मिलाने के लिए पिंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता शैली का नाम है।^२ श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्री जी के मत को एकदम निराधार मानते हैं। क्योंकि शास्त्री जी ने अल्लू जी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकड़ा उसमें भाषा की कोई बात नहीं है।^३ किन्तु शास्त्री जी ने भी भाषा की बात नहीं कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थी है, सम्भवतः इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डगल कही जाती रही होगी, बादमें पिंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्री जी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवतः तेसीतारी ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणों और लेखकों के गढ़े हुए किसी अद्भुत शब्द रूप से। डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमों का अनुसरण नहीं करता। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और छन्दशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे पिंगल कहा गया और इसे डिंगल।^४ दोला मारू रा दूहा के सम्पादक गण पिंगल और डिंगल के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखते हैं : डिंगल नाम बहुत पुराना नहीं है, जब ब्रजभाषा साहित्य-सम्पन्न होने लगी और सूरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वाच्च आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पड़ी, इस प्रकार ब्रज या ब्रजमिश्रित भाषा में जो रचना हुई वह पिंगल कहलाई। आगे चलकर उसके नाम साम्य पर पिंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी।^५ इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और पिंगल के तुकसाम्य पर जोर दिया गया है और पिंगल को डिंगल का पूर्ववता बताया गया है।

§ ७९. डा० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतों की परस्पर विरोधी विचार श्रृङ्खला में साम्य की कोई गुंजाइश नहीं मालूम होती। वर्माजी का मत अति शीघ्रता-जन्य और प्रमाणहीन मान्य होता है। यदि डिंगल काव्य ब्रजभाषा से प्राचीन है और बाद में ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गई जिम्के लिए डिंगल और पिंगल जैसे नाम सुनने की जरूरत आ गई। 'ब्रजभाषा में काव्य रचना होने के

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, सशोधित स०, १९५४, पृ० १३१-४०
२. पिल्लिभिनेरी रिपोर्ट आन द आपरेगन इन सर्वं भाव मैन्युरिक्ट्स आव वॉडिंक फ्लोमक्रिडस, पेज १५
३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७
४. जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी अथ बेंगल, भाग १०, १९१४, पृ० ३७६
५. दोला मारू रा दूहा, काशी, सवत् १९६१, पृ० १६०

शास्त्र ही है और न तो उसमें रचित काव्य छन्द-शास्त्र के नियमों के निरूपण के लिए ही हैं अतएव विंगल शब्द ब्रजभाषा काव्य के लिए एक प्रकार से अनुपयुक्त ही माना जाना चाहिए।^१ ऊपर का निरूपण कतिपय उन विद्वानों के मतों के विरोध में दिया गया है जो विंगल को ब्रजभाषा का पुराना रूप कहते हैं और उसे डिंगल से प्राचीन मानते हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने डिंगल-विंगल के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा कि डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति 'डगल' शब्द से सम्भव है। बाद में तुक मिलाने के लिए विंगल की तरह इसे डिंगल कर दिया गया। डिंगल किसी भाषा का नाम नहीं है, कविता शैली का नाम है।^२ श्री मोतीलाल मेनारिया शास्त्री जी के मत को एकदम निराधार मानते हैं। क्योंकि शास्त्री जी ने अल्लू जी चारण के जिस छन्द से इस शब्द को पकड़ा उसमें भाषा की कोई बात नहीं है।^३ किन्तु शास्त्री जी ने भी भाषा की बात नहीं कि उन्होंने स्पष्ट कहा कि डगल शब्द मरुभूमि का समानार्थक है, सम्भवतः इसी आधार पर मरुभूमि की भाषा डगल कही जाती रही होगी, बादमें विंगल से तुक मिलाने के लिए इसे डिंगल कर दिया गया। शास्त्री जी के इस 'डगल' शब्द को ही लक्ष्य करते हुए सम्भवतः तेसीतारी ने कहा कि डिंगल का न तो डगल से कोई सम्बन्ध है न तो राजस्थानी चारणों और लेखकों के गढ़े हुए किसी अदसुत शब्द रूप से। डिंगल एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ है 'अनियमित' अर्थात् जो छन्द के नियमों का अनुसरण नहीं करता। ब्रजभाषा परिमार्जित थी और छन्दशास्त्र के नियमों का अनुसरण करती थी, इसलिए उसे विंगल कहा गया और इसे डिंगल।^४ ढोला मारू रा दूहा के सम्पादक गण विंगल और डिंगल के सम्बन्धों पर विचार करते हुए लिखते हैं : डिंगल नाम बहुत पुराना नहीं है, जब ब्रजभाषा साहित्य-सम्पन्न होने लगी और सुरदासादि ने उसको ऊँचा उठाकर हिन्दी क्षेत्र में सर्वांग आसन पर बिठा दिया तो उसकी मोहिनी राजस्थान पर भी पड़ी, इस प्रकार ब्रज या ब्रजमिश्रित भाषा में जो रचना हुई वह विंगल कहलारं। आगे चलकर उसके नाम साम्य पर विंगल से भिन्न रचना डिंगल कहलाने लगी।^५ इस प्रकार के और भी अनेक मत उद्धृत किये जा सकते हैं जिसमें डिंगल और विंगल के तुकसाम्य पर जोर दिया गया है और विंगल को डिंगल का पूर्ववता बताया गया है।

§ ७९. डा० वर्मा के निष्कर्ष और ऊपर उद्धृत कुछ मतों की परस्पर विरोधी विचार शृङ्खला में साम्य की कोई गुंजाइश नहीं मालूम होती। वर्माजी का मत अति शीघ्रता-क्षम्य और प्रमाणहीन मान्य होता है। यदि डिंगल काव्य ब्रजभाषा से प्राचीन है और बाद में ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई तो दोनों में एकाएक कौन-सी उलझन पैदा हो गई जिसके लिए डिंगल और विंगल जैसे नाम चुनने की जरूरत आ गई। 'ब्रजभाषा में काव्य रचना होने के

१. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, सशोधित स०, १९५४, पृ० १३६-४०

२. विलीमिनेरी रिपोर्ट आन द भापरेशन इन सर्व आव मैन्युस्क्रिप्ट्स आन वॉर्डिक फोनकिलस, पेज १५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० १७

४. जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी अव बेंगल, भाग १०, १९१४, पृ० ३७६

५. ढोला मारू रा दूहा, काशी, सवत् १९६१, पृ० १६०

अपभ्रंश में भी। किन्तु प्राकृत से गाहा और गाहा से प्राकृत का अभेद्य सम्बन्ध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाहा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल गाहा कह देने से प्राकृत का बोध होने लगा। अपभ्रंश कालमें उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था। परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में काव्य-रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड़ गया। अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ।

'द्वयसहायपयास' यानी 'द्वयस्वभाव प्रकार' के कर्ता माहल्लषवल ने किमी शुभकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गाथाबन्ध में किया था—

द्वयसहायपयास दोहयवधेन भासिज दिदुं
त गाहाबन्धेन च रहय माहल्लषवलेण ।
सुणियठ दोहरत्य सिग्ध हसिउण सुदकरो भणइ
एथ ण सोहइ अयो साहावधेण त भणइ ॥

प्राकृत को आर्य या धर्म वाली समझने वाले शुभकर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक भी चढ़ाना उचित ही था। भला कौन कट्टर धर्म प्रेमी बर्दास्त करेगा कि कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ गँवारू बोली में लिखा जाय। यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रंश की ओर सनेत स्पष्ट है। प्रबन्धचिन्तामणि के एक प्रसङ्ग में दो भाषा-अपभ्रंश कवि आपस में होडा होडी करते हैं जिसे लेखक ने 'दोहाविद्या स्पर्धमानो' कहा है। उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक सोरठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है। परवर्ती काल में 'रेखता' छन्द में लिखी जाने वाली आरम्भिक हिन्दी को 'रेखता' भाषा कहा गया। 'रेखते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब' कहने वाले शायर ने पुराने मीर को भी रेखता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है। इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं।

§ ८२ ब्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है। यह भ्रमण्डा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खड़ा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो। जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सदा रूप से यह बताते हैं कि गद्य में ब्रज मिश्रित (पछाही) खड़ी हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खड़ी बोली में ही नहीं सकती थी, ऐसी मन्थता थी उस काल के लेखकों की। बहुत पहले मध्ययुग में भी ब्रजभाषा के घर में यही भगडा हुआ था। उस समय ब्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकांशतः) की भाषा थी वर कि उसी का किञ्चित् परवर्ती मजा हुआ रूप परवता शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। शौरसेनी और महाराष्ट्री के इस सन्ध पट्ट हम पीछे विस्तृत विचार कर चुके हैं। मध्यकाल के अंतिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे पश्चिमी उत्तर भारत में छाँटा गया था। बंगाल के सिद्धा के दाहे इस भाषा की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इस काल में यही भाषा छन्द

अपभ्रंश में भी। किन्तु प्राकृत से गाढ़ा और गाढ़ा से प्राकृत का अभेद सम्बन्ध है, परिणाम यह हुआ कि 'गाढ़ा' का अर्थ ही प्राकृत भाषा हो गया। केवल गाढ़ा पढ़ देने से प्राकृत का बोध होने लगा। अपभ्रंश कालमें उसी प्रकार दूहा या दोहा सर्वश्रेष्ठ छन्द था। परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में काव्य-रचना का नाम दोहा-विद्या ही पड़ गया। अपभ्रंश का नाम 'दूहा' इसी छन्द के कारण कल्पित हुआ।

'द्वयसहायपयास' यानी 'द्वयस्वभाव प्रकार' के कर्ता माहल्लषवल ने किमी शुभकर नामक व्यक्ति की आपत्ति पर दोहाबन्ध यानी अपभ्रंश में लिखे हुए पद्य को गायान्ध में किया था—

द्वयसहायपयास दोह्यवधेन भासिज दिदुं
त गाहाबन्धेय च रह्य माहल्लषवलेण ।
सुणियत दोहरत्य सिग्ध हसिउण सुदकरो भणइ
एत्य ण सोइइ अयो सादावधेण त भणइ ॥

प्राकृत को आर्य या धर्म वाणी समझने वाले शुभकर का दोहाबन्ध या अपभ्रंश पर नाक भी चढ़ाना उचित ही था। मला कौन कदर धर्म प्रेमी बदास्त करेगा कि कोई पवित्र धर्म ग्रन्थ गँवारू बोली में लिखा जाय। यहाँ गाथा से प्राकृत और दूहा से अपभ्रंश की ओर सनेत स्पष्ट है। ग्रन्थचिन्तामणि के एक प्रसङ्ग में दो भाषा-अपभ्रंश कवि आपत्त में होडा होडी करते हैं जिसे लेखक ने 'दोहाविद्यया स्पर्धमानो 'कहा है। उनकी कविताओं में एक-एक दोहा है एक सारठा किन्तु इसे 'दोहा विद्या' ही कहा गया है। परवर्ती काल में 'रेखता' छन्द में लिखी जाने वाली आरम्भिक हिन्दी को 'रेखता' भाषा कहा गया। 'रेखते के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब' कहने वाले शायर ने पुराने मीर को भी रेखता का पहुँचा हुआ उस्ताद स्वीकार किया है। इस प्रकार एक छन्द के आधार पर भाषाओं के नाम परिवर्तन के उदाहरण मिलते हैं।

§ ८२ ब्रजभाषा सदैव से ही काव्य की भाषा मानी जाती रही है। यह भगवा केवल भारतेन्दु युग में ही नहीं खडा हुआ कि गद्य और पद्य की भाषा जुदा-जुदा हो। जुदा-जुदा इस अर्थ में नहीं कि दोनों का कोई साम्य हो ही नहीं—गद्य और पद्य की भाषा के प्राचीन भारतेन्दुकालीन नमूने सहज रूप से यह बताते हैं कि गद्य में ब्रज मिश्रित (पछाही) खडो हिन्दी का प्रयोग होता था किन्तु कविता तो खडो बोली में ही नहीं सचती थी, ऐसी मन्थता थी उस काल के लेखकों की। बहुत पहले मध्ययुग में भी ब्रजभाषा के धर में यही भगवा हुआ था। उस समय ब्रजभाषा की दादी शौरसेनी प्राकृत केवल गद्य (अधिकारात) की भाषा थी वर कि उसी का किञ्चित् परवर्ती भजा हुआ रूप परवता शौरसेनी प्राकृत या महाराष्ट्री केवल पद्य की भाषा मानी जाती थी। शौरसेनी और महाराष्ट्री के इस सन्ध पर हम पीछे विस्तृत विचार कर चुके हैं। मध्यकाल के अंतिम स्तर पर प्राचीन शौरसेनी अपभ्रंश या विकसित साहित्यिक भाषा के रूप में सारे पश्चिमी उत्तर भारत में छा गया था। बंगाल के सिद्धा के दाहे इस भाषा की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। इस काल में यही भाषा छन्द

१. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, पृष्ठ १५७

नागवानी क्या थी, विंगलचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शाल का क्या प्रणयन किया ? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तर हैं क्योंकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। नाग लोग पाताल के रहने वाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया। मध्यकाल के कथाखानों में नाग जाति के पुररों और विशेषकर नाग-कन्दाओं के साथ अर्त्तरय निबन्धनी कथाएँ लिनी हुई हैं। नाम-जाति के मूल स्थान के बारे में काफी विवाद है। पाताल सम्भवन कश्मीर के पाददेश का नाम था। वेदां में इस जाति का नाम नहीं आता। मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की आर आने वाला कई जातियां में एक नाग भा ये। महाभारत के निनाग तक उनका अधिकार और आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था। बादक कथाओं में भी नाग जाति के सन्दर्भ भरे पड़े हैं। गौतम बुद्ध के बधि सम्प्राप्ति के समय उत्थिन त्दान में नागराज मुचिन्द्र ने उनकी रक्षा की। पश्चिमी और दक्षिण भारत के बहुतसे छूटे-छाटे राजे अपने को नागों का वंशज बताने हैं।^१ इस प्रकार लगता है कि नागों की एक अर्थ कराला ज्ञान विज्ञाने वाली धूमन्तु जाति थी, आमार, गुर्जर आदि की तरह इनका भी बहुत बड़ा सांस्कृतिक महत्व है। ब्रजभाषा में मिश्रित होने वाले अन्य भाषिक तत्त्वों की चचा करने हुए मिश्रितरास काव्य निर्माण में नाग भाषा का भा उल्लेख करते हैं—

ब्रजभाषा भाषा रचिर कहै सुमति सर कोइ
मिलै ससृत्त पारसिहु पँ अति प्रगट जु होइ
ब्रज भाषाधी मिलै अमर नाग जवन भाखानि
सहज फारसी हू मिलै प् विवि कहत बखानि ।

काव्यनिर्णय १११५

जवन भाषाओं के साथ नाग-भाषा को रखकर लेखक ने विदेशी या बाहर से आई हुई जाति की भाषा का संकेत किया है। पर यह नाग भाषा क्या थी, इसका आगे कोई पता नहीं चलता। मिर्जा खॉं ने ईस्वी सन् १६७६ में ब्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा। यह ग्रन्थ प्रन्थ नहीं है बल्कि उनके मसहूर, तुर्कत उल हिन्द का एक भाग है। इस ग्रन्थ में विषय की दृष्टि से ब्रजभाषा व्याकरण, छन्द, ध्वन्य-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद, सर्गित, कामशास्त्र, सांयुक्तिक तथा फारसी-ब्रजभाषा शब्द आदि विभाग हैं। प्राकृत को मिर्जा खॉं ने पाताल या नाग वानी कहा है। यह प्राकृत क्या है ? प्राकृत का यहाँ अर्थ वही नहीं है चा

1 Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kasyapa born to people of Patala or Kashmir valley

Standard Dictionary of Folklore Mythology and Legends New York 1950 pp 730

2 Ibid pp 780

३. यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसका सबसे पहला परिचय पर विलियम जोन्स ने अपने लेख 'बान दी म्यूजिकल मोड्स आव दा हिन्दूस' में १७८४ में उपस्थित किया। बाद में इस ग्रन्थ का व्याकरण नाग शान्तिनिकेतन के मौलवी जियाउद्दान ने १८३५ ईस्वी में 'ए प्रामर भाष दी ब्रज' के नाम से प्रकाशित कराया।

नागवानी क्या थी, विंगणचार्य कब हुए और उन्होंने पिंगल शास्त्र का क्या प्रणयन किया ? ये सब सवाल अद्यावधि अनुत्तर हैं क्योंकि इनके उत्तर के लिए कोई निश्चित आधार नहीं मिलता। नाग लोग पाताल के रहने वाले कहे जाते हैं, इसलिए नागवानी को पतालवानी भी कहा गया। मध्यकाल के कथाखानों में नाग जाति के पुरुषों और विशेषकर नाग-कन्याओं के साथ असंख्य निबन्धनी कथाएँ लिखी हुई हैं। नाम-जाति के मूल स्थान के बारे में काफी विवाद है। पाताल सम्भवतः कश्मीर के पाददेश का नाम था। वेदां में इस जाति का नाम नहीं आता। मध्यकाल में उत्तर-पश्चिम से मध्यदेश की आर आने वाला कई जातियाँ में एक नाग भाषा थी। महाभारत के निनाग तक उनका अधिकार श्रौर आक्रमण हस्तिनापुर तक होने लगा था। जातक कथाओं में भी नाग जाति के सम्पर्क भरे पड़े हैं। गौतम बुद्ध के बधि सम्प्रति के समय उत्पन्न ज्ञान में नागयज्ञ मुक्तिचिन्दा ने उनकी रक्षा की। पश्चिमी और दक्षिण भारत के बहुत-से छूटे-छूटे राजे अपने को नागों का वंशज बताने हैं। इस प्रकार लगता है कि नागों की एक अर्थ कथना ब्रजवन विनाने वाली घूमन्तु जाति थी, आमार, गुर्जर आदि की तरह इनका भी बहुत बड़ा सांस्कृतिक महत्व है। ब्रजभाषा में मिश्रित होने वाले अन्य भाषिक तत्वों की खचा करने हुए मिथ्यादीश काय निर्माण में नाग भाषा का भा उल्लेख करते हैं—

ब्रजभाषा भाषा रचिर कहै सुमति सब कोइ
मिलै सस्कृत पारसिहु पं अति प्रगट जु होइ
ब्रज भाषा भी मिलै अमर नाग ब्रजवन भाखानि
सहज फारसी हू मिलै पत् विधि कहत बखानि ।

काव्यनिर्णय १११५

ब्रज भाषाओं के साथ नाग-भाषा को रखकर लेखक ने विदेशी या बाहर से आई हुई जाति की भाषा का संकेत किया है। पर यह नाग भाषा क्या थी, इसका आगे कोई पता नहीं चलता। मिर्जा खाँ ने ईस्वी सन् १६७६ में ब्रजभाषा का एक व्याकरण लिखा। यह अल्प ग्रन्थ नहीं है बल्कि उनके मशहूर, तुर्कत उल हिन्द का एक भाग है। इस ग्रन्थ में विषय की दृष्टि से ब्रजभाषा व्याकरण, छन्द, काव्य-शास्त्र, नायक-नायिका-भेद, सर्ग्यत, कामशास्त्र, सांयुक्तिक तथा पारसी-ब्रजभाषा शब्द आदि विभाग हैं। प्राकृत को मिर्जा खाँ ने पाताल या नाग वानी कहा है। यह प्राकृत क्या है ? प्राकृत का यहाँ अर्थ वही नहीं है या

1. Mythological Nagas are the sons of Kadru and Kasvapa born to people of Patala or Kashmir valley
Standard Dictionary of Folklore, Mythology and Legends New York
19०० pp 730

2. Ibid pp 780

३. यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसका सबसे पहला परिचय भर विलियम जोन्स ने अपने लेख 'ब्रज की म्यूजिकल मोड्स काव्य का हिन्दू' में १७८४ में उपस्थित किया। बाद में इस ग्रन्थ का व्याकरण नाग शान्तिनिकेतन के सीधवी जियाउद्दान ने १९३५ ईस्वी में 'ए ग्रामर काव्य की ब्रज' के नाम से प्रकाशित कराया।

§ ८५. न० ३ : यानी अदहदु भाषा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है । सदेशरासक सभवतः सत्रसे पहला ग्रन्थ है जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ । कवि अदहमाण रचित इस महत्त्वपूर्ण काव्यग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १९४५ में सिंधी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डा० हरिवल्लभ भाषाणी के सम्पादकत्व में हुआ । सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं जो पाटण, पूना (भडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और डिमार (पंजाब) में लिखी गई थीं । तीनों प्रतियों के लिपिकार जैन थे । इनमें से पूना और पंजाब की प्रति में संस्कृत छाया या अवचूरिका भी सलग्न है । किन्तु पूना प्रति के वार्तिककार नयनमुद्र और पंजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनों ही संस्कृत के जानकार नहीं भालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से मद्दज काम चलाऊ कही जा सकती हैं । पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज नहीं मानता और इसका सारा श्रेय किसी गाहड़ क्षत्रिय को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था । इन दो प्रतियों के अलावा धीकानेरसे भी एक खडित प्रति प्राप्त हुई है । जयपुर के आमेर भाडार में भी अदहमाण के सन्देशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो समयतः उपर्युक्त प्रतियों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकती । क्योंकि केवल पंजाब की प्रति को छोड़कर यह अन्य प्रतियों से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ सवत् में लिखी । संस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफी स्पष्ट है । दिगम्बर जैन मंदिर (तेरह पथियों का) जयपुर के शास्त्रभाडार में उक्त प्रति (बे० न० १८२८) संचित है । इस प्रति का उपयोग नहीं किया गया ।

अदहमाण को टीकाकारों की अवचूरिका के आधार पर अन्दल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकालसे प्रसिद्ध म्लेच्छ देश में उत्पन्न मीरसेन के पुत्र थे ।

पचाएसि पहुओ पुब्व पसिद्धो य मिच्छदेशीधि

तह विसए सम्भूओ आरहो मीरसेणस्स ॥३॥

तह तणओ कुलकमलो पाइय कवेसु गीयविसयेसु

अदहमाण पसिद्धो सनेह रासय रइयं ॥४॥

उसी मीरसेण के पुत्र कुलकमल अदहमाण ने जो प्राकृत काव्य और गीति विषय में प्रसिद्ध था, सन्देशरासक की रचना की ।

ऊपर की गाथाओं से अदहमाण का अर्थ अन्दलरहमान और मिच्छदेश का म्लेच्छदेश केवल इसीलिए सम्भव है कि संस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है । आरह का श्रयं जुलाहा दिया है जिसका सन्धान अन्यत्र षडिनाई से प्राप्त होगा । इस अदहमाण के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं है । ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अदहमाण को मुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है । महमूद के आक्रमण के बाद मुल्तान एक दम विध्वस्त हो गया था; उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गई थी । सन्देशरासक में मुल्तान (मूलस्थान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अतः यह आक्रमण के पहले के मुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनि जी के मत से अदहमाण मुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है । स्तम्भतीर्थ या खम्भात का भी नाम आता है । सन्देशरासक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी सन्देश लिए है जिसका पति घनलोभ से खम्भात

§ ८५. न० ३ : यानी अहहृद् भाषा का कुछ परिचय पहले दिया जा चुका है। सदेशरासक सभयतः सबसे पहला ग्रन्थ है जिसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ। करि अहहृद्भाषा रचित इस महत्वपूर्ण काव्यग्रन्थ का प्रकाशन ईस्वी सन् १६४५ में सिंधी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत मुनिजिनविजय और डा० हरिवल्लभ भाषाणी के सम्पादकत्व में हुआ। सम्पादक को इस ग्रन्थ की तीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई थीं जो पाटण, पूना (भडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट) और दिमार (पंजाब) में लिखी गई थीं। तीनों प्रतियों के लिपिकार जैन थे। इनमें से पूना और पंजाब की प्रति में सस्कृत छाया या अवचूरिका भी सलम है। किन्तु पूना प्रति के वार्तिककार नयनमुद्र और पंजाब प्रति का टिप्पणकार लक्ष्मीचन्द्र दोनों ही संस्कृत के जानकार नहीं मालूम होते इसलिए ये टीकाएँ व्याकरण की दृष्टि से भ्रष्ट और अर्थ की दृष्टि से महज काम चलाऊ कही जा सकती हैं। पूना प्रति का टीकाकार अर्थ को भी अपनी चीज नहीं मानता और इसका सारा श्रेय किसी गृह्यज्ञ को अर्पित करता है, जिससे उसने अर्थ सीखा था। इन दो प्रतियों के अलावा बीकानेर से भी एक खडित प्रति प्राप्त हुई है। जयपुर के आमेर भाडार में भी अहहृद्भाषा के सन्देशरासक की एक प्रति उपलब्ध है जो समस्तः उपर्युक्त प्रतियों से कम महत्वपूर्ण नहीं कही जा सकती। क्योंकि केवल पंजाब की प्रति को छोड़कर यह अन्य प्रतियों से प्राचीन है जिसे जैन माणिक्यराज ने सलीम के शासनकाल में १६०८ सवत् में लिखा। सस्कृत टीका भी दी हुई है जो काफी राष्ट है। दिगम्बर जैन मंदिर (तेरह पथियों का) जयपुर के शास्त्रभाडार में उक्त प्रति (वे० न० १८२८) सरक्षित है। इस प्रति का उपयोग नहीं किया गया।

अहहृद्भाषा को टीकाकारों की अवचूरिका के आधार पर अन्दल रहमान कहा गया है जो पश्चिम दिशा में स्थित पूर्वकालसे प्रसिद्ध ग्लेच्छ देश में उत्पन्न मीरसेन के पुत्र थे।

पञ्चासि पद्वो पुत्र पसिदो य मिच्छदेशीरिय

तह विसए सम्भूओ आरहो मीरसेणस्स ॥३॥

तह तगओ कुलकमलो पाइय कन्वेसु गीयविसयेसु

अहहृद्भाषा पसिदो सनेद रासय रइयं ॥४॥

उसी मीरसेन के पुत्र कुलकमल अहहृद्भाषा ने जो प्राकृत काव्य और गीति विषय में प्रसिद्ध था, सन्देशरासक की रचना की।

ऊपर की गाथाओं से अहहृद्भाषा का अर्थ अन्दल रहमान और मिच्छदेश का ग्लेच्छदेश केवल इसीलिए सम्भव है कि सस्कृत अवचूरिका में ऐसा लिखा है। आरह का अर्थ गुलाहा दिया है जिसका सन्धान अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा। इस अहहृद्भाषा के रचनाकाल के विषय में भी कोई निश्चित मत नहीं है। ग्रन्थ के सम्पादक श्री मुनिजिनविजय ने अहहृद्भाषा को मुल्तान महमूद के किञ्चित् पहले का अनुमानित किया है। महमूद के आक्रमण के बाद मुल्तान एक दम विध्वस्त हो गया था, उसकी समृद्धि और सुन्दरता नष्ट हो गई थी। सन्देशरासक में मुल्तान (मूलस्थान) का अत्यन्त भव्य चित्रण किया गया है अतः यह आक्रमण के पहले के मुल्तान का ही चित्रण हो सकता है, इसलिए मुनि जी के मत से अहहृद्भाषा मुल्तान महमूद के पहले का प्रमाणित होता है। स्तम्भतीर्थ या खम्भात का भी नाम आता है। सन्देशरासक विजयनगर की किसी विरहिणी का भी सन्देश लिए है जिसका पति घनलोभ से खम्भात

कर्तव्य मानने थे। सन्देशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति सरलित होती है।

सन्देशरासक की भाषा, लेखक की अतिसाहित्यिक और पाण्डित्यपूर्ण रुचि के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत प्रभावामय और रूढ़ है। हागर्कि उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जो न तो बहुत परिष्ठित है न तो बहुत मूर्ख, उन सामान्यजनों के लिए वाच्य करता हूँ।

णहु ररहइ उरुा कुकविस रसि

अडुहलमि भवुहइ णहु पवेसि

जिग मुक्क ण पडिय मज्जदार

तिह पुरउ पठिबुवउ सव्यवार

(स० रा० २१)

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी कृति में प्राकृति भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रयान हो गया है। हाँ एक बात अवश्य बहुत महत्व की है। वह है प्राकृत के साथ ही साथ अप्रसारीभूत अपभ्रंश या शब्दद्वय के दाहों का प्रयोग। वैसे तो लेखक को परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दों की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक भाषा के कुछ तत्व यदीत हुए हैं किन्तु दोहों की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पड़ती है। इस ग्रन्थ की भूमिका में डा० हरिपल्लभ नायाथी भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे - जैसा स्मान-स्थान पर संकेत किया गया है सन्देशरासक ने दोहों की भाषा कई बातों में ग्रन्थ के मूल हिस्सों की भाषा से भिन्न प्रतीत होता है। यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दोहा की भाषा प्रति निरुद्ध और समान तथा साथ ही उससे कहीं ज्यादा विकसित और बड़ी हुई भाषा होती है।¹ दोहों की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अप्रसारीभूत क्या है ?

§ ८७. प्रेम का विरह काव्या में लोकगीतों के प्रयोग की प्रवृत्ति बिल्कुल नई नहीं है। लोकगीतों में प्रेम की एक सहज व्यञ्जना, स्मृतियों की अनलकृत विवृति और वेदना की जिननी गहरी अभिव्यक्ति सम्भव है, उतनी अभिजात भाषा में नहीं हो सकती, इसीलिए परिनिष्ठित भाषाओं में लिखे कार्यों में भी लोकगीतों के प्रयोग का कम से कम उनके अनुकरण पर उनकी ध्वनि या आत्मा को बौधने का प्रयत्न किया जाता है। विरमोर्वशीय में राधा की कातरता और विरहपीडा की व्यञ्जना को व्यक्त करने के लिए तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग किया गया था, और यह दोहा अपभ्रंश का सबसे पुराना दोहा माना जाता है। सन्देशरासक में प्रायः लेखक दोहों का प्रयोग अत्यन्त तीव्र भावाकुल संवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ही

1 As suggested at relevant places that the language of the dohas of S R differs in several points from that of the main portions of the text and it is closely allied to though more advanced than the language of the dohas of Hemchandra

कर्तव्य मानने थे। सन्देशरासक की तरह अन्य भी बहुत से ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति सन्निहित होती है।

सन्देशरासक की भाषा, लेखक की अस्तिताहित्यिक और पाण्डित्यपूर्ण इच्छा के कारण, अत्यन्त परिनिष्ठित, प्राकृत प्रभाषापर और रूढ़ है। हाकिम उसने ग्रन्थारम्भ में यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की भाषा न अत्यन्त कठिन है और न तो अत्यन्त सरल, जान न तो बहुत परिष्कृत है न तो बहुत मूर्त, उन सामान्यजनों के लिए कव्य करता हूँ।

गडु रद्व बुदा कृकवित्त रसि

अबुहचगि अबुहद गडु पवेसि

जिग मुनस्य ण पडिय मज्जदार

विह पुरउ पठिद्वउ सव्यवार

(स० रा० २१)

किन्तु इस सामान्य जन के लिए लिखी वृत्ति में प्राकृति भाषा का मूल रूप ही ज्यादा प्रचलन हो गया है। हाँ एक बात अवश्य बहुत महत्व की है। वह है प्राकृत के साथ ही साथ अप्रसारीभूत अपभ्रंश या अबहद के दाहों का प्रयोग। वैसे तो लेखक की परिनिष्ठित अपभ्रंश वाले छन्दों की भाषा में भी तत्कालीन विकसनशील लोक भाषा के कुछ तत्व गृहीत हुए हैं किन्तु दाहों की भाषा तो एकदम ही नवीन और लोक भाषा की ओर अतीव उन्मुख दिखाई पड़ती है। इस ग्रन्थ की भूमिका में डा० हरिवल्लभ भाषाशास्त्री भाषा का विश्लेषण करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे - जैसा रमान-स्थान पर सन्नेत किया गया है सन्देशरासक ने दाहों की भाषा कई बातों में ग्रन्थ के मूल हिस्सा की भाषा से भिन्न प्रतीत होती है। यह भाषा एक ओर हेमचन्द्र के दाहों की भाषा प्रति निम्न और समान तथा साथ ही उससे कहीं ज्यादा विकसित और बड़ी हुई माझम होती है।¹ दाहों की भाषा ग्रन्थ की मूल भाषा से विकसित और अपसरोभूत क्या है ?

§ ७७. प्रेम या विरह काव्या में लोक गीतों के प्रयोग की पद्धति बिल्कुल नई नहीं है। लोकगीतों में प्रेम की एक सदाज व्यञ्जना, स्थितियों की अनलभूत चित्रित और वेदना की जिनगी गहरी अभिव्यक्ति सम्भव है, उतनी अभिजात भाषा में नहीं हो सकती, इसीलिए परिनिष्ठित भाषाओं में लिखे काव्यों में भी लोकगीतों के प्रयोग का कम से कम उनके अनुकरण पर उनकी ध्वनि या आत्मा को बाँधने का प्रयत्न किया जाता है। विन्नोपदेशीय में राधा की काव्यता और विरह-पीडा की व्यञ्जना को व्यक्त करने के लिए तत्कालीन लोक-भाषा का प्रयोग किया गया था, और वह दाहों अपभ्रंश का सबसे पुराना दाह माना जाता है। सन्देशरासक में प्रायः लेखक दाहों का प्रयोग अत्यन्त सीधे भावाबुल सवेदना की अभिव्यक्ति के लिए ही

1 As suggested at relevant places that the language of the dohas of S. R. differs in several points from that of the main portion of the text and it is closely allied to though more advanced than the language of the dohas of Hemacandra

चिरगय (१८१ क < चिरगय < चिरगत), समय (२०८ < समय), परवस (२१० ग < परवस < परवश) दलन्वहल (११ क < दलवहल) तम्माळ (५६ ग < तमाल), तुस्सार (१८४ घ < तुस्सार < तुषार) आदि ।

§ ८६. स्वरसंकोचन (Vowel Contrachon) आधुनिक भाषाओं में स्वर-संकोच का अत्यन्त मनोरञ्जक इतिहास है। संस्कृत के तत्सम शब्द जो प्राकृत काल में तद्भव हुए, उनमें वृद्धिप्लुता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, स्वरों के षोच की विवृत्ति तो हटी ही, संधि प्रक्रिया से उन्हें सज्जद्वार बना लिया गया, इस प्रक्रिया में शब्दों का रूप-आकार एकदम ही बदल गया और वे नए चेहरे लेकर सामने आए ।

अंअं > अं = मुन्नार (१०८ क < *मुन्नार < स्वर्णकार), साहार (१३४ घ < सहवार < सहकार), अघार (१३६ ग < अघार < अबकार) ।

अंउं > अं = तो (१८ घ < तउ < ततः) सामोर (४२ क < सम्भउर < शाम्भपुर) मोर (२१२ ख < मऊर < मयूर) आसोय (१७२ क < आसउय < अश्वयुज), इदोअ (१४३ घ < इन्दाओअ < इन्द्रगोअ) आदि ।

स्वर-संकोच इसी अवस्था में कृदन्त से बने निष्ठा स्वरों के चडिय > चटी १६१ घ गुडिय > गुटी १८ ख, आदि रूप बन जाते हैं । अग्रभ्रश में कृदन्तज विशेषणों में लिंग भेद का उतना विचार न था किन्तु व्रजभाषा में स्त्रीलिंग कर्ता के कृदन्तज भूत के नए रूप भी स्त्रीलिंग ही होते हैं और चट्टी, टूटी आदि उसी अवस्था के सकेत हैं ।

§ ६०. म् > व् के रूपान्तर को हमने हेमचन्द्रोप अग्रभ्रश की विशेषता कहा था । रासक में कहीं-कहीं यह व् भी लुप्त हो जाता है । मध्यम 'व' के लोप की यह प्रवृत्ति व्रजभाषा की खास विशेषता है । चाटुर्व्यां ने इसे ब्रज खड़ी बोली की विशेषता बताते हुए प्रारम्भिक मैथिली से इसको तुलना की है । (देखिए वर्णरत्नाकर § १८) सदेशरासक में मध्यम व् लोप के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं । मंनावि (७४ अ < मंनावेवि) भाइयद (५२ क < भाविद < भावने) भाइण (६५ ग < भाविण < भावेण), सताउ (७६ ख < सताउ < सताप) बीउ (१५४ ग < बीउ < बीवः) ।

§ ६१. ल का महाप्राणीकरण । ल > ल्ह । ल्ह, म्ह, आदि ध्वनियाँ ब्रज में बहुतायत से मिलती हैं । मिलइउ (४६ ग < मेल्ल = छोडना) ।

§ ६२. द्वित्व या संयुक्त व्यञ्जनों में केवल एक व्यञ्जन को सुरक्षित रखने तथा इसकी उचित पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रकृति, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में आकर पूर्णतया विकसित हुई सदेशरासक की भाषा में आरम्भ हो गई थी ।

ऊसात (६७ क < उस्तात < उञ्जास) नीसरइ (५४ ग < निस्सरइ < निस्सरति) नीसास (८३ ग < निस्तास < निःश्वास) दीसदि (६८ घ < दिस्तइ < दृश्यते) ।

§ ६३. प्रातिपदिकों के निर्माण में सहायक प्रत्ययों में सदेशरासक का यर < कर प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यथा दौधयर २२ ख, सबीनयर २२ घ, उल्हावयर ६७ य । हेमचन्द्र में भी बंधयर (४१४१२) रूप इसी तरह का है । यह प्रत्यय अन्त्य स्वर के दीर्घ होने पर प्रायः

चिरगाय (१८१ क < चिरगाय < चिरगत), सभय (२०८ < समय), परवस (२१० ग < परवस < परवश) दलबहल (११ क < दलबहल) तम्माल (५६ ग < तमाल), तुत्सार (१८४ घ < तुत्सार < तुत्पार) आदि ।

§ ८६. स्वरसंकोचन (Vowel Contraction) आधुनिक भाषाओं में स्वर-संकोच का अत्यन्त मनोरञ्जक इतिहास है। संहृत के तत्सम शब्द जो प्राकृत काल में तद्भव हुए, उनमें क्षयिष्णुता की प्रवृत्ति बन्दे लगी, स्वरों के बीच की विवृत्ति तो दूरी ही, सधि प्रक्रिया से उन्हें सज्ज्वर बना लिया गया, इस प्रक्रिया में शब्दों का रूप-आकार एकदम ही बदल गया और वे नए चेहरे लेकर सामने आए ।

अंआं > आं = सुआर (१०८ क < *सुन्नआर < स्वर्गाकार), साहार (१२४ घ < सहार < सहकार), अघार (१३६ ग < अघआर < अवकार) ।

अंउं > ओं = तो (१८ घ < तउ < ततः) सामोर (४२ क < सम्पउर < शाम्बपुर) मोर (२१२ ख < मऊर < मयूर) आत्तोय (१७२ क < आत्तउय < अरवसुज), इदोअ (१४३ घ > इन्दाओन < इन्द्रगोन) आदि ।

स्वर-संकोच इसी अवस्था में कृदन्त से बने निश्च रूपों के चडिय > चटी १६१ घ गुट्टिय > तुटी १८ ख, आदि रूप बन जाते हैं। अन्ध्रश में कृदन्तज विशेषणों में लिंग भेद का उतना विचार न था किन्तु व्रजभाषा में स्त्रीलिंग कर्ता के कृदन्तब भूत के नए रूप भी स्त्रीलिंग ही होते हैं और चट्टी, टूटी आदि उसी अवस्था के सकेत हैं ।

§ ६०. म् > व् के रूपान्तर को हमने हेमचन्द्रोप अन्ध्रश की विशेषता कहा था। रासक में कहीं-कहीं यह व् भी दृष्ट हो जाता है। मध्यम 'ध' के लोप की यह प्रवृत्ति व्रजभाषा की सात विशेषता है। चादुर्ग्या ने इसे मज खड़ी बोली की विशेषता धरते हुए प्रारम्भिक मैथिली से इसकी तुलना की है। (देखिए वर्णालाकर § १८) सदेशरासक में मध्यम व् लोप के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। मंनावि (७४ अ < मंनावेवि) भाइयइ (५२ क < भाविइ < भावने) भाइण (६५ ग < भाविण < भावेण), सताउ (७६ ख < सताउ < सतान) बीउ (१५४ ग < बीउ < बीवः) ।

§ ६१. ल का मद्दामाणीकरण। ल > लह। लइ, लह, आदि ध्वनियाँ मज में बहुतायत से मिलती हैं। मिलइउ (४६ ग < मेल्ल = लोडना) ।

§ ६२. द्वित्व या संयुक्त व्यञ्जनों में केवल एक व्यञ्जन को सुरक्षित रखने तथा इतनी ज़रूरी पूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर देने की प्रवृत्ति, जो आधुनिक आर्यभाषाओं में आकर पूर्णतया विकसित हुई सदेशरासक की भाषा में आरम्भ हो गई थी।

ऊसास (६७ क < उत्सास < उच्छ्वास) नीसरइ (५४ ग < निस्सरइ < निस्सरति) नीसास (८३ ग < निस्सास < निःश्वास) दीसहि (६८ घ < दिस्सइ < दृश्यते) ।

§ ९३. प्रातिपदिकों के निर्माण में सहायक प्रत्ययों में सदेशरासक का दर < कर प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यथा दीवयर २२ ख, सजीनयर २२ घ, उलहावयर ६७ य। हेमचन्द्र में भी बंचयर (४४४१२) रूप इसी तरह का है। यह प्रत्यय अन्ध्र स्वर के दीर्घ होने पर प्रायः

§ १९. असमापिका क्रिया में इ प्रत्यय वाले रूपों का बाहुल्य तो है ही। इसी का विकास व्रजभाषा में भी हुआ। व्रज में 'इ' प्रत्यय वाले पूर्वकालिक रूप बहुत मिलते हैं। किन्तु व्रज में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग एक नई विशिष्टता है। उदाहरण के लिए भईं जुदि कै खरी' इस के, लै कै आदि रूप में पूर्वकालिक के मूल रूपों जुदि, इसि या लई'के साथ कृ का असमापिका रूप भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग सन्देशरासक में भी प्राप्त होता है।

विरह हुआसि दहेवि करि आसा जल सिंचेइ (१०८ ख)

§ १००. भूतकाल के कृदन्तव्य प्रयोगों में कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृवाच्य का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता है, जो व्रज की विशेषता है। किन्तु कर्तृवाच्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। कल्लोलिहि गजिउ १४२ ख, सिहिंडिउ रडिउ १४४ ख, सालूरिहि रसिउ ११४ ग, कुमुमिहि सोहिउ २१५ ख, इन रूपों में तृतीया कारक के साथ कर्म वाच्य दिखाई पड़ता है। इसिहि चडिउ में हंस द्वारा चढ़ा गया—अर्थ धीरे धीरे बदलने लगा। हंसि चडिउ से हंस चडिउ > हंस चड्यो।

§ १०१. सयुक्त-क्रिया का प्रयोग अवहट्ट की अपनो विशेषता है। इस प्रकार के प्रयोगों ने नन्य आर्य भाषा की क्रियाओं को नया मोड़ दिया है। सन्देशरासक के कुछ उदाहरण देखिये—

- (१) को गिसुणे विणु रहइ (१८ ग) कौन मुने विना रहता है
- (२) तक्खरु वक्खरु हरि गउ (६५ च) तश्कर ने सामान हर लिए
- (३) असेस तरुय पडि करिगय (१६२ घ) सभी पेडों के पत्ते गिर गए

इस प्रकार के हिन्दी और व्रजरूपों के लिए द्रष्टव्य (कैलाग हिन्दी ग्रामर § ४४२, ७५४)

§ १०२. क्रियार्थक संख्याओं के साथ नकारात्मक 'ण' के बाद सामर्थ्य सूचक जाइ (गम्) का प्रयोग किया जाता है। इससे क्रिया के सम्पादन में असमर्थता का बोध होता है—

- (१) न घरणउ जाइ ७१ क, घरा नहीं जाता
- (२) कहण न जाइ ८१ क, कहा नहीं जाता
- (२) किम सहण न जाए २१८ ख, सहा नहीं जाता

ये प्रयोग प्रायः सन्देशरासक के दोहों में ही हुए हैं जो भाषा के विकास की परबतों श्रवस्था के सूचक हैं। इस तरह के बहुत से प्रयोग छित्ताईवार्ता में हुए हैं। उदाहरण के लिए एक पंक्ति देखी जा सकती है।

'एक दिवस की कहन न जाइ (छित्ताई वार्ता १२७)

§ १०३. परमगों के प्रयोगों में भी अपभ्रंश से कुछ नवीनता दिखाई पड़ती है।

सउं (व्रज सौं) विरह सउं ७६ क, कदप्प सउं (६६ क)

गुरुविणु एण सउं (७४ ख)

सरिसु (व्रज, सरिसो, सरिसौ) हाय हेयइ सरिसु (१६१ घ)

मियणादिण सरिसउ (१८७ घ)

§ २२. असमायिका क्रिया में इ प्रत्यय वाले रूपों का बाहुल्य तो है ही। इसी का विकास व्रजभाषा में भी हुआ। व्रज में 'इ' प्रत्यय वाले पूर्वकालिक रूप बहुत मिलते हैं। किन्तु व्रज में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग एक नहीं विशिष्टता है। उदाहरण के लिए भई जुति के सरी' हसि के, लै के आदि रूप में पूर्वकालिक के मूल रूपों जुति, हसि या लई'के साथ हु का असमायिका रूप भी जुड़ा हुआ है। इस प्रकार का प्रयोग सन्देशरासक में भी प्राप्त होता है।

विरह हुआसि दहेनि करि आस्य जल सिचेइ (१०८ ख)

§ २०० भूतकाल के कृदन्तज प्रयोगों में कर्मवाच्य के स्थान पर कर्तृवाच्य का प्रयोग नहीं दिखाई पड़ता है, जो व्रज की विशेषता है। किन्तु कर्तृवाच्य की ओर प्रवृत्ति होने लगी थी। कलालिहि गजिउ १४२ ख, तिहिडिउ रडिउ १४४ ख, सादुरिहि रसिउ ११४ ग, कुमुमिहि सोहिउ २१५ ख, इन रूपों में तृतीया कारक के साथ कर्म वाच्य दिखाई पड़ता है। हसिहि चडिउ में हस द्वारा चढ़ा गया—अर्थ धीरे धीरे बदलने लगा। हसि चडिउ से हस चडिउ > हस चड्यो।

§ २०१ सयुक्त क्रिया का प्रयोग अबहद्ध की अपनी विशेषता है। इस प्रकार के प्रयोगों ने नय आर्य भाषा की क्रियाओं को नया मोड़ दिया है। सन्देशरासक के कुछ उदाहरण देखिये—

- (१) का गिसुणे विसु रइइ (१८ ग) कौन मुने बिना रहता है
- (२) तसखर वसखर हरि गउ (६५ च) तखर ने सामान हर लिए
- (३) असेस तसप पडि करिगय (१६२ घ) सभी पेड़ों के पत्ते गिर गए

इस प्रकार के हिन्दी और व्रजरूपों के लिए द्रष्टव्य (कैलाम हिन्दी ग्रामर § ४४२, ७५४)

§ २०२ क्रियार्थक सख्याओं के साथ नकारात्मक 'ण' के बाद सामर्थ्य सूचक आइ (गन्) का प्रयोग किया जाता है। इससे क्रिया के सम्पादन में असमर्थता का बोध होता है—

- (१) न घरणउ जाइ ७१ क, घरा नहीं जाता
- (२) कहण न जाइ ८१ क, कहा नहीं जाता
- (२) किम सहण न जाए २१८ ख, सहा नहीं जाता

ये प्रयोग भाषा सन्देशरासक के दाहो म ही हुए हैं जो भाषा के विकास की परवर्ती अवस्था के सूचक हैं। इस तरह के बहुत से प्रयोग द्वित्वादेशता में हुए हैं। उदाहरण के लिए एक पंक्ति देखी जा सकती है।

‘एक दिवस की कहन न जाइ (छित्ताई वातां १२७)

§ २०३ परस्मैगो के प्रयोगों में भी अपभ्रंश से कुछ नवीनता दिखाई पड़ती है।

सउ (व्रज सौं) विरह सउ ७६ क, कदप्य सउ (६६ क)

गुरुनिशु एण सउ (७४ ख)

सरिसु (व्रज, सरिसों, सरिसौ) दाय हेयइ सरिसु (१६१ घ)

मियणादिण सरिसउ (१८७ घ)

शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ट में लिखा हुआ कोई और काय उपलब्ध नहीं होता। इस प्रदेश में लिखी गई अवहट्ट रचनाओं की भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं में मुख्य क्षेत्र के बाहर लोग जब साहित्य-रचना करते हैं तो उनकी भाषा के कुछ न कुछ प्रयोग, मुहावरे आदि तो सम्मिलित हो ही जाते हैं। किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर भाषा के मूल ढाँचे को अन्यथा मान लेना ठीक नहीं होता। पूर्वी प्रयोगों को देखते हुए विद्यापति की कीर्तिलता को पुरानी मैथिली और बौद्धों की रचनाओं को पुरानी बगल कहना बहुत उचित नहीं है। यह सही है कि मैथिली भाषा के निर्माण में सहायक या उसके ढाँचे को समझने के लिए उपयोगी सकेत चिह्न कीर्तिलता में प्राप्त होते हैं, किन्तु कीर्तिलता की भाषा की मूल भूत आत्मा में उसकी अनुलेखन पद्धति, लिपि की पूर्वी शैलियों से प्रभावित वर्ण विन्यास और कुछ मागधी प्रकार के 'ल' क्रिया रूपों के आवरण के नीचे अवहट्ट या पश्चिमी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कीर्तिलता का कवि जब जनता के मनो भावों को सनभूते हुए प्रेम-शृङ्गार या भक्ति के गीत लिखता है तब तो अपनी लोकभाषा यानी मैथिली का प्रयोग करता है, किन्तु जब राजस्तुति के प्रयोजन से काव्य लिखता है तब ब्रजभाषा की चारण शैली और उसके तत्कालीन अवहट्ट रूप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि यह उस काल की सर्वमान्य पद्धति थी। नाचे कीर्तिलता का एक सुन्दर प्रसंग देखिये, भाषा बिल्कुल प्राकृत पँगलम् के हम्मीर सक्वी पदों की तरह या रासो के सुन्दर प्रसंगों की भाण की तरह मालूम होती है।

हसि दाहिन हय्य समय्य भइ, रणरस पलटिय खग लइ
 सह पृकहि पृक पहार परे, जह खगहि खगहि धार धरे
 हय खगिय चगिय चारुलला, तरवारि चमकइ विजु भुला
 हरि टोपरि दुटि सरार रहे, तनु शोगित धारहि धार बहे
 तनु रग तुरग तरग बसे, तनु छडइ लगाइ रोस रसे
 सखउ जन पेखहि जु न कहा, महभावइ अजुन कस जहा
 न भाहव माहव सत्तु करें, बाणासुर जुम्ह युत्त भरे
 महाराभन्हि मलिकें चण्डिलउ, असलान निजानहु पिठ दिउ
 त खणे पेरिखअ राय सो अरु सुखेअ करेओ
 जे करे मारिअ बप्प महु सो कर कवन हरेओ

(कीर्तिलता ४१२२६-४३)

इस भाषामें पूर्वी प्रयोगों का नामोनिशान तक नहीं मिलेगा। अन्तिम दोहों में तो करेओ > करयो, हरेओ > हरया के ब्रज रूप भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश के अ + उ का ब्रज में संघे ओ, होता है। बहुत से रूपों में 'धा' जैसे क्यो, भरयो आदि का प्रयोग मिलता है। दूसरे प्रकार के रूप ही ब्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अउ > औ, यी के विकास की एक अवस्था एओ रही होगी जो कीर्तिलता में बहुत दिखाई पड़ती है।

ई १०६ सिवासिंह के सिंहासनारोहण के समय लिखे गए एक प्रशस्ति की भाषा द्रष्टव्य है। देवसिंह की मृत्यु के समय सिवासिंह ने यवनो से आक्रान्त राज्य का कैसे उद्धार किया और

शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ट में लिखा हुआ कोई और काय उपलब्ध नहीं होता। इस प्रदेश में लिखी गई अवहट्ट रचनाओं की भाषा में पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। परिनिष्ठित या साहित्यिक भाषाओं में मुष्प क्षेत्र के बाहर लोग अब साहित्य-रचना करते हैं तो उनकी भाषा के कुछ न कुछ प्रयोग, मुहावरे आदि तो सम्मिश्रित हो ही जाते हैं। किन्तु इन क्षेत्रीय प्रयोगों के आधार पर भाषा के मूल ढाँचे को अन्यथा मान लेना ठीक नहीं होता। पूर्वी प्रयोगों को देखते हुए विद्यापति की कीर्तिलता को पुरानी मैथिली और बौद्धों की रचनाओं को पुरानी बगना कहना बहुत उचित नहीं है। यह सही है कि मैथिली भाषा के निर्माण में सहायक या उसके ढाँचे को समझने के लिए उपयोगी सकेत चिह्न कीर्तिलता में प्राप्त होते हैं, किन्तु कीर्तिलता की भाषा की मूल भूत आत्मा में उसकी अनुलेखन पद्धति, लिपि की पूर्वी शैलियों से प्रभावित वर्ण विन्यास और कुछ मागधी प्रकार के 'ल' क्रिया रूपों के आवरण के नीचे अवहट्ट या परिचामी अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। कीर्तिलता का कवि जब जनता के मनो भावों को समझते हुए प्रेम-शृङ्गार या भक्ति के गीत लिखता है तब तो अपनी लोकभाषा यानी मैथिली का प्रयोग करता है, किन्तु जब राजसूति के प्रयाजन से काव्य लिखता है तब ब्रजभाषा की चारण शैली और उसके तत्कालीन अवहट्ट रूप को ही स्वीकार करता है, क्योंकि यह उस काल की सर्वमान्य पद्धति थी। नाचे कीर्तिलता का एक सुन्दर प्रसंग देखिये, भाषा बिल्कुल प्राकृत पैंगलम् के हम्मीर सक्न्वी पदों की तरह या रातो के सुन्दर प्रसंगों की भाण की तरह मालूम होती है।

हसि दाहिन ह्य्य समस्य भइ, रणरत्त पलह्य्य खग लइ
 तह प्यकहि प्यक पहार परे, जह खगहि खगहि धार धरे
 ह्य सगिय चगिय चारकला, तरवारि चमकइ विजु मला
 हरि टोपरि दुट्टि सरार रहे, तनु शोगित धारहि धार बहे
 तनु रग तरग तरग बसे, तनु छडइ लगइ रोस रसे
 सखव जन पेखहि जु क कहा, महभावइ अजुन कइ जहा
 न भाहव माहव सत्तु करें, वागासुर जुम्ह जुत्त भरे
 महाराभ्हि मलिकें चपिलउ, असलान निजानहु पिठ दिउ
 त खणे पेरिखअ राय सो अरु सुरखेअ करेओ
 जे करे मारिअ बप्प महु सो कर कवन हरेओ

(कीर्तिलता ४१२२६-४३)

इस भाषा में पूर्वी प्रयोगों का नामोनिशान तक नहीं मिलेगा। अन्तिम दोहों में तो करेओ > कर्यो, हरेओ > हरया के ब्रज रूप भी स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। अपभ्रंश के अ + उ का ब्रज में तीथे ओ, होता है। बहुत से रूपों में 'धा' जैसे क्यो, मरयो आदि का प्रयोग मिलता है। दूसरे प्रकार के रूप ही ब्रज की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं। अउ > औ, यी के विकास की एक अवस्था एओ रही होगी जो कीर्तिलता में बहुत दिखाई पड़ती है।

§ १०६ सिवासिंह के सिंहासनारोहण के समय लिखे गए एक प्रशस्ति की भाषा द्रष्टव्य है। देवसिंह की मृत्यु के समय सिवासिंह ने यवनो से आक्रान्त राज्य का बैसे उद्धार किया और

(ग) कइ > कै (व्रज, सम्बन्ध)

पूज आस असवार कइ उलिय सिरनवइ सच कइ (२।२३४) जाकै घर
निमि बने कन्हार्ई (सू)

(घ) को—

दान खग को भामन न जानइ २।३८ (पद्य) व्रज में बहुत प्रचलित है।

(ङ) केरि, केरि को

तं दिस केरी राय घर तरुणी (४। ८६)

आय लपेटे सुतहु नद केरे (सू २५।६०)

ने का प्रयोग हिन्दी में केवल व्रज और खड़ी बोली में ही होता है। १४ वीं १५ वीं की कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसमें ने के प्रयोग के कोई चिन्ह संज्ञेत आदि प्राप्त हों। ने के प्रयोग के आदि रूप केवल कीर्तिलता में ही मिलते हैं। जेन्ने जाचक अन रंजित (१।६३), जेन्ने गिय कुल उद्धरिअउं (१।६४) आदि। इसमें जेण का विकसित जेन्ने—जिससे व्रज जानै जिन्ने रूप बनता है। पूर्वा अपभ्रंश की शुद्ध रचनाओं में इस प्रकार 'ने' वाले रूपों का मिलना असम्भव है।

२—सर्वनामों के महत्त्वपूर्ण रूप—

मेरहु > मेरी, व्रज

मेरहु जेह गरिह अल (२। ४२)

मेरो मन अनन कहा रचुगवै (सू)

मेरहु के साथ मोरहु रूप भी मिलता है दोनों का व्रज रूप मोरो मेरी होता है। हों के हउं या हजो पूर्वरूप तो कीर्तिलता में बहुत मिलते हैं। (देखिए कीर्तिलता और अवहट्ट; सर्वनाम प्रकरण)

पूर्ववर्ती निश्चय का 'ओ' रूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ओ के साथ ओहु का प्रयोग निश्चित रूप से हिन्दी 'वह' के विकास की सूचना देता है। ओहु का प्रयोग १४वीं शताब्दी के किसी अन्य ग्रन्थ में शायद ही मिले।

ओहु खास दरबार (कीर्ति) ओ परनेसर हर सिर सोहर (कीर्ति०)

वह नुधि आनत तौहि सुदामा (सू)

देखे तुम अत ओऊ (सू)

सू के 'ओऊ' का ओऽरि > ओ भी अर्थ है। निकटवर्ती के एहु और 'एही' रूप का भी महत्त्व है।

राय चरित रमालु एहु (कीर्ति०)

स्वाम को यहै परेखो आवे (सू)

विरवक्रमो एहि कार्य छल (कीर्ति०)

एहि घर बनो ब्रीडा गन मोचन (सू)

निश्चाचक अनभ्रंश अभगउ कीर्तिलता में विविध रूपों में आता है।

अग्ने दोस समक (कीर्ति)

(ग) कइ > कै (ब्रज, सम्बन्ध)

पूज आम असवार कइ उतिय सिजनवइ सन्ध कइ (२।२३४) जाकै घर
निमि बने कन्हारै (सर)

(घ) की—

दान खग को मामन न जानइ २।३८ (पद्य) ब्रज में बहुत प्रचलित है।

(ङ) केरि, केरि को

तँ दिस केरी राय घर तरुगी (४। ८६)

आय लपेटे सुतहु नद केरे (सर २५।६०)

ने का प्रयोग हिन्दी में केवल ब्रज और खड़ी बोली में ही होता है। १४ वीं १५ वीं की कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं है जिसमें ने के प्रयोग के कोई चिन्ह संज्ञेत आदि प्राप्त हो। ने के प्रयोग के आदि रूप केवल कीर्तिलता में ही मिलते हैं। जेन्ने जाचक जन रंजित (१।६३), जेन्ने णिय कुल उद्धरिअउं (१।६४) आदि। इसमें जेण का विकसित जेन्ने—जिससे ब्रज बानै जिनने रूप बनता है। पूर्वी अपभ्रंश की शुद्ध रचनाओं में इस प्रकार 'ने' वाले रूपों का मिलना असम्भव है।

२—सर्वनामों के महत्त्वपूर्ण रूप—

मेरहु > मेरी, ब्रज

मेरहु जेह गरिह अछ (२। ४२)

मेरो मन धनन कहा रचुगवै (सर)

मेरहु के साथ मोरहु रूप भी मिलता है दोनों का ब्रज रूप मोरो मेरी होता है। हीं के हउं या हओ पूर्व रूप तो कीर्तिलता में बहुत मिलते हैं। (देखिए कीर्तिलता और अवरह; सर्वनाम प्रकरण)

पूर्ववर्ती निश्चय का 'ओ' रूप अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ओ के साथ ओहु का प्रयोग निश्चित रूप से हिन्दी 'वह' के विकास की सूचना देता है। ओहु का प्रयोग १४वीं शता के किसी अन्य ग्रन्थ में शायद ही मिले।

ओहु खास दरवार (कीर्ति) ओ परनेत्तर हर सिर सोइइ (कीर्ति०)

बह मुधि आउत तोहि सुदामा (सर)

देले तुम अस ओऊ (सर)

सर के 'ओऊ' का ओऽरि > ओ भी अर्थ है। निष्कृत्यों के एहु और 'एही' रूप का भी महत्त्व है।

राय चरित रगालु एहु (कीर्ति०)

स्वाम को यहै परेलो आवे (सर)

विश्वकर्मा एहि कार्य लुल (कीर्ति०)

एहि घर बनो क्रीडा गन मोचन (सर)

निष्काचक अरभ्रंश अयणउ कीर्तिलता में विविध रूपों में आता है।

अग्ने दोस समक (कीर्ति)

उदाहरण विभिन्न काल-की रचनाओं से उद्धृत किये हैं। दो पद्य राजेश्वर की कर्पूरमंजरी (६०० ई०) से भी लिये गये हैं। डा० चाटुर्ज्या के मत से अधिकांश पद्य कृत्रिम साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ के हैं। २६४, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४६०, ५१६ और ५४१ सख्यांक पद्य निश्चित रूप से प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के कहे जा सकते हैं।^१ इसी सिलसिले में उन्होंने धी० सी० मजूमदार के इस कथन को भी अप्रामाणिक बताया है कि पृ० १२, २२७, २३४, ४०३, ४६५ के पद्य बंगाली भाषा के हैं। उन्होंने क्रिया सर्वनाम आदि के उदाहरण देकर उन्हें प्राचीन हिन्दी के रूप सिद्ध किया है। डा० तेसीतोरी इस भाषा का काल १२ वीं शती से पीछे खींचने के पक्ष में नहीं हैं। तेसीतोरी के मत से यद्यपि इस समूह की कुछ रचनाएँ १४ वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं ठहरतीं, किन्तु यही सब पद्यों के बारे में नहीं कहा जा सकता और फिर पिंगल अपभ्रंश चौदहवीं शताब्दी की ब्रजित भाषा नहीं थी बल्कि साहित्यिक और पुरानी भाषा थी। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतपैंगलम् हेमचन्द्र के दोहों और नव्य भाषाओं के प्राचीनतम रूप के बीच की कड़ी का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह की भाषा १० वीं से १२ वीं शती की भाषा का आदर्श भानी जा सकती है।^२ प्राकृतपैंगलम् में पश्चिमी हिन्दी या प्राचीन ब्रज के जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें से करीब ६ हम्मीर से संबद्ध है। पृ० १५७, १८०, २४६, २५५, ३०४, ३२७, ५२० के छन्दों में हम्मीर का नाम आता है। हम्मीर के संबंधी एक पद में 'जजल भणइ' यह वाक्यार्थ भी दिखाई पड़ता है :

हम्मीर कज्जु जजल भणइ कोहाणल मुह महं जलउ ।

सुरताण सांस करवाल दइ तेजिज कलेवर दिय चलउ ॥

श्री राहुल साकृत्यायन ने हम्मीर सम्बन्धी कविताओं को जजल-वृत्त बताया है,^३ हालांकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिन कविताओं में जजल का नाम नहीं है, उनके बारे में सदेह है कि ये इसी कवि की कृतियाँ हैं। जो हो जजल-भणिता युक्त पदों को तो राहुल जी जजल की कृति मानते ही हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'राहुल जी का मत प्राकृत-पैंगलम् में प्रशंसित टीकाओं के 'जजलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जजल की उक्ति है— पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ भी हो सकता है कि यह जजल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध मात्र जजल की उक्ति है, अर्थात् कवि निबद्ध वक्तृ-प्रोदोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जजल की नहीं किमी ओर कवि की होगी किन्तु यह कवि शाङ्गधर ही है इसका कोई संशय नहीं।^४ मेरा ख्याल है कि यह काफी स्पष्ट मत है और तब तक इस कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है जब तक शाङ्गधर का हम्मीर रासो प्राप्त नहीं होता, और प्राप्त

— १. चाटुर्ज्या, ओ० टे० व० ले० ६०

२. तेसीतोरी, इण्डियन ऐंटिक्वैरी, १६१४, पृ० २२

३. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४५२, पाद टिप्पणी

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १६५२, पृ० १५

५. प० रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृत पैंगलम् के इन पदों को शाङ्गधर का अनुमान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास।

उदाहरण विभिन्न काल-की रचनाओं से उद्धृत किये हैं। दो पद्य राजेश्वर की कर्पूरमंजरी (६०० ई०) से भी लिये गये हैं। डा० चाटुर्ज्या के मत से अधिकांश पद्य कृत्रिम साहित्यिक शौरसेनी अपभ्रंश या अवहट्ठ के हैं। २६४, ३७५, ४१२, ४३५, ४६३, ४६०, ५१६ और ५४१ सख्यांक पद्य निश्चित रूप से प्राचीन पश्चिमी हिन्दी के कहे जा सकते हैं। इसी सिद्धिसिले में उन्होंने धी० सी० मजूमदार के इस कथन को भी अप्रामाणिक बताया है कि पृ० १२, २२७, २३४, ४०३, ४६५ के पद्य बंगाली भाषा के हैं। उन्होंने क्रिया सर्वनाम आदि के उदाहरण देकर उन्हें प्राचीन हिन्दी के रूप सिद्ध किया है। डा० तेसीतोरी इस भाषा का काल १२ वीं शती से पीछे खींचने के पक्ष में नहीं हैं। तेसीतोरी के मत से यद्यपि इस सग्रह की कुछ रचनाएँ १४ वीं शताब्दी से प्राचीन नहीं ठहरती, किन्तु यही सब पद्यों के बारे में नहीं कहा जा सकता और फिर पिंगल अपभ्रंश चौदहवीं शताब्दी की भीवित भाषा नहीं थी बल्कि साहित्यिक और पुरानी भाषा थी। फिर भी व्यावहारिक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राकृतपैंगलम् हेमचन्द्र के दोहों और नव्य भाषाओं के प्राचीनतम रूप के बीच की कड़ी का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह की भाषा १० वीं से १२ वीं शती की भाषा का आदर्श मानी जा सकती है। प्राकृतपैंगलम् में पश्चिमी हिन्दी या प्राचीन ब्रज के जो पद प्राप्त होते हैं, उनमें से करीब ६ हम्मीर से सभ्य है। पृ० १५७, १८०, २४६, २५५, ३०४, ३२७, ५२० के छन्दों में हम्मीर का नाम आता है। हम्मीर के संबंधी एक पद में 'जजल भणइ' यह वाक्यार्थ भी दिखाई पड़ता है :

हम्मीर कञ्जु जजल भणइ कोहाणल मुह महं जलउ ।

सुरताण सांस करवाल दइ तेजिज कलेवर दिय चलउ ॥

श्री राहुल साकृत्यायन ने हम्मीर सबन्धी कविताओं को जजल-वृत बताया है,^३ हालाँकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि जिन कविताओं में जजल का नाम नहीं है, उनके बारे में सदेह है कि ये इसी कवि की कृतियाँ हैं। जो हो जजल-भणिता युक्त पदों को तो राहुल जी जजल को कृति मानते ही हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है 'राहुल जी का मत प्राकृत-पैंगलम् में प्रनाशित टीकाओं के 'जजलस्य उक्तिरियम्' अर्थात् यह जजल की उक्ति है— पर आधारित जान पड़ता है। टीकाकारों के इस वाक्य का अर्थ भी हो सकता है कि यह जजल की कविता है और यह भी हो सकता है कि यह किसी अन्य कवि द्वारा निबद्ध मात्र जजल की उक्ति है, अर्थात् कवि निबद्ध वक्तृ-प्रोटोक्ति है। यदि दूसरा अर्थ लिया जाय तो रचना जजल की नहीं किमी ओर कवि की होगी किन्तु यह कवि शाङ्गधर ही है इसका कोई सबूत नहीं। मेरा ख्याल है कि यह वाणी स्पष्ट मत है और तब तक इस कथन की प्रामाणिकता असन्दिग्ध है जब तक शाङ्गधर का हम्मीर रासो प्राप्त नहीं होता, और प्राप्त

१. चाटुर्ज्या, ओ० टे० व० ले० ६०

२. तेसीतोरी, इंडियन ऐंटरिचैरी, १९१४, पृ० २२

३. हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४५२, पाद टिप्पणी

४. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, १९५२, पृ० १५

५. प० रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृत पैंगलम् के इन पदों को शाङ्गधर का अनुमान किया है। हिन्दी साहित्य का इतिहास।

में लिखा गया था जिसे लेखक ने स्वयं संस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

जिण वेभ धरिजे महियल लिजे पिट्टिहि दतहिं ठाउ धरा
रिउ वच्छ विभारे, छल तणु धारे, वधिय सत्तु सुरज्ज हरा
कुल खसिय तापे, दहमुख कापे, कसभ केमि विणास करा
करुणा पअले भेइइ विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा

(पृ० ५७०।२७०)

गीत गोविन्द का श्लोक :

वेदानुद्धरते जगन्निग्रहते भूगोलमुद्दिघ्नते ।
दैन्यान्द्वारयते वलिं द्युलयते चन्द्रं चयं कुर्यते ॥
पीलस्य जयते हृत् कलयते कारुण्यमातन्वते ।
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दराहृतिरुते वृष्णाय तुम्य नमः ॥

(अष्टपदा १. श्लोक १२. पृ० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल रातें पिरही लोग अत्यंत कष्ट से पिताते हैं, साथ ही फूलों की गन्ध, भौरों की गुजार और कोंकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियों के उल्लास से भर देती हैं—

ज फुलक फल वण बहत लक्षु पवण
भमह भमर कुल दिसि विदिसं
भकार पलइ वण रवइ कुहिल गण
विरहिय हिय हुअ दर विरसं
आणदिय जुअ भण उलसु उडिय मणु
सरस नल्लिणि किम समयणा
पवलट्ट सिसिर रिउ दिवस दिहर भउ
कुसुम समय अवतरिय वणा

(पृ० ५८७।२१३)

गीत गोविन्द का श्लोक :

उन्मीलनमधुगन्धलुन्धमधुपव्याधूतचूताद्गुर*
प्रीदन्कोकिलकाकलीकलरवैरुत्तार्णवर्गवराः ।
नोदन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानवज-
प्राप्तप्राणसम समागमरसोक्तासैरमी वासराः ॥

(पृ० २६)

कृष्ण सत्रधी एक और पद्य प्राकृतपैंगलम् में सञ्चित है, वह सीधे जयदेव के गीत-गोविन्द के किसी श्लोक का अनुवाद या समानार्थी तो नहीं मालूम होता किन्तु वस्तु और वर्णन की दृष्टि से जयदेव के श्लोक का उद्भूत प्रभाव मात्र ही होता है, दो एक श्लोकों की साथ रखकर देखने से शायद अनुवाद भी मालूम पड़े।

में लिखा गया था जिसे लेखक ने स्वयं संस्कृत में रूपान्तरित कर दिया। पहला छन्द इस प्रकार है—

जिण वेभ धरिजे महियल लिजे पिट्टिहि दतहिं ठाउ धरा
रिउ वच्छ विभारे, छल तणु धारे, वधिय सत्तु सुरज हरा
कुल सतिय तापे, दहमुख कपे, कसभ केमि विणास करा
करुणा पअले मेइइ विअले सो देउ णरायण तुम्ह वरा

(५० ५७०१२७०)

गीत गोविन्द का श्लोक :

वेदानुद्धरते जगन्निग्रहते भूगोलमुद्रिघ्नते ।
द्वैचान्द्वारयते बलिं क्षलयते चन्द्रं क्षयं कुर्यते ॥
पौलस्त्यं जयते हृत् कलयते कारुण्यमातन्वते ।
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिभूते कृष्णाय तुम्यं नमः ॥

(अष्टपर्वा १. श्लोक १२. ५० १७)

वसन्तागम के समय की शीतल रातों निरही लोग अत्यंत कष्ट से त्रिताते हैं, साथ ही फूलों की गन्ध, भौरों की गुजार और कौकिल की काकली उनके हृदय को प्रिया समागम की स्मृतियों के उल्लास से भर देती हैं—

ज फुल्लक फल वण बहत लहु पवण
भमइ भमर कुल दिसि विदिसं
भकार परइ वण खइ कुहिल राण
विरडिय हिय हुभ दर विरसं
आणदिय जुअ भण उलसु उडिय मणु
सरस नल्लिणि किम सवणा
पवल्ल सिसिर रिउ दिवस दिहर भउ
कुसुम समय अवतरिय वणा

(५० ५८७१२१३)

गीत गोविन्द का श्लोक :

उन्मीलनमधुगन्धलुब्धमधुपय्याभूतचूताद्गुर'
क्रीडन्कौकिलकाकलीवलरवैश्रार्णवर्णज्वराः ।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानरण-
प्राप्तप्राणसम समागमरसोक्तासैरमी वासराः ॥

(५० २६)

कृष्ण सत्रधी एक और पद्य प्राकृतपैंगलम् में संकलित है, यह सीधे जयदेव के गीत-गोविन्द के किसी श्लोक का अनुवाद या समानार्थी तो नहीं मालूम होता किन्तु वस्तु और वर्णन की दृष्टि से जयदेव के श्लोका का उद्भूत प्रभाव मात्र ही होता है, दो एक श्लोकों की साथ रखकर देखने से शायद अनुवाद भी मालूम पड़े ।

है। आछे (४६२।२ <अच्छह <अक्षति*), करोजे (४०२।२ <करिजइ <क्रियते), कहीजे (४०२।२ <कहिजइ <कथ्यते) चउवीस (१५५।२ <चतुर्विंशति), चाम (४३६।२ <चर्मा), जामु (१४३।१ <जस > यस्य) खोसंक (१२८।४ <निःशक), णीसास (४५३।२ <निःभास), तासु (३०।६ <तस्य), दीसइ (३१५।५ <दृश्यते) आदि। मध्यम व्यजन-द्वित्वों के सहजीकरण की इस प्रवृत्ति (Simplification of Intervocalic) के कारण इस भाषा में नई शक्ति और खानी दिखाई पड़ती है।

§ ११३. व्रजभाषा की दूसरी विशेषता अनुस्वार के ह्रस्वीकरण की है। इस प्रवृत्ति में भी ध्वन्यात्मक विकास की उपर्युक्त परिस्थिति ही कारण मानी जा सकती है। किसी व्यजन के पहले आया हुआ पूर्ण अनुस्वार संकुचित होकर निकटस्थ स्वर का नास्तिक्य रह जाता है। ऐसी अवस्था में कभी तो क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते हैं, कभी नहीं भी करते। व्रजभाषा में वशो का बाँसुरी, पंक्ति का पाँत, पण्डित का पाँडे, पंच का पाँच आदि रूप अक्सर मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस तरह के रूप दिखाई नहीं पड़ते किन्तु अनुनासिक के ह्रस्वीकरण के उदाहरण पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ किए बिना ही दिखाई पड़ते हैं। इस तरह के उदाहरण व्रजभाषा में भी विरल नहीं हैं।

सँदेसनि <संदेश, गोविंद <गोविन्द, रँग <रंग, नँदनन्दन <नन्दनन्दन।

प्राकृतपैंगलम् में भी इस तरह के रूप मिलते हैं।

खँधया (१२६।४ <खंधक), सँजुने (१५७।४ <संयुक्त) चँडेसर (१८४।८ <चण्डेश्वर) पँचतालीस (२०२।४ <पंचत्वारिंशत्) इस प्रकार का ह्रस्वीकरण छन्दानुरोध के कारण और बलाघात के परिवर्तन के कारण उपस्थित होता है।

§ ११४. प्राकृतकाल में शब्दों के बीच से व्यंजनों का प्रायः लोप हो जाता था। मध्यम क ग च ज त द प य व आदि के लोप होने पर एक विवृत्ति (Hiatus) उत्पन्न हो जाती थी। इस विवृत्ति को नञ् भाषा काल में कई प्रकार से दूर करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। या तो संधि नियमों के अनुसार वे सह-स्वर संयुक्त कर दिए जाते हैं, या उनमें य या व या ह भ्रुति का समावेश करते हैं। इस प्रकार चरति का चरइ या चलइ रूप, चले या चलै हो जाता है। कइउ का कइो, आयउ का आयो रूप इसी प्रकार विकास पाते हैं। व्रजभाषा में प्रायः औ और ऐ दिखाई पड़ते हैं। कन्नौजी में औ के स्थान पर औ और ऐ मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में विवृत्ति को मुरद्धित न रखने की प्रवृत्ति आरंभ हो गई थी।

अ + इ = ओ आओ (५१६।४ <आअउ ५५२।४ <आगतः), उगो (३७०।४ उदितः) कहियो (२४।५ <कहिअउ १६८।४ <कथितः), चौइह (४०४।२ <चउइह <चतुर्दश), जगीओ (३४८।१ <जनितः), भौहा (४४३।३ <भ्रूवै)

अ + इ = ऐ, आछे (४६५।२ <अच्छइ), आवे (३५८।४ <आवइ <आयाति), कहीजे (४४२।२ <कहिजइ २४६।५ <कथ्यते), घरीजे (४१२।१ <घरिजइ <ध्रियते)।

§ ११५. विवृत्ति या हायटस को दूर करने के लिए अपभ्रंश-काल में य या व भ्रुति का विधान था। अपभ्रंश के वह-मध्यग 'व' व्यञ्जन का कुछ शब्दों में लोप दिखाई पड़ता है। यह लोप मूलतः प्रयुक्त या भ्रुति जन्य दोनो प्रकार के व के प्रयोगों में दिखाई पड़ता है। वैसे

हे। आछे (४६२।२ <अच्छइ <अच्छति*), कहीजे (४०२।२ <कहिजइ <कियते), कहीजे (४०२।२ <कहिजइ <कथ्यते) चउवीस (१५५।२ <चतुर्विंशति), चाम (४३६।२ <चम्म), जामु (१५३।१ <जस > यस्य) णीसंक (१२८।४ <निःशक), णीसास (४५३।२ <निःधास), तासु (३०।६ <तस्य), दीसइ (३१५।५ <दश्यते) आदि। मध्यम व्यञ्जन-द्वित्वां के सहजीकरण की इस प्रवृत्ति (Simplification of Intervocalic) के कारण इस भाषा में नई शक्ति और स्वानी दिखाई पड़ती है।

§ ११३. व्रजभाषा की दूसरी विशेषता अनुस्वार के हस्वीकरण की है। इस प्रवृत्ति में भी ध्वन्यात्मक विकास की उपर्युक्त परिस्थिति ही कारण मानी जा सकती है। किसी व्यञ्जन के पहले आया हुआ पूर्ण अनुस्वार संकुचित होकर निकटस्थ स्वर का नास्तिक्य रह जाता है। ऐसी अवस्था में कभी तो क्षतिपूर्ति के लिए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर लेते हैं, कभी नहीं भी करते। व्रजभाषा में वशो का बौमुरी, पंकि का पाँत, पण्डित का पाँडे, पंच का पाँच आदि रूप अक्सर मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में इस तरह के रूप दिखाई नहीं पड़ते किन्तु अनुनासिक के ह्रस्वीकरण के उदाहरण पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूर्ति के लिए दीर्घ किए बिना ही दिखाई पड़ते हैं। इस तरह के उदाहरण व्रजभाषा में भी विरल नहीं हैं।

सँदेसनि <संदेश, गोविंद < गोविन्द, रँग < रंग, नँदनन्दन < नन्दनन्दन।

प्राकृतपैंगलम् में भी इस तरह के रूप मिलते हैं।

खँधया (१२६।४ <खंधक), सँजुने (१५७।४ <संयुक्त) चँडेसर (१८५।८ <चण्डेश्वर) पँचतालीस (२०२।४ <पंचत्वारिंशत्) इस प्रकार का हस्वीकरण छन्दानुरोध के कारण और बलाघात के परिवर्तन के कारण उपस्थित होता है।

§ ११४. प्राकृतकाल में शब्दों के बीच से व्यंजनों का प्रायः लोप हो जाता था। मध्यम क ग च ज त द प य व आदि के लोप होने पर एक विवृत्ति (Hiatus) उत्पन्न हो जाती थी। इस विवृत्ति को नव्य भाषा काल में कई प्रकार से दूर करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। या तो संधि नियमों के अनुसार वे सह-स्वर संयुक्त कर दिए जाते हैं, या उनमें य या व या ह भ्रुति का समावेश करते हैं। इस प्रकार चरति का चरइ या चलइ रूप, चले या चले हो जाता है। कहउ का कहां, आयउ का आयो रूप इसी प्रकार विकास पाते हैं। व्रजभाषा में प्रायः औ और ऐ दिखाई पड़ते हैं। कन्नौजी में औ के स्थान पर औ और ऐ मिलते हैं। प्राकृतपैंगलम् की भाषा में विवृत्ति को मुरद्धित न रखने की प्रवृत्ति आरंभ हो गई थी।

अ + इ = ओ आओ (५१६।४ <आओ ५५२।४ <आगतः), उओ (३७०।४ उदितः) कहियो (२४।५ <कहिअउ १६८।४ <कथितः), चौहइ (४०४।२ <चउहइ <चतुर्दश), जगीओ (३४८।१ <जनितः), भौहा (४४३।३ <भ्रूवै)

अ + इ = ऐ, आछे (४६५।२ <अच्छइ), आवे (३५८।४ <आवइ <आयाति), कहीजे (४४२।२ <कहिजइ २४६।५ <कथ्यते), घरीजे (४१२।१ <घरिजइ <घ्रियते)।

§ ११५. विवृत्ति या हायटस को दूर करने के लिए अपभ्रंश-काल में य या व भ्रुति का विधान था। अपभ्रंश के वह मध्यम 'व' व्यञ्जन का कुछ शब्दों में लोप दिखाई पड़ता है। यह लोप मूलतः प्रयुक्त या भ्रुति अन्य दोनों प्रकार के व के प्रयोगों में दिखाई पड़ता है। वैसे

‘पुलिंग शब्दों में वे प्रायः अन्त में ‘ओ’ जोड़ते हैं जैसे कलूटो । किन्तु बोलचाल में ‘ओ’ के स्थान पर ‘आ’ का प्रयोग करते हैं जैसे कलूआ । केलग ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था । ब्रजभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओं के बारे में केलग ने लिखा है—

‘ब्रजभाषा में पदान्त का ‘आ’ विशेषणों और क्रियाआ में प्रायः ‘ओ’ दिखाई पड़ता है किन्तु सज्ञा शब्दों में प्राकृत का ‘ओ’ आ ही रह जाता है ।’ जो हो ओकारान्त और आकारान्त दोनों तरह के प्रयोग ब्रज में चलते हैं ।

§ ११७. दूसरी विशेषता है ओकारान्त प्रयोग । प्राचीन ब्रज में अभी तक ओकारान्त पदों का विकास नहीं हुआ था । सूर और सूर के बाद की ब्रजभाषा में प्रायः ओकारान्त रूप मिलते हैं । मिर्जा खा ने भी सर्वत्र ओकारान्त ही रूप दिए हैं इस पर जियाउद्दीन ने एक टिप्पणी भी दी है, जिसमें इस ओ-कारान्त का बोल-चाल की भाषा की विशेषता बताया है ।^१

§ ११८ ब्रजभाषा के सर्वनामों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जो इसे अन्य भाषाओं से भिन्न करते हैं । खड़ी बोली के सर्वनामों के तिर्यक् रूप जिस, तिस, किस, उस आदि के आधार पर बनते हैं जैसे जिसने, उसने, जिसको, तिसको आदि । किन्तु ब्रजभाषा के तिर्यक् रूप या, वा, ना का आदि साधित हैं अर्थात् ब्रजभाषा में ये रूप वानें, याको, जाको, ताका, आदि बनते हैं । इस प्रकार खड़ी बोली में जबकि साधित-रूप में जिस, तिस, किस, उस का महत्व है ब्रज में ता, वा, ना, या, ना का । प्राकृतपैगलम् में इन रूपों के बीज विन्दु दिखाई पड़ते हैं ।

- (१) कैसे जिविआ ताका पिअला (४०८।४)
- (२) ताक जगणि किण यकउ वभउ (४७०।४)
- (३) काहु णअर नेह मद्रणि (५२३।४)
- (४) जा अरुगे पवई सीसे गया जासु

इन सर्वनामों के अलावा जो, सो, तामु, जासु आदि ब्रजभाषा के बहुप्रचलित रूपों के प्रयोग भरे पड़े हैं । नीचे कुछ विशिष्ट प्रयोग दिये जाते हैं—

- (१) हम्मारी दुखिता सहारो (३६१।४ प्रा० पै०)
- (२) हमारै हरि हारिल की लकरी (सूर)
- (३) गई भविची किल का हमारो (४३५।४ प्रा० पै०)
- (४) हमरी बात सुनो ब्रजराय (सूर)
- (५) उप्पाय हीणा हउ एक नारी (४३५।२ प्रा० पै०)

मध्यमपुरुष के सर्वनामों के भी बहुत ही विकसित रूप दिखाई पड़ते हैं ।

- (१) किति तुअ हरिवभ भण (१८४।८)
- (२) सोहर तोहर स्कट सहर (३५१।२)

१ केलग, ग्रामर आफ दी हि-दो लैंगेज, पृ० १२८

२. ए ग्रामर आफ दा ब्रज भाषा, पृष्ठ ३७, फुट नोट

‘पुलिंग शब्दों में वे प्रायः अन्त में ‘ओ’ जोड़ते हैं जैसे कलूटो । किन्तु बोलचाल में ‘ओ’ के स्थान पर ‘आ’ का प्रयोग करते हैं जैसे कलूटा । केलाग ने भी इस प्रकार की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था । ब्रजभाषा की ध्वन्यात्मक विशेषताओं के बारे में केलाग ने लिखा है—

‘ब्रजभाषा में पदान्त का ‘आ’ विशेषणों और क्रियाआ में प्रायः ‘ओ’ दिखाई पड़ता है किन्तु सजा शब्दों में प्राकृत का ‘ओ’ आ ही रह जाता है ।’ जो हो ओकारान्त और आकारान्त दोनों तरह के प्रयोग ब्रज में चलते हैं ।

§ ११७. दूसरी विशेषता है ओकारान्त प्रयोग । प्राचीन ब्रज में अभी तक ओकारान्त पदों का विकास नहीं हुआ था । सूर और सूर के बाद की ब्रजभाषा में प्रायः औकारान्त रूप मिलते हैं । मिर्जा खा ने भी सर्वत्र ओकारान्त ही रूप दिए हैं इस पर जिपाउद्दीन ने एक टिप्पणी भी दी है, जिसमें इस ओ-कारान्त का बोल-चाल की भाषा की विशेषता बताया है ।^१

§ ११८ ब्रजभाषा के सर्वनामों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जो इसे अन्य भाषाओं से भिन्न करते हैं । खड़ी बोली के सर्वनामों के तिर्यक रूप जिस, तिस, किस, उस आदि के आधार पर बनते हैं जैसे जिसने, उसने, जिसको, तिसको आदि । किन्तु ब्रजभाषा के तिर्यक् रूप या, वा, ना का आदि साधित हैं अर्थात् ब्रजभाषा में ये रूप वानें, वाको, जाको, ताका, आदि बनते हैं । इस प्रकार खड़ी बोली में जबकि साधित-रूप में जिस, तिस, किस, उस का महत्व है ब्रज में ता, वा, ना, या, ना का । प्राकृतवैगलम् में इन रूपों के बीच विन्दु दिखाई पड़ते हैं ।

- (१) कैसे जिविआ ताका विद्याला (४०८।४)
- (२) ताक जणणि किण यकउ वभउ (४७०।४)
- (३) काहु णअर गेह मद्रणि (५२३।४)
- (४) जा अदगे पव्वई सीसे गगा जासु

इन सर्वनामों के अलावा जो, सो, तासु, जासु आदि ब्रजभाषा के बहुप्रचलित रूपों के प्रयोग भरे पड़े हैं । नीचे कुछ विशिष्ट प्रयोग दिये जाते हैं—

- (१) हम्मारे दुरिन्ता सहारो (३६१।४ प्रा० पै०)
- (२) हमारै हरि हारिल की लकरी (सूर)
- (३) गई भविती किल का हमारो (४३५।४ प्रा० पै०)
- (४) हमरी बात सुनो ब्रजराय (सूर)
- (५) उप्पाय हीणा हउँ एक नारी (४३५।२ प्रा० पै०)

मध्यमपुरुष के सर्वनामों के भी बहुत ही विकसित रूप दिखाई पड़ते हैं ।

- (१) किति सुअ हरिवभ भण (१८४।८)
- (२) सोहर तोहर सवउ सहर (३५१।२)

१ कैलाग, ग्रामर आफ दी हिन्दी लैंग्वेज, पृ० १२८

२. ए ग्रामर आफ दा ब्रज भाषा, पृष्ठ ३७, फुट नोट

८—ब्रजभाषा की असमापिका क्रियायें अपना निजी महत्त्व रखती हैं। इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है संयुक्त पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग। ब्रजभाषा में इस तरह की क्रियाएँ सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं। पूर्वकालिक क्रिया के साथ $\sqrt{\text{कृ}}$ का पूर्वकालिक रूप।

भई जु रि कै लरी (सर)

कहुक दिवस औरो ब्रज घसि कै (सर)

खड़ी बोली हिन्दी में इसका थोड़ा भिन्न रूप पहनकर, लाकर आदि में दिखाई पड़ता है। प्राकृत पैगलम् के रूप इस प्रकार हैं।

जइ राय विपत्तिउ अणुर खत्तिउ कट्टि कए यदि छन्द भणौ (३३०।३, ४) 'कट्टिकइ' काट कर का पूर्व रूप है। ब्रजभाषा में 'काटि कौ' हो जायेगा। कै का पूर्वरूप कए भी महत्त्वपूर्ण है। दूसरा उदाहरण देखें—

हय गय अप पसरत धरा गुरु सज्जिकरा (३३०।६)

धरा के तुक पर अंतिम शब्द 'कर' का कया हो गया है। 'सज्जिकर' में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग देखा जा सकता है, इसमें 'कर' खड़ी बोली में आज भी प्रचलित है। इसी तरह 'लखलख मुँह संगाचि कर' (२५६।४) में भी वही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। मन्देशरासक में 'देहेवि करि' रूप से भी इसी प्रवृत्ति का पता चलता है।

ब्रजभाषा में भूतकाल की सामान्य क्रिया में लोर्गा ने औकारान्त या ओकारान्त की प्रवृत्ति को लाद दिया है। इस तरह के रूप पहले कर्मवाच्य में थे और बाद में ये कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैगलम् में इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप मिलते हैं—

(१) लोइहि बाणीओ (५४७।३)

(२) फणिएँ भणीओ (३४८।१)

(३) पिगलें कहिओ (३२३।३)

कर्मवाच्य के ये रूप ब्रज में कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैगलम् में कर्मवाच्य रूपों के साथ साथ कर्तृवाच्य के भी रूप दिखाई पड़ते हैं।

(१) सिहर कंठिओ (२६०।१)

(२) नअण ऋषिओ (२६०।२)

(३) सो सम्भाणीओ (५०६।२)

(४) पफुलिअ कुद उगो सहि चद (३७०।४)

क्रिया रूपों में और भी बहुत से महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्राकृत पैगलम् की भाषा में मिलते हैं, जिनका आगे चलकर ब्रजभाषा में विकास और रूपान्तर दिखाई पड़ता है, सामान्य वर्तमान के लिए वर्तमान कृदन्त के अन्त (शतृ प्रत्यापान्त) रूपों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। उदा हेरन्ता (५०७।४), मग्गे तिणि पलन्त (५६६।२) आदि। ऐसे रूप रासो, कचोर, चारण शैली के नरहरिमट आदि की रचनाओं में बहुत मिलते हैं।

§ २२१. ब्रजभाषा के अन्पय के बहु प्रचलित घाँ, लौ, आदि रूप प्राकृत पैगलम् में नहीं मिलते। किन्तु प्राकृत पैगलम् में 'जु' का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है। 'जु' ब्रजभाषा में पादपूर्क अन्पय है, जिसका प्रयोग बहुतायत से हुआ है।

८—ब्रजभाषा की असमापिका क्रियाएँ अपना निजी महत्व रक्ती हैं। इनकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है समुच्च पूर्वकालिक क्रिया का प्रयोग। ब्रजभाषा में इस तरह की क्रियाएँ सर्वत्र दिखाई पड़ती हैं। पूर्वकालिक क्रिया के साथ $\sqrt{\text{कृ}}$ का पूर्वकालिक रूप।

भई जुरि कै लरी (सर)

बहुक दिवस औरो ब्रज घसि कै (सर)

खड़ी बोली हिन्दी में इसका थोडा भिन्न रूप पहनकर, लाकर आदि में दिखाई पड़ता है। प्राकृत पैगलम् के रूप इस प्रकार हैं।

जइ गय विपत्तिउ अणुमर खत्तिउ कट्टि कए वदि छन्द मणौ (३३०।३, ४) 'कट्टिकइ' काट कर का पूर्व रूप है। ब्रजभाषा में 'काटि कौ' हो जायेगा। कै का पूर्वरूप कए भी महत्वपूर्ण है। दूसरा उदाहरण देखें—

हय गय अप पसरत धर गुरु सञ्जिकरा (३३०।६)

धर के तुक पर अन्तिम शब्द 'कर' का करा हो गया है। 'सञ्जिकर' में पूर्वकालिक युग्म का प्रयोग देखा जा सकता है, इसमें 'कर' खड़ी बोली में आज भी प्रचलित है। इसी तरह 'छक्कलु मुँह संगावि कर' (२५६।४) में भी वही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। सन्देशरासक में 'दहेवि करि' रूप से भी इसी प्रवृत्ति का पता चलता है।

ब्रजभाषा में भूतकाल की सामान्य क्रिया में लोर्गा ने औकारान्त या ओकारान्त की प्रवृत्ति को लक्ष्य किया है। इस तरह के रूप पहले कर्मवाच्य में थे और बाद में ये कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैगलम् में इस प्रकार के कर्मवाच्य रूप मिलते हैं—

(१) लोइहि चाणीओ (५४७।३)

(२) फणिएँ मणीओ (३४८।१)

(३) गिगलें कहिओ (३२३।३)

कर्मवाच्य के ये रूप ब्रज में कर्तृवाच्य में बदल गए। प्राकृत पैगलम् में कर्मवाच्य रूपों के साथ साथ कर्तृवाच्य के भी रूप दिखाई पड़ते हैं।

(१) तिहर कंविओ (२६०।१)

(२) नध्रण भूपिओ (२६०।२)

(३) सो सगमाणीओ (५०६।२)

(४) पफुलिअ कुद उगो सहि चद (३७०।४)

क्रिया रूपों में और भी बहुत से महत्वपूर्ण प्रयोग प्राकृत पैगलम् की भाषा में मिलते हैं, जिनका आगे चलकर ब्रजभाषा में विकास और रूपान्तर दिखाई पड़ता है, सामान्य वर्तमान के लिए वर्तमान कृदन्त के अन्त (शतृ प्रत्यायान्त) रूपों का प्रयोग भी इस भाषा की विशेषता है। उदा हेरन्ता (५०७।४), मग्गे तिणि पलन्त (५६६।२) आदि। ऐसे रूप रासो, कचोर, चारण शैली के नरहरिमट आदि की रचनाओं में बहुत मिलते हैं।

§ १२१. ब्रजभाषा के अन्त्य के बहु प्रचलित धौ, लौ, आदि रूप प्राकृत पैगलम् में नहीं मिलते। किन्तु प्राकृत पैगलम् में 'जु' का प्रयोग एक स्थान पर हुआ है। 'जु' ब्रजभाषा में पादपूरक अन्त्य है, जिसका प्रयोग बहुतायत से हुआ है।

जिनपद्ममूरि नाम प्रसिद्ध किया ।^१ इससे मान्य होना है कि श्री जिनपद्ममूरि १३८ के आसपास विद्यमान थे, अतः शूलिभद्र कागु का रचनाकाल इसी सवत् के आसपास मानना ज्यादा उचित होगा। शूलिभद्र कागु श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह में संकलित है। परवता अपभ्रंश में लिखी इस रचना की भाषा में गुजराती प्रमाण अत्यन्त ही है, किन्तु सामान्यतः इसमें ब्रजभाषा की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। मुनि शूलिभद्र पाण्डिपुर में चतुर्मास व्यतीत करने के लिए रुकते हैं, यहाँ एक वेश्या उन्हें लुब्ध करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करती है। लेकिन वे वेश्या के साज शृङ्गार और सौंदर्य का वर्णन इस भाषा में किया है।

काजलि अजिबि नयन जुय सिरि सभउ फाडेइ

वोरियाडिडि काजुलिय उर मडलि ताडेइ ॥१३॥

कजु जुयल जमु लइलहत किर मयण हिडोला

चञ्चल वचल तरग चग जसु नयण कचोला

सोइइ जामु कपोल पालि जणु गालि मसुरा

कोमल विमल मुकट जामु वाजइ सखरूरा ॥१४॥

लवणिम रमभरि वृवडीय जमु नाहिय रेहइ

मयणराइ किर विनपखम जमु उरू सोइइ

जमु नत्र पल्लव कामदेव अकुस जिम राजइ

रिमकिम रिमकिम पाय कमलि घाघरिय सुवाजइ ॥१५॥

नव जोवन विहसति देइ नव नेह गदिही

परिमल लहरिहि मद्रमयत रइ केलि पहिही

भहर विच परवाल खण्ड वर चपा वली

नयन सल्लणिय हात्र भाव बहुगुण सम्पुञ्जा ॥१६॥

इणि मिणगारि करेवि वर जच भाई मुणि पासि

जो एवा कडतिग मिलिय सुर किरर आकासि ॥१७॥

भाषा की दृष्टि से सरलीकृत काजलि <कजल, काजुलिय <कञ्जुलिय, वाजइ <वजइ, घाघरिय <घग्घर (देशीनाम मान्य) आदि शब्द, निर्निमित्तिक कारक प्रयोग, जस, जामु, जो आदि सरनाम जिम तिम क्रिया विशेषण, अति विनसित अपभ्रंश के तिङन्त रूप तथा लहलहत, विहसति आदि कृदन्त का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, और भूत कृदन्ता के स्त्रीलिंगी सम्पुञ्जा, वनो, गदिही, आदि रूप भूतकाल के कृदन्त निष्ठा का स्त्रीलिंग 'आई' रूप, तत्सम शब्दों की अति बहुलता आदि विशेषताएँ इस भाषा की पूर्वजता अपभ्रंश से काफी दूर और ब्रज के निकट पहुँचाती हैं।

हिडोला, कचोला, मसुरा, सखरूरा, आदि प्रयोगों को देखने में यद्यपि खड़ी बोली का भी आभास होता है पर ये प्रयोग ब्रज में भी चले हैं।

१. ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, अगरचन्द्र नाहटा और भवरलाल नाहटा, कलकत्ता सवत् १९३४, पृ० १४-१५

जिनपद्ममूरि नाम प्रसिद्ध किया।^१ इससे मादून होता है कि श्री जिनपद्ममूरि १३८८ के आसपास विद्यमान थे, अतः थूलिमद् पागु का रचनाकाल इसी सभ्य के आस पास मानना ज्यादा उचित होगा। थूलिमद् का नाम श्री मुनि जिनविजय जी द्वारा संपादित प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रह में संकलित है। परवता अपभ्रंश में लिखी इस रचना की भाषा में गुजराती प्रमाण अनश्वयमाती है, किन्तु सामान्यतः इसमें व्रजभाषा की प्रवृत्तियाँ भी स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। मुनि थूलिमद् पाण्डित्य में चतुर्मास व्यतीत करने के लिए बहने हैं, यहाँ एक वेश्या उन्हें लुब्ध करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करती है। लेखक ने वेश्या के साज शृङ्गार और सौंदर्य का वर्णन इस भाषा में किया है।

कात्रलि भजिबि नयन जुय सिरि सभउ फाडेइ

वोरियाडिदि काचुलिय उर मडलि साडेइ ॥१३॥

कन्नु लुवल जमु लइलहत किर मयण हिडोला

चञ्चल कपल तरग चग जमु नयण कचोला

सोइइ जामु कपोल पालि जणु गालि मसूरा

कोमल विमल मुकड जामु वाजइ सखनूरा ॥१४॥

लवणिम रमभरि कूवडीय जमु नाहिय रेहइ

मयगसाइ किर विनपलम जमु उरू सोइइ

जमु नत्र पल्लन कामदेव भजुस जिम राजइ

रिमकिम रिमकिम पाय कमलि घाघरिय मुवाजइ ॥१५॥

नव जोवन विहसति देह नव नेह गहिह्री

परिमल लहरिदि मदमयत रइ केलि पहिह्री

भहर विव परवाल खण्ड वर चपा वत्ती

नयन सलुणिय हात्र भाव बहुगुण सगुधी ॥१६॥

इणि मिणगारि करेवि वर जय नाई मुणि पासि

जो एवा कडतिग मिलिय सुर किनर आकासि ॥१७॥

भाषा की दृष्टि से सरलीकृत कात्रलि < कजल, काचुलिय < कञ्चुलिय, वाजइ < वजइ, घाघरिय < घग्घर (देशीनाम माल्य) आदि शब्द, निर्निभक्तिक कारक प्रयोग, बस, जामु, जो आदि सर्वनाम जिम तिम क्रिया विशेषण, अति विनसित अपभ्रंश के तिङन्त रूप तथा लइलहत, विहसति आदि कृदन्त का सामान्य वर्तमान में प्रयोग, और भूत कृदन्ता के स्त्रीलिंगी सम्पुनी, वरो, गहिह्री, आदि रूप भूतकाल के कृदन्त निष्ठा का स्त्रीलिंग 'आई' रूप, तलम राब्दों की अति बहुलता आदि विशिष्टताएँ इस भाषा की पूर्ववता अपभ्रंश से काफी दूर और व्रज के निकट पहुँचाती हैं।

हिडोला, कचोला, मसूरा, सखनूरा, आदि प्रयोगों को देखने में यद्यपि खड़ी बोली का भी आभास होता है पर ये प्रयोग व्रज में भी चन्ते हैं।

१. ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, अमरचन्द्र नाइटा और भवरलाल नाइटा, कलकत्ता सभ्य १९१४, पृ० १४-१५

किन्तु चर्चागीत की भाषा अन्तःप्रवृत्ति की दृष्टि से अचहद या परवर्ती अरभ्रश्च से साम्य रखने हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रंगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा की विवरण-तालिका मैंने पश्चिमी राजस्थानी का जिक्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत सी अप्रकाशित ग्रन्थों में जैन भाडारों में सुरक्षित है। इस भाषा का अत्यन्त वैज्ञानिक परिचय डा० तेरीतारी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १९१४-१६ के बीच इण्डियन ऐंटिक्वैरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन ब्रजभाषा के कुछ समता-सूचक उल्लेख प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रमुख ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगल या ब्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४ पिंगल भाषा का किञ्चित् स्नादशं प्राकृत वैगम् के कुटुम्ब पदों में दिखलाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण और गौरव ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जब डा० बूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने रासो एशियाटिक सोसाइटी की पत्र लिखकर रामो का प्रकाशन स्यंगित करा दिया, तब से आज तक किसी न किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषा-शास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहस की और सडनमडन की अबल धारा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलाजलि दे देने का संदेश भी दिया। कर्नल टाड^१, डा० बूलर^२, डा० मारिसन^३, डा० ओम्स^४ तथा डा० दशरथ शर्मा^५ जैसे कुछ विद्याभ्यननी व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसंगों की क्रमिक जांच भी होती रही। डा० बूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्योंकि वे सन् ९१३ ईस्वी से ११६८ ईस्वी तक की प्रयत्नियों में सूचित घटनाओं से मिलती थीं। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज को सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बताई गई हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखती हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विषयनाओं को देखते

१. एनरम एड एन्टिक्वैटीज़ आव राजस्थान, १८२६
२. प्रोसिडिंग्स आफ जे० ए० यस० बो०, अनवरी, १८६३
३. सम एकाउण्ट्स आफ दी जेनिओलाजीज़ इन, पृथ्वीराज विजय, विदना ओरियण्टल जर्नल, खड सात, १८६३
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन सं० भाग १, १९२० पृथ्वीराज रामो का निर्माण काल, कोपोत्सव स्मारक संग्रह, १९२८ ईस्वी
५. राजस्थान भारती भाग १ अंक २-३, मद्रभारती वर्ष १, तथा पृथ्वीराज तृतीय और मुहम्मद बिनसाम का मुदा, जर्नल आव ज्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इण्डिया १९५४। दिल्ली का अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय, इण्डियन कल्चर, १९४४ इत्यादि

किन्तु चर्चागीत की भाषा अतःप्रवृत्ति की दृष्टि से अवहट्ट या परवर्ती अग्रभ्रष्ट से साम्य रखने हुए भी पूर्वी प्रयोगों से अत्यन्त रगी हुई है।

१२वीं से १४वीं काल की भाषा की विकरण-तालिका मैंने पश्चिमी राजस्थानी का जिक्र किया है। इस भाषा की पुष्कल सामग्री प्रकाशित हो चुकी है। और बहुत सी अप्रकाशित ग्रन्थों में जैन भाषारों में सुरक्षित है। इस भाषा का अत्यन्त वैज्ञानिक परिचय डा० तेसीतारी ने अपने निबन्ध प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी में प्रस्तुत किया जो सन् १६१४-१६ के बीच इण्डियन ऐंठिक्वैरी में प्रकाशित हुआ। इस भाषा में भी हम प्राचीन व्रजभाषा के कुछ समान-सूचक तत्व प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु इसे प्रमुख ढाँचे के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

पिंगल या व्रजभाषा की चारण शैली—

§ १२४ पिंगल भाषा का किञ्चित् रूपादर्श प्राकृत पैंगलन् के कुछ-कुछ पदों में दिखलाई पड़ता है किन्तु इसका सबसे महत्त्वपूर्ण और गौरव ग्रन्थ पृथ्वीराज रासो है। ईस्वी सन् १८७६ में जब डा० बूलर को पृथ्वीराज की विजय की प्रति उपलब्ध हुई और उसे अधिक ऐतिहासिक मानकर उन्होंने गणक एशियाटिक सोसाइटी को पत्र लिखकर रासो का प्रकाशन स्थगित करा दिया, तब से आज तक किसी न किसी रूप में कई विद्वानों ने ऐतिहासिक, भाषाशास्त्रीय, सांस्कृतिक आदि आधारों पर इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर ऊहापोह की, बहुत की और खडनखडन की अक्षत धारा में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को मात्र जाली कहकर तिलाजलि दे देने का संदेश भी दिया। कर्नल टाड^१, डा० बूलर^२, डा० मारिसन^३, डा० ओम्ब्र^४ तथा डा० दशरथ शर्मा^५ जैसे कुछ विद्वान्मनीय व्यक्तियों के प्रयत्नों से इस ग्रन्थ का सही विवेचन भी हुआ और इसके विवादास्पद प्रसंगों की क्रमिक जांच भी होती रही। डा० बूलर ने पृथ्वीराज विजय की घटनाओं को ऐतिहासिक माना क्योंकि वे सन् ९१३ ईस्वी से ११६८ ईस्वी तक की प्रशान्तियों में सूचित घटनाओं से मिलती थीं। पृथ्वीराज विजय में पृथ्वीराज की सोमेश्वर और कर्पूर देवी का पुत्र कहा गया है, ये कर्पूर देवी चेदिदेश के राजा की कन्या बताई गई हैं जब कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को अनंगपाल की पुत्री से उत्पन्न कहा गया है। पृथ्वीराज विजय की बातें पृथ्वीराज के लेखों से साम्य रखती हैं। इन्हीं सब ऐतिहासिक विषयनाओं को देखते

१. एनहम एंड एन्टिक्वैरीज आव राजस्थान, १८२६
२. प्रोसिडिंग्स आफ् थे० ए० एस० सो०, जनवरी, १८६३
३. सम एकाउण्ट्स आफ् दी जेनिओलॉजीज् इन, पृथ्वीराज विजय, विदना ओरियण्टल जर्नल, खड सात, १८६३
४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन सं० भाग १. १९२० पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, कोयोन्सव हमारक संग्रह, १९२८ ईस्वी
५. राजस्थान भारती भाग १ अंक २-३, मद्रभारती वर्ष १, तथा पृथ्वीराज तृतीय और मुहम्मद विजसाम की मुद्रा, जर्नल आव् ज्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव् इण्डिया १९५४। दिल्ली का अंतिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय, इण्डियन कल्चर, १९४४ इत्यादि

कि 'पृथ्वीराज रासो वि० सं० १६०० के आसपास लिखा गया। वि० सं० १५-१७ की प्रशस्ति में रासों की घटनाओं का उल्लेख नहीं है। रासों की सबसे पुरानी प्रति १६४२ की मिथी है, जिसके बाद यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विक्रमी संवत् १७३८ की राजप्रशस्ति में रासों का स्पष्ट उल्लेख है, यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूल ग्रन्थ वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था क्योंकि आज से १८५ वर्ष पहले उसी के वंशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५,००० श्लोकों का होना लिखा है, पृथ्वीराज रासो की प्राचीन सिद्ध करने की जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे निराधार हैं।^१ ओम्भा जी का यह निष्कर्ष तत्कालीन प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्णतः सगत और युक्तिपूर्ण था किन्तु ओम्भा निबन्ध संग्रह के सम्पादक डा० दशरथ शर्मा के मत से : कई तरह के तथ्यों का समुचित रूप से उल्लेख उस निबन्ध की विशेषता है, किन्तु जिन समय यह लेख प्रकाशित हुआ रासो का केवल एक रूपान्तर ज्ञात था। अब पाँच रूपान्तर प्राप्त हैं। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उद्धृत अपभ्रंश के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि रासो किसी समय अपभ्रंश काव्य के रूप में वर्तमान रहा होगा। रासो का उस समय समुचित अध्ययन भी न हुआ था। उसका अर्थ अनर्थ करने के लिए केवल रासो सार ही प्राप्त था, उन्हीं कारणों से ओम्भा जी की सब उक्तियाँ अब सर्वमान्य न रही।^२

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के चार छाप्यों ने रासो की भाषा को परवर्ती या नई प्रमाणित करने वालों की अटन्ल शक्तियों को निर्मूल तो सिद्ध कर ही दिया, साथ ही इस ग्रन्थ के किसी न किसी रूप में प्राचीनतर होने की स्थापना को भी बल दिया। संवत् १५२८ की प्रति के आधार पर मुनिजिनविजय द्वारा सम्पादित इस संग्रह के पृथ्वीराज प्रबन्ध में तीन ऐसे छन्द आते हैं जो विकृत अवस्था में रासो के तीन छन्दों से पूर्ण साम्य रखते हैं। इस साम्य को देखते हुए मुनिजिनविजय जी ने लिखा कि 'कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि वह ग्रन्थ समूचा ही बनानटी है और सत्रहवीं शदी के आस पास बना हुआ है। यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो ३-४ प्राकृत भाषा पद्य पृ० ८६, ८८-८९ पर उद्धृत किए हुए मिलते हैं उनका पता हमने उक्त रासों में लगाया है। और इन चार पद्यों में से तीन पद्य, यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दशः उसमें हमें मिल गए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद्र कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और दिल्लीधर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित और राज कवि था। उसने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृतभाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई जिस तरह अनुभवी परीक्षक परिश्रम करके, लाख भूठे मोतियों में से मुझी भर सच्चे मोतियों को अलग छ्वाट सकता है, उसी तरह भाषा शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् इन लाख बनानटी श्लोकों में से उन अत्यसख्यक सच्चे पद्यों को भी अलग निकाल सकता है।^३

१. ओम्भा निबन्ध संग्रह, भाग १, उदयपुर, पृ० ११२

२. वही, प्रस्तावना, पृ० २

३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, १९३६, पृ० ८-१०

कि 'पृथ्वीराज रासो वि० स० १६०० के आसपास लिखा गया। वि० स० १५-१७ की प्रशस्ति में रासो की घटनाओं का उल्लेख नहीं है। रासो की सबसे पुरानी प्रति १६४२ की मिथी है, जिसके बाद यह ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हो गया, यहाँ तक कि विक्रमी संवत् १७३८ की राजप्रशस्ति में रासो का स्पष्ट उल्लेख है, यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले पृथ्वीराज रासो का मूल ग्रन्थ वर्तमान परिमाण से बहुत छोटा था क्योंकि आज से १८५ वर्ष पहले उसी के वंशज कवि यदुनाथ ने उसका १०५,००० श्लोकों का होना लिखा है, पृथ्वीराज रासो को प्राचीन सिद्ध करने की जो युक्तियाँ दी जाती हैं वे निराधार हैं।'^१ ओम्भा जी का यह निष्कर्ष तत्कालीन प्राप्त सामग्री के आधार पर पूर्णतः सगत और युक्तिपूर्ण था किन्तु ओम्भा निबन्ध संग्रह के सम्पादक डा० दशरथ शर्मा के मत से : कई तरह के तथ्यों का समुचित रूप से उल्लेख उस निबन्ध की विशेषता है, किन्तु जिन समय यह लेख प्रकाशित हुआ रासो का केवल एक रूपान्तर ज्ञात था। अब पाँच रूपान्तर प्राप्त हैं। पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उद्धृत अपभ्रंश के उद्धरणों से यह भी ज्ञात होता है कि रासो किसी समय अपभ्रंश काव्य के रूप में वर्तमान रहा होगा। रासो का उस समय समुचित अध्ययन भी न हुआ था। उसका अर्थ अनर्थ करने के लिए केवल रासो सार ही प्राप्त था, उन्हीं कारणों से ओम्भा जी की सब उक्तियाँ अब सर्वमान्य न रही।^२

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के चार छापों ने रासो की भाषा को परबर्ती या नई प्रमाणित करने वालों की अत्यन्त शक्तियों को निर्मूल तो सिद्ध कर ही दिया, साथ ही इस ग्रन्थ के किसी न किसी रूप में प्राचीनतर होने की स्थापना को भी बल दिया। संवत् १५२८ की प्रति के आधार पर मुनिजिनविजय द्वारा सम्पादित इस संग्रह के पृथ्वीराज प्रबन्ध में तीन ऐसे छन्द आते हैं जो विकृत अवस्था में रासो के तीन छन्दों से पूर्ण साम्य रखते हैं। इस साम्य को देखते हुए मुनिजिनविजय जी ने लिखा कि 'कुछ पुराविद् विद्वानों का यह मत है कि यह ग्रन्थ समूचा ही बनापटी है और सत्रहवीं शदी के आस पास बना हुआ है। यह मत सर्वथा सत्य नहीं है। इस संग्रह के उक्त प्रकरणों में जो ३-४ प्राकृत भाषा पद्य पृ० ८६, ८८-८९ पर उद्धृत किए हुए मिलते हैं उनका पता हमने उक्त रासो में लगाया है। और इन चार पद्यों में से तीन पद्य, यद्यपि विकृत रूप में लेकिन शब्दशः उसमें हमें मिल गए हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और दिलीश्वर हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित और राज कवि था। उसने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देश्य प्राकृतभाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई जिस तरह अनुभवी परीक्षक परिश्रम करके, लाख भूठे मोतियों में से मुड़ी भर सच्चे मोतियों को अलग छांट सकता है, उसी तरह भाषा शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् इन लाख बनापटी श्लोकों में से उन अल्पसंख्यक सच्चे पद्यों को भी अलग निकाल सकता है।'^३

१. ओम्भा निबन्ध संग्रह, भाग १, उदयपुर, पृ० ११२

२. वही, प्रस्तावना, पृ० २

३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, १६३६, पृ० ८-१०

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'सारीर पृथुराज वज्रायान पिंगल तसनीफ कर्ता कवि चन्द वरदाई' का आशय है; पृथुराज का इतिहास पिंगल बचान में, रचयिता चन्द वरदाई।' गार्सा द तासी १२वीं से आद्यतक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को ब्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'ब्रजप्रदेश की खास बोली ब्रजभाषा उन आधुनिक बोधिया में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्व का अनुमान बारहवीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स ऑव राजस्थान की सामग्री ली।^१ तासी जब ब्रजभाषा बोली की चर्चा करते हैं तो उनका मतलब ब्रजप्रदेश की बोलचाल की भाषा से नहीं बल्कि सूरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वीं शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डा० तेसीतारी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के त्रिलेखों में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृत पँगलम् की) उस भाषा समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृत पँगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।^२ जार्ज ग्रियर्सन चन्द के रासो को ब्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होने वाले सूरदास को ब्रज का दूसरा कवि।^३ यहाँ ग्रियर्सन भी रासो की भाषा को ब्रजभाषा का प्रारम्भिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) का आरंभिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषाको रूढ़ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ ही साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नहीं थी।' डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया ब्रज कहते हैं 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली को सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृताभास स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिये गए हैं। पृथ्वीराजरसो मध्यकालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।'^४

§ १२६. उपर्युक्त विचारों के विश्लेषण के आधार पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रासो की भाषा को प्राचीन ब्रज नाम दिया जा सकता है। बहुत से लोग जो रासो की भाषा को अनियमित और परवता वशभास्कर या चारण शैली के अन्य काव्यों की भाषा से भिन्नी-जुन्नी कहकर अत्यधिक आधुनिक बताते हैं वे एक बात भूल जाते हैं कि चारण शैली की भाषा का निर्माण १२वीं १३वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से हो गया था जिसका पता प्राकृतपँगलम् के छन्दों की भाषा से चलता है, रासो की भाषा से मिलती जुलती भाषा १६५० सत्र के जान कवि के कनामजा रासो में है, नरहरिमठ के छप्पयो में मिलती है, और आज भी राजस्थान के कुछ चारण इसी भाषा में काव्य करते हैं, किन्तु इस आधार

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद, डा० लक्ष्मीसागर वाण्येय, १९५३, पृ० ६६

२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, प्रथम स० की पहली जिल्द की भूमिका १८३६ ई०

३. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६, काशी, १९५६

४. लिनिव्हिस्टिक सर्वे भाव इडिया, खण्ड ६, भाग प्रथम पृ० ६६

शीर्षक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस शीर्षक 'सागीर पृथुराज वज्रवान पिंगल तसनीफ कर्ता कनि चन्द वरदाई' का आशय है; पृथुराज का इतिहास पिंगल जवान में, रचयिता चन्द वरदाई।^१ गाँगा द तासी १२वीं से आजातक के हिन्दी साहित्य को 'हिन्दुई साहित्य' कहते हैं और प्राचीन हिन्दुई को ब्रज के सबसे निकट बताते हैं। 'ब्रजप्रदेश की खास बोली ब्रजभाषा उन आधुनिक बोलियाँ में से है जो पुरानी हिन्दुई के सबसे अधिक निकट है। हिन्दुई के महत्व का अनुमान बारहवीं शताब्दी में लिखित चन्द के रासो काव्य से किया जा सकता है जिससे कर्नल टाड ने एनल्स आव राजस्थान की सामग्री ली।^२ तासी जब ब्रजभाषा बोली को चर्चा करते हैं तो उनका मतलब ब्रजप्रदेश की बोलचाल की भाषा से नहीं बल्कि सरदास आदि की कविता की भाषा से है। इस भाषा को वह पुरानी हिन्दुई यानी १२वीं शती के रासो की भाषा के सबसे निकट मानते हैं। डा० तेसीतारी पिंगल अपभ्रंश के परिचय के सिञ्चिले में कहते हैं कि उसकी भाषा (प्राकृत पँगलम् की) उस भाषा समूह का शुद्ध प्रतिनिधि नहीं है जिससे पश्चिमी राजस्थानी उत्पन्न हुई। प्राकृत पँगलम् की भाषा की पहली सन्तान पश्चिमी राजस्थानी नहीं बल्कि भाषा का वह विशिष्ट रूप है जिसका प्रमाण चन्द की कविता में मिलता है जो भलीभाँति प्राचीन पश्चिमी हिन्दी कही जा सकती है।^३ जार्ज ग्रियर्सन चन्द के रासो को ब्रजभाषा की आदि रचना बताते हैं और चार सौ वर्ष बाद होने वाले सरदास को ब्रज का दूसरा कवि।^४ यहाँ ग्रियर्सन भी रासो की भाषा को ब्रजभाषा का प्रारम्भिक रूप ही स्वीकार करते हैं। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या पृथ्वीराज रासो की भाषा को पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा) का आरंभिक रूप मानते हैं, किन्तु इस भाषाको रूढ़ और साहित्य शैली की भाषा स्वीकार करते हैं। रासो के बारे में वे लिखते हैं 'इसके मुख्य उपादान तो पश्चिमी अपभ्रंश के हैं साथ ही साथ आद्य पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी और पञ्जाबी बोलियों का पुट मिला दिया गया है। यह जनभाषा नहीं थी।^५ डा० धीरेन्द्र वर्मा रासो की भाषा को प्रधानतया ब्रज कहते हैं 'यद्यपि ओजपूर्ण शैली की सुसज्जित करने के लिए प्राकृत अथवा प्राकृतभास स्वतंत्रता के साथ मिश्रित कर दिये गए हैं। पृथ्वीराजरासो मध्यकालीन ब्रजभाषा में ही लिखा गया है, पुरानी राजस्थानी में नहीं जैसा कि साधारणतया इस विषय में माना जाता है।^६

§ १२६. उपर्युक्त विचारों के विरलेपण के आधार पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि रासो की भाषा को प्राचीन ब्रज नाम दिया जा सकता है। बहुत से लोग जो रासो की भाषा को अनियमित और परवता वशभास्कर या चारण शैली के अन्य काव्यों की भाषा से भिन्नी-जुन्नी कहकर अत्यधिक आधुनिक बताते हैं वे एक बात भूल जाते हैं कि चारण शैली की भाषा का निर्माण १२वीं १३वीं शताब्दी में पूर्ण रूप से हो गया था जिसका पता प्राकृतपँगलम् के छन्दों की भाषा से चलता है, रासो की भाषा से मिलती जुन्ती भाषा १६५० सत्र के जान कवि के कनामला रासो में है, नरहरिभट्ट के छप्पयो में मिलती है, और आज भी राजस्थान के कुछ चारण इसी भाषा में काव्य करते हैं, किन्तु इस आधार

१. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद, डा० लक्ष्मीसागर वाज्ज्य, १९५३, पृ० ६६

२. हिन्दुई साहित्य का इतिहास, प्रथम स० की पहली जिल्द की भूमिका १८३६ ई०

३. पुरानी राजस्थानी, पृ० ६, काशी, १९५६

४. लिखिस्टिक सर्वे भाव इडिया, खण्ड ६, भाग प्रथम पृ० ६१

रासो का छाप्य—

भगह मगह दाहिमौ देव रिपराइ खयकर
 क्रमंत जिन करी मिले जूवै जगर
 मो सह नामा सुनौ एह परमारय सुग्गै
 भवसै चंद विरइ विमौ कोइ एहु न तुग्गै
 प्रथिराज सुनवि सभरि धनी इह समलि
 कैमास वलिष्ठ वसीठ बिन म्लेच्छ वध वधो मरित

(रासो पृ० २१८२ पद्य ४०६)

पुरातन प्रबन्ध का तीसरा छाप्य—

त्रिनिह लख तुपार सबल पाखरी भइ जसु हय
 चउदसय मयमत्त दति गजति महामय
 बीस लख पायक सफर फारक धनुद्धर
 हूँसहूँ भरु वलु यान सक कुजाणइ ताहँ पर
 छत्तीस लख नराहिवइ विहि विनडियो हो किम भयक
 जइ चंद न जाणउ जवहुकइ गयउ कि मूभ कि धरि गयउ ॥

(पृ० ८८, पद्यांक २८७)

रासो का छाप्य—

भसिय लख तोपार सत्रउ पक्खर सायइल
 सहस हस्ति चौसट्टि गरुभ गजंत महामय
 पच कोटि पाइक सुफर फारक धनुद्धर
 जुध जुधान वर वीर तोर बंधन सदनभर

छत्तीस सहस रन नाइवी विहि त्रिम्मान ऐसो कियो
 जे चन्द राइ कवि चन्द कह उदधि बुद्धि कै धर लियो ॥

(रासो पृ० २५०२ पद्य २१६)

तीसरे पद से स्पष्ट है कि केवल सेना की संख्या ही 'त्रिनिह' यानी तीन लख से 'असी लख' नहीं हो गई बल्कि भाषा भी कम से कम सौ वर्ष का व्यंजान मिटा कर नए रूप में सामने आई ।

§ १२८. प्राचीन छपदों की भाषा में सर्वत्र उद्धृत स्वरों को सुरक्षित रखा गया है जब कि नये छपदों में विवृत्ति मिटाकर संयुक्त स्वर कर लिए गए हैं । यथा—

सडहडि'उं > व्यरह'यौ' (शब्दान्तर) चुक्यउ > चुक्यौ, कइवासह
 > कैमास, जंत्रूपय (इ) > जंत्रुवै, बुज्भइ > बुज्भै, सुग्गइ > सुग्गै,
 विभ (उ) > विवौ, चउदई > चौ'सट्टि (शब्दान्तर) भयउ > भयौ

इस अक्षरों को देखने से दो बातों का पता चलता है । प्राचीन छपदों की भाषा प्राकृत पिंगलम् की भाषा की तरह उद्धृत स्वरों को सुरक्षित रखती है जबकि नये छपदों की भाषा व्रजभाषा की तरह इन्हें सुरक्षित नहीं रखती । इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रभाव ।

रातो का छप्पय—

अगह मगह दादिमौ देव रिपराइ एयकर
 कूरमंत त्रिन करौ मिले जधूवै जगर
 मो सह नामा मुनौ एह परमारय सुग्मै
 भवसै चंद विरह विमौ कोइ एहु न तुग्मै
 प्रथिराज सुनवि सभरि धनी इह सभलि
 कैमास वलिष्ठ वसीठ त्रिन भ्लेच्छ दध वधो मरित
 (रातो पृ० २१८२ पद्य ४०६)

पुरातन प्रबन्ध का तीसरा छप्पय—

त्रिन्दि लख तुषार सबल पाखरी अइ जमु हय
 चउदसय मयमत्त दति गजति महामय
 वीस लख पायक सफर फारक धनुदर
 एहूसहू अरु बलु यान सक जुजाणइ साई पर
 छत्तीस लख नराहिवइ विहि विनडियो हो किम भयऊ
 जइ चंद न जाणउ जवहुकइ गयउ कि मूभ कि धरि गयउ ॥
 (पृ० ८८, पद्यांक २८७)

रातो का छप्पय—

असिय लख तोषार सत्रउ पक्खर सायहल
 सहस हस्ति बीसट्टि गरुभ गजंत महामय
 पच कोटि पाइक सुफर फारक धनुदर
 जुध जुधान वर वीर तोर वंधन सदनभर
 छत्तीस सहस रन नाइवौ विहि विग्मान ऐसो कियौ
 जे चन्द राइ कवि चन्द कह उदधि बुद्धि कै धर लियौ ॥
 (रातो पृ० २५०२ पद्य २१६)

तीसरे पद से स्पष्ट है कि केवल सेना की संख्या ही 'त्रिन्दि' यानी तीन लख से 'असी लख' नहीं हो गई बल्कि भाषा भी कम से कम सौ वर्ष का व्यन्धान मिटा कर नए रूप में सामने आई ।

§ १२८. प्राचीन छपदों की भाषा में सर्वत्र उद्धृत स्वरों को सुरक्षित रखा गया है जब कि नये छपदों में विवृत्ति मिटाकर संयुक्त स्वर कर लिए गए हैं । यथा—

लडहडिँउँ > व्यरह्यौ (शब्दान्तर) बुक्यउ > बुक्यौ, कइवासह
 > कैमास, बंबूपय (इ) > बंबूचै, बुग्गइ > बुग्गै, सुग्गइ > सुग्गै,
 विभ (उ) > वियौ, चउदई > चौंसट्टि (शब्दान्तर) भयउ > भयौ

इस व्यन्धान को देखने से दो बातों का पता चलता है । प्राचीन छपदों की भाषा प्राकृत वैगलम् की भाषा की तरह उद्धृत स्वरों को सुरक्षित रखती है जबकि नये छपदों की भाषा ब्रजभाषा की तरह इन्हें सुरक्षित नहीं रखती । इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रभाव ।

§ १३२. व > म

व का म परिवर्तन द्रष्टव्य है—

पुहुचीस > पुहुमीस (पुष्वीरा)

कइवासह > कइमासह (कदम्बवास)

भिरसन ने अजीगढ की, ब्रजभाषा में व > म परिवर्तन लक्ष्य किया था। मनामन < मनावन (हिन्दी) वामन < वावन (हिन्दी) रोमति < रोवति।^१ अपभ्रंश में ऐसे प्रतिकूल मिलने थे।

मन्मय > वम्मह

प्राचीन छपदों में प्रयुक्त ण ध्वनि नवीन छपदों में सर्वत्र 'न' कर दी गई है। वाण > वान, नटण > नटन, सटभरिषणु > सभरिषन आदि। ब्रजभाषा में ण का न हो जाना है। बलुतः ब्रज में ग ध्वनि पूर्णतः लोप हो चुकी है (देखिये ब्रज भाषा § १०५)।

इस प्रकार ध्वनि विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रासों के पुराने पदों की भाषा १३ वीं १४ वीं की भाषा है। जो लोग इसे एकदम अपभ्रंश कहते हैं वे इसके रूप तत्व की नवीन अप्रसूतरीभूत भाषा प्रवृत्तियों पर ध्यान नहीं देते जो परसर्ग, विभक्ति, त्रिव्यारूपों और सर्वनामों की दृष्टि से काफी विकसित माद्धम होती है। दूसरी ओर रासों का जो वर्तमान रूप प्राप्त है उसकी भाषा से पुराने छपदों की भाषा का सीधा सम्बन्ध है। परवर्ती भाषा इसी का विकास है जो सूर आदि की भाषा से पुरानी है और उसमें १३ वीं १४ वीं के भी बहुत से रूपों को सुरक्षित किये हुये हैं।

पृथ्वीराज रासों की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है।^१

ध्वनि सम्बन्धों विशेषताएँ—ध्वनि सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का पुरातन प्रबन्ध के छपदों की भाषा के सिद्धित्तिले में उल्लेख हो चुका है। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

§ १३३. रासों की भाषा में तत्सम-प्रयोगों के अलावा अन्य शब्दों में प्रयुक्त ऋ का परिवर्तन अ, इ, ए आदि में हाता है अमृत > अमिय, कृत > किय, हृदय > हिय, मृत्यु > मीचु, आदि। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से भी पहले शुरू हो गई थी और बाद में ब्रजभाषा में भी दिखाई पड़ती है।

१. लिंविस्टिक सर्वे आफ इंडिया, खण्ड ६, भाग १, पृ० ७१

२. रासों की भाषा के लिए द्रष्टव्य—

(क) जान बीम्स, स्टडीज इन ग्रामर आव चन्दवरदाई, जे० ए० यस० बी० खण्ड ४२, भाग १ पृ० १६५-१६१

(ख) हार्मले, गोडियन ग्रामर में यत्र-तत्र

(ग) नरोत्तमदास स्वामी, पृथ्वीराजरासों की भाषा, राजस्थान भारती भाग १ अंक ४ पृ० १६४७

(घ) डॉ० नामवर सिंह, पृथ्वीराजरासों की भाषा, काशी, १६५६

(ङ) डॉ० विपिन विहारी त्रिवेदी-चन्दवरदाई और उनका काव्य, इलाहाबाद, पृ० २८१-३६१

§ १३२ व > म

व का म परिवर्तन द्रष्टव्य है—

पुहुवीस > पुहुमीस (पृथ्वीरा)

कइवातइ > कइमासइ (कदम्बवास)

भिरर्सन ने अलीगढ़ की, ब्रजभाषा में व > म परिवर्तन लक्ष्य किया था।

मनामन < मनावन (हिन्दी) वामन < वावन (हिन्दी) रोमति < रोवति । अपभ्रंश में ऐसे प्रतिकूल मिलने से।

मामय > वम्मह

प्राचीन छपदों में प्रयुक्त ण ध्वनि नवीन छपदों में सर्वत्र 'न' कर दी गई है। वाण > वान, नदण > नंदन, सदभरिषणु > समरिषन आदि। ब्रजभाषा में ण का न हो जाता है। वस्तुतः ब्रज में ण ध्वनि पूर्णतः लोप हो चुकी है (देखिये ब्रज भाषा § १०५)।

इस प्रकार ध्वनि विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि रासों के पुराने पदों की भाषा १३ वीं १४ वीं की भाषा है। जो लोग इसे एफ़दम अपभ्रंश कहते हैं वे इसके रूप तत्व की नवीन अपभ्रंशभूत भाषा प्रवृत्तियों पर ध्यान नहीं देते जो परसर्ग, विभक्ति, त्रियारूपों और सर्वनामों की दृष्टि से काफी विकसित मादम होती है। दूसरी ओर रासों का जो वर्तमान रूप प्राप्त है उसकी भाषा से पुराने छपदों की भाषा का सीधा सम्बन्ध है। परवर्ती भाषा इसी का विकास है जो घूर आदि की भाषा से पुरानी है और उसमें १३ वीं १४ वीं के मी वृत्त से रूपों को सुरक्षित किये हुये हैं।

पृथ्वीराज रासों की भाषा की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक है।^१

ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ—ध्वनि सम्बन्धी कुछ विशेषताओं का पुरातन प्रबन्ध के छपदों की भाषा के तिलसिले में उल्लेख हो चुका है। कुछ अन्य नीचे दी जाती हैं।

§ १३३. रासों की भाषा में तत्सम प्रयोगों के अलावा अन्य शब्दों में प्रयुक्त ऋ का परिवर्तन अ, इ, ए आदि में हाता है अमृत > अमिय, इत > किय, हृदय > हिय, मृत्यु > मीतु, आदि। यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से भी पहले शुरू हो गई थी और बाद में ब्रजभाषा में भी दिखाई पड़ती है।

१. लिग्विस्टिक सर्वे भाग इट्रिया, खण्ड ६, भाग १, पृ० ७१

२. रासों की भाषा के लिए द्रष्टव्य—

(क) जान बीन्स, स्टडीन इन ग्रामर भाग चन्द्रवरदाई, जे० ए० यस० बी० खण्ड ४२, भाग १ पृ० १६५-१६१

(ख) हार्नेले, गोडियन ग्रामर में यज्ञ-सत्र

(ग) नरोत्तमदास स्वामी, पृथ्वीराजरासों की भाषा, राजस्थान भारती भाग १ अंक ४ पृ० १६४७

(घ) डॉ० नामवर सिंह, पृथ्वीराजरासों की भाषा, काशी, १९५६

(ङ) डा० विपिन बिहारी त्रिवेदी-चन्द्रवरदाई और उनका काव्य, इलाहाबाद, पृ० २८१-३६१

§ १४२. रासो में ने परसर्ग नहीं मिलता । व्रज में 'ने' या 'नै' परसर्ग मिलता है । वीम्स ने रासो का एक पद उद्धृत किया है जिसमें उन्हें ने ने का प्रयोग मिला था, वाल्पन पृथीराज ने, इस प्रयोग का भी उन्हें ने कर्ता करण की ओर नहीं बल्कि सम्प्रदान की ओर लगाव देया । इस प्रकार रासो की भाषा में ने का पूर्णतः अभाव है कीर्तिलता के दो चार सर्वनामिक प्रयोगों को छोड़कर ने का प्रयोग १२ वीं १४ वीं के पिंगल अपभ्रंश साहित्य में कहीं नहीं मिलता । किन्तु रासो में अन्य कारकों में विविध परसर्गों का प्रयोग हुआ है । करण में सू, सौ यथा लक्ख सौं भिरे, राज सूं कहइ । करण में ते का प्रयोग भी हुआ है । यह ते व्रज में तै' के रूप में दिखाई पड़ता है, पानि ते मेरु दिहले । सम्प्रदान में लागि या लगि तथा अपभ्रंश तणउ का विकृत तण रूप प्रयुक्त हुए हैं (१) जीव लागि छुंडिय (२) गुनियन तन चाह्यो । व्रज में आरम्भिक रचनाओं में तन या तणा (अर के अर्थ में) का प्रयोग मिलता है लागि वा प्रयोग परवर्ती व्रज में अत्यन्त विरल है, किन्तु आरम्भिक व्रज (१४००-१६००) में इसका बहुत प्रयोग हुआ है । सम्बन्ध के 'को' 'कउ' और के तीनों रूपों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं ।

१—कवि को मन स्तउ २—पृथीराज कउ ३—रोस कै दरिया आदि । अधिकरण का प्रसिद्ध परसर्ग मञ्जु > माञ्जु > माभ, मह माभारि आरि कई रूपों में मिलता है ।

§ १४३. सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा बहुत धनी है अर्थात् उसमें नाना प्रकार के सर्वनाम दिखाई पड़ते हैं ।

हैं, मै—तो हौं छुड़ो देहि, मैं सुन्या साहिबिन अंप कोन

मो, मोहि—कह्यो मोहिनि वर मोहि, मो सरण हिन्दू तुरक

मेरे, मेरी—मेरे बज्जु राय न आवहु, मेरी अरदासि

हम, हमारी—हम मरन दिवस हैं मगलीक, आल्हा सुनो हमारी वानीप

इसी प्रकार तुम, तुम्ह, तुम्हइ, तै, तोहि आदि के भी उदाहरण मिलते हैं । व्रजभाषा की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारका का निर्माण होता है । जाको देहन होई, में जाको साधित रूप है । इसी तरह ता को, ता सौ, ता पै आदि रूप उपलब्ध होते हैं । सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा विल्कुल व्रज कही जा सकती है ।

§ १४४. वर्तमान में तिङन्त रूपों के अलावा जो अपभ्रंश से सीधे आये हैं और जिनका विकास व्रज में भी हुआ, अन्त वाले निष्ठा रूप भी प्रयुक्त हुए हैं, ठीक प्राकृत पिंगलम् की तरह । भलकन्त कनक (कनक भलकता है) राइ अल्पत दान (राजा दान अर्पता है) यह पिंगल और प्राचीन व्रज की अपनी विशेषता है । भविष्य में—स—वाले रूपों के साथ ही—इ—प्रकार के रूप प्रयुक्त हुए हैं । भिदिहै, जानिहै, माभिहै आदि रूप व्रज के समान ही हैं । निष्ठा के भूत (कृदन्त) कालिक रूप छौलिंग कर्ता के अनुसार चली, उठी आदि बनते हैं । क्रियार्थक सज्ञा ण—प्रत्यय के योग से बनती है । व्रज की तरह ही, दिक्खण, चाहण, आदि जो उकारान्त होने/से देखनो, चाहनो आदि व्रजरूप ले लेते हैं ।

§ १४५. भूत काल में इग से बने कुछ विलक्षण रूप मिलते हैं । भविष्यत् के गा वाले रूपों के विकास में इनका योग समभव है । जैसे ये गतः > ग बने प्रतीत होते हैं ।

§ १४२. रासो में ने परसर्ग नहीं मिलता। व्रज में 'ने' या 'नै' परसर्ग मिलता है। योमस ने रासो का एक पद-उद्धृत किया है जिसमें उन्हें ने ने का प्रयोग मिला था, बालप्पन पृथीराज ने, इस प्रयोग का भी उन्हें ने कर्ता करण की ओर नहीं बल्कि सम्प्रदान की ओर लगाव देना। इस प्रकार रासो की भाषा में ने का पूर्णतः अभाव है कीर्तिलता के दो चार सर्वनामिक प्रयोगों को छोड़कर ने का प्रयोग १२ वीं १४ वीं के विंगल अपभ्रंश साहित्य में कहीं नहीं मिलता। किन्तु रासो में अन्य कारकों में विविध परसर्गों का प्रयोग हुआ है। करण में ए, सो यथा लफ्फल सों भिरे, राज सूं कहुइ। करण में ते का प्रयोग भी हुआ है। यह ते व्रज में ते' के रूप में दिखाई पड़ता है, पानि ते मेरु दिल्ले। सम्प्रदान में लगि या लगिन तथा अपभ्रंश तण्ड का विकृत तण रूप प्रयुक्त हुए हैं (१) जीव लगि छुडिय (२) गुनियन तन चाहो। व्रज में आरम्भिक रचनाओं में तन या तणा (आर के अर्थ में) का प्रयोग मिलता है लगि वा प्रयोग परवत्। व्रज में अत्यन्त विरल है, किन्तु आरम्भिक व्रज (१४००-१६००) में इसका बहुत प्रयोग हुआ है। सम्बन्ध के 'को' 'कउ' और के तीनों रूपों के बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

१—कवि को मन स्तउ २—पृथीराज कउ ३—रोस कै दरिया आदि। अधिकरण का प्रसिद्ध परसर्ग मज्ज > माग्म > माभ, मह माभारि आरि कई रूपों में मिलता है।

§ १४३. सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा बहुत धनी है अर्थात् उसमें नाना प्रकार के सर्वनाम दिखाई पड़ते हैं।

हों, मै—तो हों छुडो देहि, मैं मुन्या साहिविन अंप कीन
मो, मोहि—कहो मोहिनि चर मोहि, मो सरण हिन्दू तुरक
मेरे, मेरी—मेरे कहु राय न आवहु, मेरी भरदासि
इग, हमारी—हम मरन दिवस हैं मगलीक, आलदा मुनो हमारी वानीय

इसी प्रकार तुम, तुह, तुहइ, तै, तोहि आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। व्रजभाषा की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण वे साधित रूप हैं जिनमें परसर्गों के प्रयोग से कारका का निर्माण होता है। जाको देहन होई, में जाको साधित रूप है। इसी तरह ता को, ता सौ, ता पै आदि रूप उपलब्ध होते हैं। सर्वनामों की दृष्टि से रासों की भाषा विलकुल व्रज कही जा सकती है।

§ १४४. वर्तमान में सिद्धन्त रूपों के अलावा जो अपभ्रंश से सीधे आये हैं और जिनका विकास व्रज में भी हुआ, अन्त वाले निष्ठा रूप भी प्रयुक्त हुए हैं, ठीक प्राकृत वैगलम् की तरह। भलकन्त कनक (कनक भलकन्ता है) राइ अप्पत दान (राजा दान अर्पता है) यह विंगल और प्राचीन व्रज की अपनी विशेषता है। भविष्य में—स—वाले रूपों के साथ ही—इ—प्रकार के रूप प्रयुक्त हुए हैं। भिदिहै, जानिहै, मानिहै आदि रूप व्रज के समान ही हैं। निष्ठा के भूत (कृदन्त) कालिक रूप स्त्रीलिंग कर्ता के अनुसार चली, उठी आदि बनते हैं। त्रियार्थक सगा ण—प्रत्यय के योग से बनती है। व्रज की तरह ही, दिबखण, चाहण, आदि जो उकारान्त होने से देखनो, चाहनो आदि व्रजरूप ले लेते हैं।

§ १४५. भूत काल में इग से बने कुछ विलक्षण रूप मिलते हैं। भविष्यत् के गा वाले रूपों के विकास में इनका योग समझ है। जैसे ये गतः > ग बने प्रतीत होते हैं।

शब्दों में भी परिवर्तन हुए हैं।^१ चारण शैली का प्रभाव विदेशी शब्दों पर भी घनिष्ठ रूप से पड़ा है।

§ १४२. पृथ्वीराज रातो के अन्वया कई अन्य रातो काव्य भी पिंगल भाषा में लिखे गए। इनमें नल्लसिंह का विजयपाल रातो और नरपति नाल्ह का वासुदेव रातो दो अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। नल्लसिंह का कोई निश्चित परिचय प्राप्त नहीं होता। विजयपाल रातो के ही एक अंश से यह सूचित होता है कि ये सिरोहिया शाखा के भाट थे। विजयगढ़ के यादव नरेश विजयपाल के आश्रित सभा-कारि के रूप में इन्होंने राजा से एक नगर, सात सौ गाँव, हाथी, घोड़े और रत्न बद्ध कञ्चन के आभूषण पुरस्कार में मिले थे।

भये भट्ट प्रथु यज्ञ ते है सिरोहिया धस्य ।
 वृत्सेधर यदुवस के नल्ल पल्ल दल सल्ल ॥
 धांसा सो गजराज वाजि सोलह सो माते ।
 दिये सात सौ ग्राम सहर हिंडोन सुदाते ॥
 सुतर दिये दूँ सदस रकम गिलमे भरि अवर ।
 कञ्चन रस अटाव बहुत दाने जु अटम्वर ॥
 कुल पूजित राव सिरोहिया यादव पति निज सम कियव ।
 नृप विजयपाल जू विजयगढ़ साह ये जू सम्मपियव ॥

ग्यारहवीं शताब्दी में करौली में विजयपाल नामक एक प्रतापी राजा अवश्य हुए थे जिन्होंने अजमेर, भरतपुर, धौलपुर आदि राज्यों के कुछ भागों पर भी अधिकार कर लिया था।^२ प० मोंतैगल मेनारिया ने इस ग्रंथ को १६०० का बताया है।^३ जबकि मिश्रवधु इसका रचनाकाल १३५० का अनुमानित करते हैं। इस ग्रन्थ को अत्यन्त परवर्ती माननेके कारणों का जिक्र करते हुए मेनारिया जी लिखते हैं कि 'गजनी ईरान, काबुल, दिल्ली, दूदाड आदि पर विजयपालका एक छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने अपने ग्रंथ में लिखी है वह इतिहास विरुद्ध और अतिरेखन है। दूसरे यह कि इस ग्रंथ पर पृथ्वीराज रातो (१८ वीं शताब्दी) और वराहमिहिर (१८६७) दोनों का प्रमाण साफ मल्लकता है।^४ मेनारिया जी के दोनों तर्क बहुत प्रबल नहीं हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया पिंगल शैली का निर्माण १४ वीं शताब्दी में ही हो चुका था जिसका निवाह वराहमिहिर जैसे परवर्ती ग्रंथ में यानी १८ वीं शताब्दी के अन्त तक होता रहा। रही बात इतिहास विरुद्ध बातों के उल्लेख की तो ऊपर दिये इतिहास विरुद्ध घटना कहा गया है वह मात्र अतिरेखन और आभयदाता की प्रशंसा में

१. भरवी फारसा शब्दों का एक विस्तृत सूची, मूल के साथ डा० विपिनविहारो त्रिवेदी ने प्रस्तुत की है, चन्द्रवरद्वारा और उनका काव्य, पृ० ३१३-४६

२. द रुडिग विलेज चांफ्लेस भार लोडिंग परसोनेनेज इन राजपूताना, छडाँ सस्करण, पृ० ११५

३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८३-८४

४. वही, पृ० ८३-८४

शब्दों में भी परिवर्तन हुए हैं।^१ चारण शैली का प्रभाव विदेशी शब्दों पर भी घनिष्ठ रूप से पड़ा है।

§ १४२. पृथ्वीराज रासो के अगवा कई अन्य रासों काव्य भी पिंगल भाषा में लिखे गए। इनमें नल्लसिंह का विजयपाल रासो और नरपति नाल्ह का वासुदेव रासो दो अत्यन्त प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ हैं। नल्लसिंह का कोई निश्चित परिचय प्राप्त नहीं होता। विजयपाल रासो के ही एक अंश से यह सूचित होता है कि ये सिरोंहिया शाखा के भाट थे। विजयगढ के मादव नरेश विजयपाल के आश्रित सभा-कवि के रूप में इन्हें राजा से एक नगर, सात सौ गाँव, हाथी, घोड़े और रत्न अर्द्धित कञ्चन के आभूषण पुरस्कार में मिले थे।

भये मट्ट प्रभु यज्ञ ते है सिरोंहिया धर ॥
 वृत्तेश्वर यदुवस के नल्ल पल्ल दल सल्ल ॥
 वांसा सो गजराज वाजि सोलह सो माते ।
 दिये सात सौ ग्राम सहर हिंदोन सुदाते ॥
 सुतर दिये द्वै सदस रकम गिलमे भरि अवर ।
 कञ्चन रस अटाव बहुत दाने जु अटम्वर ॥
 कुल पूजित राव सिरोंहिया यादव पति निज सम कियव ।
 नृप विजयपाल जू विजयगढ साह ये जू सम्मपियव ॥

ग्यारहवीं शताब्दी में करौली में विजयपाल नामक एक प्रतापी राजा अवश्य हुए थे जिन्होंने अन्नर, भरतपुर, धोत्रपुर आदि राज्यों के कुछ भागों पर भी अधिकार कर लिया था।^२ प० मंतीलाल मेनारिया ने इस ग्रन्थ को १६०० का बताया है।^३ जबकि मिश्रब्रधु इसका रचनाकाल १३५० का अनुमानित करते हैं। इस ग्रन्थ को अत्यन्त परवर्ती माननेके कारणों का जिक्र करते हुए मेनारिया जी लिखते हैं कि 'गजनी ईरान, काबुल, दिल्ली, दूराड आदि पर विजयपालका एक छत्र राज्य होने की जो बात नल्लसिंह ने अपने ग्रन्थ में लिखी है वह इतिहास विरुद्ध और अतिरजन है। दूसरे यह कि इस ग्रन्थ पर पृथ्वीराज रासो (१८ वीं शताब्दी) और वराहमिहिर (१८६७) दोनों का प्रमाण साफ ऋकृता है।^४ मेनारिया जी के दोनों तर्क बहुत प्रबल नहीं हैं। जैसा कि पहले ही कहा गया पिंगल शैली का निर्माण १४ वीं शताब्दी में ही हो चुका था जिसका निर्वाह वराहमिहिर जैसे परवर्ती ग्रन्थ में यानी १८ वीं शताब्दी के अन्त तक होता रहा। रही बात इतिहास विरुद्ध बातों के उल्लेख की तो ऊपर बिते इतिहास विरुद्ध घटना कहा गया है वह मात्र अतिरजन और आश्रयदाता की प्रशस्ति में

१. भरथी फारसा शब्दों का एक विस्तृत सूची, मूल के साथ द्वा० विपिनविहारो त्रिवेदी ने प्रस्तुत की है, चन्द्रवरदायी और उनका काव्य, पृ० ३१३-४६
२. द हलिंग मिसेज चांफूस भार लोडिंग परसोनेनेज इन राजपूताना, चूर्ड सस्करण, पृ० ११५
३. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ८३-८४
४. वही, पृ० ८३-८४

पर क्रिया या जिसमें लिपिकाल १६६२ दिया हुआ है। रणमल्ल छन्द का एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

जिम जिम लसकर लोह रसि लोड्डइ सासन लविक
ईडरवइ चउसइ चडइ तिम तिम समर कडविक ॥४४॥

पच चामर

कडविक मूँछ मीँछ मँछ मल्ल मोलि सुगारि
चमकिक वलि रणमल्ल भल्ल फेरि संगारि
चमकिक धार छोडि धान छुण्डि धाडि धग्गइ
पडविक पाट पक्कडन्त मारि मारि मग्गडा ॥४५॥

चुपई

हय खुर तल रेणुइ रवि छाहिउ, समुहरि भरि ईडरवइ आइउ
खान खवास खेलि बल धायु, ईडर अडर दुग्ग तल गाह्यु ॥४६॥
दम दम कार ददाम दमक्कइ, दमदम दमदम डोल दमक्कइ
तरवर तरवर वेस पइटइ, तर तर तुरक पडइ लरु दुटइ ॥४७॥

भीषण व्यास की भाषा चारणशैली से घोर रूप में रगी हुई है। भाषा प्रायः पृथ्वीपञ्च रासो की तरह ही है। कहीं कहीं तो भाषा विल्कुल सूदन की भाषा की तरह है जिसके बारे में शुक्ल जी ने लिखा है “भाषा मनोहर है पर शब्दों की तडा तड, पडापड से जी ऊबने लगता है।” तुलसीदास ने भी वीर प्रसंगों में इस कौशल का प्रयोग किया है।

§ १५१ चारण शैली की ब्रजभाषा के इस विवेचन से हम ब्रजभाषा के प्राचीन रूप का निश्चित आभास पाते हैं। इस भाषा में कृत्रिमता बहुत है, शब्दों के विचार भी स्वाभाविक नहीं है, प्रयासजन्य कर्ण-कटुता से ओज पैदा करने के उद्देश्य के कारण इसमें भयंकर विकृति दिखाई पड़ती है। इस काल की भाषा में संस्कृत के तरसम शब्द भी प्रयोग में आने लगे थे हालांकि उनके रूप भी शुद्ध नहीं थे, उनमें भी चारण शैली की विकृति का मद्दा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यह सब होते हुए भी इस भाषा की आत्मा ब्रज की ही है। भाषा के बाहरी ढाँचे के भीतर ब्रज भाषा के सामान्य प्रचलित रूप की एकसूत्रता अन्तर्निहित है। यद्यपि हम इस भाषा को बोली जाने वाली ब्रज से भिन्न मानते हैं, क्योंकि यह कृत्रिम और दरवारा की साहित्यिक भाषा थी, फिर भी इसका भाषागत और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद और मान्य है।

औत्तिक ब्रजभाषा का अनुमानित रूप—

§ १५२. १२वीं से १४वीं शताब्दी के बीच जब कि पिंगल ब्रज दरवारा की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी, मध्यदेश या शूरसेन प्रदेश की अपनी जन बोली का भी विकास हो रहा था। पिंगल भाषा की ऊपरी बनावट और शारीरिक गठन के भीतर यद्यपि इस

१. प्राचीन गुर्जर काव्य, प्रस्तावना, पृ० १-२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६४-६५

पर किया था जिसमें लिपिकाल १६६२ दिया हुआ है।^१ रणमल्ल छन्द का एक अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

जिम जिम लसकर लोह रसि लोड्डु सासन लक्कि
ईडरवड चडसड चडड तिम तिम समर कडक्कि ॥४४॥

पच चामर

कडक्कि मूँछ मीँछ मँछ मल्ल मोलि मुगगि
चमक्कि चलि रणमल्ल भल्ल फेरि संगगि
चमक्कि धार छोटि धान छुलि छोटि धामडा
पडक्कि पाट पक्कडन्त मारि मारि मग्गडा ॥४५॥

चुपई

हय खुर तल रेणुइ रवि छाहिठ, समूहरि भरि ईडरवड आइड
खान खवास खेलि बल धायु, ईडर अडर दुगग तल गाह्यु ॥४६॥
दम दम कार ददाम दमक्कड, दमदम दमदम डोल दमक्कड
तरवर तरवर वेस पहट्टइ, तर तर तुरक पडइ लरु दुट्टइ ॥४७॥

श्रीधर व्यास की भाषा चारणशैली से घोर रूप में रगी हुई है। भाषा प्रायः पृथ्वीराज रासो की तरह ही है। कहीं कहीं तो भाषा विल्कुल सूदन की भाषा की तरह है जिसके चारे में शुक्ल जी ने लिखा है “भाषा मनोहर है पर शब्दों की तडा तडा, पडापडा से जी ऊबने लगता है।” तुलसीदास ने भी घोर प्रसंगों में इस कौशल का प्रयोग किया है।

§ १५१ चारण शैली की ब्रजभाषा के इस विवेचन से हम ब्रजभाषा के प्राचीन रूप का निश्चित आभास पाते हैं। इस भाषा में कृत्रिमता बहुत है, शब्दों के विनार भी स्वाभाविक नहीं है, प्रयासजन्य कर्ण-कटुता से ओज पैदा करने के उद्देश्य के कारण इसमें भयकर विकृति दिखाई पड़ती है। इस काल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रयोग में आने लगे थे हालांकि उनके रूप भी शुद्ध नहीं थे, उनमें भी चारण शैली की विकृति का महा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। यह सब होते हुए भी इस भाषा की आत्मा ब्रज की ही है। भाषा के बाहरी ढाँचे के भीतर ब्रज भाषा के सामान्य प्रचलित रूप की एकसूत्रता अन्तर्निहित है। यद्यपि हम इस भाषा को बोली जाने वाली ब्रज से भिन्न मानते हैं, क्योंकि यह कृत्रिम और दरवारों की साहित्यिक भाषा थी, फिर भी इसका भाषागत और साहित्यिक महत्त्व निर्विवाद और मान्य है।

औत्तिक ब्रजभाषा का अनुमानित रूप—

§ १५२. १२वीं से १४वीं शताब्दी के बीच अब कि विंगल ब्रज दरवारों की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलित थी, मध्यदेश या शूरेन प्रदेश की अपनी जन बोली का भी विकास हो रहा था। विंगल भाषा की ऊपरी बनावट और शारीरिक गठन के भीतर यद्यपि इस

१. प्राचीन गुर्जर काव्य, प्रस्तावना, पृ० १-२

२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३६४-६५

लेखकों के अनुसार यह भाषा भ्रष्ट संस्कृत का रूप ही है किन्तु जिस प्रकार से भ्रष्ट ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करके ब्राह्मणी ही कहलती है, वैसे ही यह भी दिव्य ही कही जायेगी। उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा को लक्ष्य करके मुनि जिनविजय लिखते हैं कि इतने प्राचीन समय की यह रचना केवल कौशली अर्थात् अवधी उपनाम पूवाया हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं अपितु समग्र नूतन भारतीय श्रार्यकुलीन भाषाओं के विकास क्रम के अध्वन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का स्थान रखती है। वस्तुतः राजस्थान-गुजरात के उक्ति प्रथों की भाषा तो ब्रजभाषा के अध्वन की दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनमें पश्चिमो अपभ्रंश के क्षेत्र की बोलियों का दिग्गण ब्रजभाषा के अत्यंत निकट पडता है। औक्तिक ब्रजभाषा (१२ से १४वीं शती तक) का व्याकरणिक स्वरूप तो करीब करीब वैसा ही था जैसा प्राकृत वैंगलम् की विकसित भाषा का था पिंगल सन्धी अन्य रचनाओं की भाषा का, किंतु यह भाषा पहली की तरह कृत्रिमता और तद्भव शब्दों के कृत्रिम रूपों से पूर्णतः मुक्त थी, जनता जिन तद्भव शब्दों से (व्यजन लोप के बाद) ठीक से उच्चारण नहीं कर सनी वे या तो सन्धि या सकोच प्रक्रिया के आधार पर बदल दिए गए या उसके स्थान पर तत्सम रूपों का प्रयोग होने लगा। उक्ति प्रथों में इस प्रकार के हजारों शब्द या पद मिलते हैं जो नई भाषा के विकास की सूचना देते हैं। नीचे हम उक्ति व्यक्ति प्रकरण, उक्ति रत्नाकर और अन्य उक्ति प्रथों से कुछ विशिष्ट शब्द और पद उद्धृत कर रहे हैं। इनमें बहुत से पूर्ण वाक्य रूप भी हैं जिनमें भाषा की नई प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। कई महत्त्वपूर्ण व्याकरणिक विशेषतायें भी लक्षित होती हैं।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण से :

§ १५४. १-दूजेण सउ (सौं) सब काहू नूट (शुट कलह कर्मणि) उक्ति व्यक्ति ३७।६२

(२) हों करओं (में करता हूँ) उक्तिव्यक्ति १६।७

(३) जेम जेम (जिमि जिमि) पूतुहि दुलाल (इ) तेम तेम (तिमि तिमि) दूजण कर हिय साल (इ) उक्ति-शक्ति (३८।१७)

(४) चोर (चोरो) घन मूस (इ) मूस ४७।५

(५) सूऔ (सूआ < शुक्र) माणुस जेउ (ज्यो) बाळ (२) ५०।२६

उक्ति व्यक्ति प्रकरण के अन्तिम पत्र शुद्धित हैं इसलिये भूतकाल के रूपों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। भाषा कौशली है, परन्तु ब्रज के कई प्रभाव 'उ' कागन्त प्रातिपदिक (प्रथमाने) हउ सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसगों की दृष्टि से ब्रज के प्रयोग साथ ही 'हि' विभक्ति का भिन्न कारकों में प्रयोग (जिसे चातुर्वर्षी प्राचीन ब्रज का प्रभाव बताते हैं) स्पष्टता परिलक्षित होते हैं। उक्ति व्यक्ति में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ

1 I am inclined to look upon—u—as a form taken from Western Apabhraṃsa later strengthened by the similar affix from old Braj

Ukti vyakti Prakarana, Study, pp 40

2 This hi is a short of made of-all work so to say, it would appear to be an imposition from literary Apabhraṃsa and from old Braj

Ukti vyakti Prakarana Study, pp 37

लोकों के अनुसार यह भाषा भ्रष्ट संस्कृत का रूप ही है किन्तु जित प्रकार से भ्रष्ट ब्राह्मणी प्रायश्चित्त करने ब्राह्मणों ही कह्य जाती है, वैसे ही यह भी दिव्य ही कही जायेगी। उक्ति व्यक्ति प्रकरण की भाषा को लक्ष्य करके मुनि विनविजय लिखते हैं कि इतने प्राचीन समय की यह रचना केवल कौशली अर्थात् अवधी उपनाम पूवाया हिन्दी की दृष्टि से ही नहीं अपितु समग्र नूतन भारतीय आर्यकुलीन भाषाओं के विकास क्रम के अधून की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व का स्थान रखती है। वस्तुतः राजस्थान-गुजरात के उक्ति ग्रंथों की भाषा तो ब्रजभाषा के अपभ्रंश की दृष्टि से और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनमें पश्चिमी अपभ्रंश के क्षेत्र की बोलियों का दिग्दर्शन ब्रजभाषा के अत्यंत निकट पड़ता है। औत्तिक ब्रजभाषा (१२ से १४वीं शती तक) का व्याकरणिक स्वरूप तो करीब करीब वैसा ही था जैसा प्राकृत पैंगलम् की विकसित भाषा का या पिंगल सन्धी अन्य रचनाओं की भाषा का, किन्तु यह भाषा पदों की तरह कृत्रिमता और तद्भव शब्दों के कृत्रिम रूपों से पूर्णतः मुक्त थी, जनता जित तद्भव शब्दों से (व्यजन लोप के बाद) ठीक से उच्चारण नहीं कर सती वे या तो सन्धि या सकोच प्रक्रिया के आधार पर बदल दिए गए या उसके स्थान पर तत्सम रूपों का प्रयोग होने लगा। उक्ति ग्रंथों में इस प्रकार के हजारी शब्द या पद मिलते हैं जो नई भाषा के विकास की सूचना देते हैं। नीचे हम उक्ति व्यक्ति प्रकरण, उक्ति रत्नाकर और अन्य उक्ति ग्रंथों से कुछ विशिष्ट शब्द और पद उद्धृत कर रहे हैं। इनमें बहुत से पूर्ण वाक्य रूप भी हैं जिनमें भाषा की नई प्रवृत्तियाँ देली जा सकती हैं। कई महत्त्वपूर्ण व्याकरणिक विशेषतायें भी लक्षित होती हैं।

उक्ति व्यक्ति प्रकरण से :

§ १५४. १-दूजेण सउ (सौं) सब काहू नउ (उउ कलह कर्मणि) उक्ति व्यक्ति ३७।६२

(२) हों करओं (में करता हूँ) उक्तिव्यक्ति १६।७

(३) जेम जेम (जिमि जिमि) पूतुहि दुलाल (इ) तेम तेम (तिमि तिमि) दूजण कर दिय साल (इ) उक्ति-प्रक्ति (३८।१७)

(४) चोर (चोरो) घन मूस (इ) मूसे ४७।५

(५) सुऔ (सुआ < शुक्र) माणस जेउ (ज्यो) बाल (२) ५०।२६

उक्ति व्यक्ति प्रकरण के अन्तिम पत्र श्रुति है इसलिए भूतकाल के रूपों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता। भाषा कौशली है, परन्तु ब्रज के कई प्रभाव 'उ' कारकान्त प्रातिपदिक (प्रथमामें) हउ सर्वनाम का बहुल प्रयोग, परसगों की दृष्टि से ब्रज के प्रयोग साथ ही 'हिं' विभक्ति का भिन्न कारकों में प्रयोग (जिसे चाडुर्वा प्राचीन ब्रज का प्रभाव बताते हैं) स्पष्टता परिलक्षित होते हैं। उक्ति व्यक्ति में तत्सम शब्दों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में हुआ

1 I am inclined to look upon—u—as a form taken from Western Apabhramsa later strengthened by the similar affix from old Braj

Ukti vyakti Prakarana, Study, pp 40

2 This is a short of made of-all work so to say, it would appear to be an imposition from literary Apabhramsa and from old Braj

Ukti vyakti Prakarana Study, pp 37

१—प्राचीन व्रज में संभवतः तीन लिंग होते थे। प्रियर्सन ने नपुंसक लिंग के प्रयोग लक्षित किये थे। उनके मतानुसार क्रियार्थ बोधक सज्ञा (Infinitive) का लिंग मूलतः नपुंसक था। सोना का नपुंसक रूप उन्होंने 'सोनो' बताया। 'अपनो धन' में अपनों को भी उन्होंने नपुंसक ही माना।^१ सप्रामसिंह बालशिक्षा के प्रथम प्रक्रम में लिंग-विचार करते हुए लिखते हैं—

लिंगु तीन। पुलिगु स्त्री लिंगु, नपुंसक लिंगु। भल्ल पुलिगु, भली स्त्रीलिंग। भल्ल नपुंसक लिंगु।^२

यहाँ भी नपुंसक लिंग का सूचना अनुस्वार से ही मिलती है जैसा उपर्युक्त रूप सोनों या अपनों में। उक्ति व्यक्ति के लेखक भी तीन लिंग का होना मानते हैं। लगता है कि यह नियम बाद में अत्यन्त अनावश्यक होने के कारण छोड़ दिया गया।

२—१४ वीं शती तक के किसी पिंगल या श्रपभ्ररा के ग्रथ में निम्नलिखित क्रिया विशेषणों का पता नहीं चलता जो व्रजभाषा में पर्याप्त संख्या में प्राप्त होने हैं और जिनका सचेत औक्तिक ग्रथों में पहली बार मिलता है व् > लैं :

उपरि व् = ऊपर तक, उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

हेठि व् = नीचे तक ,, ,, ,,

तउ > लैं : तौ तहि उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

३—रचनात्मक कृदादि प्रत्ययों का सक्षित विवरण नीचे दिया जाता है।

- (१) करतउ, लेतउ, देतउ इत्यादी कर्त्तरि वर्तमाने शकनृदानशी
- (२) कीजतउ, लीजतउ, लीजतउ इत्यादी कर्मस्थानश्च
- (३) करणहार, लेणहार देणहार इत्यादी वर्तमाने लुण नृचौ
- (४) कीवउ, दीवउ, लीवउ इत्यादी अतीति निष्ठा क्वमुक्तानौ च
- (५) करीउ, लेउ, देउ इत्यादी क्त्वा
- (६) करिवा, लेवा, देवा, इत्यादी तुम्
- (७) करिवउ, लेवउ, देवउ इत्यादी कर्मणि तत्तानीयौ
- (८) करणहार, लेणहार इत्यादी भविष्यति काले तुमुन्

ऊपर के सभी प्रत्ययों से बने रूप व्रजभाषा में किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं। करतौ, लेतौ आदि (कर्त्तरि वर्तमान के) कीजो, लीजो, दीजो (कर्मणि प्रयोग में) करनहार, देनहार, भूतनिष्ठा के रूप कीधो दीधो के स्थान पर कीयो दियो वाले रूप, क्त्वा के करि, ले, दे, क्रियार्थक सज्ञ में करिवा, लेवा के स्थान पर करियो, लेवो, देवो आदि तथा त-पत् के करिवो, लेवो, देवो रूप व्रज में अत्यन्त प्रचलित हैं।

१. लिगवस्तिक सर्वे भाषा इडिया, खण्ड १, भाग १, पृ० ७७

२. बालशिक्षा सज्ञा प्रक्रम, प्राचीन गुजराती गद्य सदभं, पृ० २०५

१—प्राचीन ब्रज में संभवतः तीन लिंग होते थे। प्रियर्सन ने नपुंसक लिंग के प्रयोग लक्षित किये थे। उनके मतानुसार क्रियार्थ बोधक सज्ञा (Infinitive) का लिंग मूलतः नपुंसक था। सोना का नपुंसक रूप उन्होंने 'सोनों' बताया। 'अपनों धन' में अपनों को भी उन्होंने नपुंसक ही माना।^१ सप्रामसिद्ध चालशिक्षा के प्रथम प्रक्रम में लिंग-विचार करते हुए लिखते हैं—

लिंगु तीन । पुलिंगु स्त्री लिंगु, नपुंसक लिंगु । भल्ल पुलिंगु, भली स्त्रीलिंगु । भल्ल नपुंसक लिंगु ।^२

यहाँ भी नपुंसक लिंग की सूचना अनुस्वार से ही मिलती है जैसा उपसुंक्त रूप सोनों या अपनों में। उक्ति व्यक्ति के लेखक भी तीन लिंग का होना मानते हैं। लगता है कि यह नियम बाद में अत्यन्त अनावश्यक होने के कारण छोड़ दिया गया।

२—१४ वीं शती तक के किसी पिंगल या अपभ्रंश के ग्रंथ में निम्नलिखित क्रिया विशेषणों का पता नहीं चला जो ब्रजभाषा में पर्याप्त सख्या में प्राप्त होते हैं और जिनका संकेत औक्तिक ग्रंथों में पहली बार मिलता है > लं :

उपरि लं = ऊपर तक, उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

हेठि लं = नीचे तक " " "

तउ > तौ : तौ तर्हि उक्ति रत्नाकर पृ० ५६

३—रचनात्मक कृतादि प्रत्ययों का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है।

- (१) करतउ, लेतउ, देतउ इत्यादी कर्तरि वर्तमाने शकृवृडानशौ
- (२) कीजतउ, लीजतउ, लीजतउ इत्यादी कर्मण्यानश्
- (३) करणहार, लेणहार, देणहार इत्यादी वर्तमाने बुण वृचौ
- (४) कीधउ, दीधउ, लीधउ इत्यादी अतीति निष्ठा स्वमुक्कानी च
- (५) करीउ, लेउ, देउ इत्यादी क्त्वा
- (६) करिवा, लेवा, देवा, इत्यादी तुम्
- (७) करिवउ, लेवउ, देवउ इत्यादी कर्मणि ततरानीयो
- (८) करणहार, लेणहार इत्यादी भविष्यति काले तुमुन्

ऊपर के सभी प्रत्यया से घने रूप ब्रजभाषा में किंचित् ध्वनि परिवर्तन के साथ प्रयुक्त होते हैं। करतौ, लेतौ आदि (कर्तरि वर्तमान के) कीजो, लीजो, दीजो (कर्मणि प्रयोग में) करणहार, देणहार, भूतनिष्ठा के रूप कीधो दीधो के स्थान पर कीयो दियो वाले रूप, क्त्वा के करि, ले, दे, क्रियार्थक सज्ञा में करिवा, लेवा के स्थान पर करिवो, लेवो, देवो आदि तथा त-यत् के करिवो, लेवो, देवो रूप ब्रज में अत्यन्त प्रचलित हैं।

१. लिखितिक सर्वे भाषा इडिया, खण्ड ३, भाग १, पृ० ७७

२. चालशिक्षा सज्ञा प्रक्रम, प्राचीन गुजराती गद्य सदर्थ, पृ० २०५

ब्रजभाषा का निर्माण

ओक्ति क से परिनिष्ठित तक

[वि० सं० १४००-१६००]

§ १५७. अष्टछाप के कवियों की ब्रजभाषा के माधुर्य सौष्ट्य और अभिव्यक्ति-कौशल को देखकर इस भाषा-साहित्य के विद्वानों ने प्रायः आश्चर्य प्रकट किया है। इस आश्चर्य के मूल में यह धारणा रही है कि इतनी सुव्यवस्थित भाषा का प्रादुर्भाव इतने आकस्मिक रूप से कैसे हुआ। सूर के साहित्य को आकस्मिक मानने वाले विद्वानों के विचारों की ओर हम 'प्रास्तामिक' में ही सनेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य ने संपूर्ण इतिहास पर विचार करते समय सूर और उनकी पृष्ठभूमि की समस्या को उतना महत्व नहीं दिया जा सकता था, इमोलिए केवल कुतूहल व्यक्त करके ही सतोष कर लिया गया क्योंकि अब्जल तो इस कुतूहल को शान्त करने के लिए कोई समुचित आधार न था, सूर के पहले की ब्रजभाषा-काव्य परंपरा अत्यंत विशुद्ध और भग्नप्राय थी, दूसरे १४००से१६०० विक्रमी का जो भी साहित्य प्राप्त था, उसकी भाषा पर सुव्यवस्थित तरीके से विचार भी नहीं किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में विभिन्न धाराओं का साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया, उतना ही मित्र भिन्न धाराओं के कवियों द्वारा स्वीकृत भाषा का निरलेपन भी उनका उद्देश्य रहा। यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा अनकाश और स्थल न था, किन्तु १४००से१६०० तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट निर्गुण सन्त धारा के साहित्य के प्रति, उनके हृदय में स्पष्ट बहुत उत्साह नहीं था, बैसे ही उसकी भाषा के प्रति भी बहुत आकर्षण नहीं दिखाया गया। सन्तों की भाषा को 'स्युक्कटी' नाम देकर शुक्ल जी आगे बढ़ गए। वहीं कुछ विस्तार

ब्रजभाषा का निर्माण

औक्ति क से परिनिष्ठित तक

[वि० सं० १४००-१६००]

§ ११७. अष्टछाप के कवियों की ब्रजभाषा के माधुर्य सौष्ठव और अभिव्यक्ति-कौशल को देखकर इस भाषा-साहित्य के विद्वानों ने प्रायः आश्चर्य प्रकट किया है। इस आश्चर्य के मूल में यह धारणा रही है कि इतनी सुव्यवस्थित भाषा का प्रादुर्भाव इतने आकस्मिक रूप से कैसे हुआ। सूर के साहित्य को आकस्मिक मानने वाले विद्वानों के विचारों की ओर हम 'प्रास्ताविक' में ही सरेत कर चुके हैं। यह सत्य है कि हिन्दी साहित्य ने संपूर्ण इतिहास पर विचार करते समय सूर और उनको पृष्ठभूमि की समस्या को उतना महत्व नहीं दिया जा सकता था, इमीलिए केवल कुतूहल व्यक्त करके ही सतोष कर लिया गया क्योंकि अजबल तो इस कुतूहल को शान्त करने के लिए कोई समुचित आधार न था, सूर के पहले की ब्रजभाषा-काव्य परंपरा अत्यंत विगृह्यन्त और भ्रमप्राय थी, दूसरे १४००से१६०० विरामी का जो भी साहित्य प्राप्त था, उसको भाषा पर सुव्यवस्थित तरीके से विचार भी नहीं किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में विभिन्न धाराओं का साहित्यिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया, उतना ही भिन्न भिन्न धाराओं के कवियों द्वारा स्वीकृत भाषा का विश्लेषण भी उनका उद्देश्य रहा। यह बात दूसरी है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनके पास ज्यादा भ्रमकाश और स्थल न था, किन्तु १४००से१६०० तक के हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विशिष्ट निर्गुण सन्त धारा के साहित्य के प्रति, उनके हृदय में स्पष्ट बहुत उत्साह नहीं था, बैसे ही उसकी भाषा के प्रति भी बहुत आकर्षण नहीं दिखाया गया। सन्तों की भाषा को 'सधुक्कड़ी' नाम देकर शुक्ल जी आगे बढ़ गए। कहीं कुछ विस्तार

मारत में छा गयी थी, इसमें बहुत बड़ तक काय रचना होती रही। १२ वीं शती में भी 'बंध मात्सर' जैसे ग्रन्थ इसमें मिले गए, किन्तु यह सर्वमान्य साहित्य-भाषा का स्थान तो चुकी थी। इस प्रकार विचारणीय केवल तीन भाषाएँ बच जाती हैं, तथाकथित सपुस्कड़ी, पूरबी और ब्रज।

§ १५२. 'पूरबी' शब्द को लेकर कुछ विद्वानों ने बहुत खींच-तान की है। पूरबी का अर्थ मोखपुरी या या अवधी या कुछ और इस पर निर्गोचक ढंग से विचार नहीं हो सका है। कुछ लोग 'पूरबी' का आध्यात्मिक अर्थ करते हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी 'पूरबी' के बारे में लिखते हैं कि 'पूर्व दिशा द्वारा उस मौलिक स्थिति (!) की ओर सचेत क्रिया गता है जिसमें बंतीरना और परनात्ना के बीच किसी प्रकार के अन्तर की अनुभूति नहीं रहती। अद्वय कर्षण काट्ट की लार उद्भूत नाली का अर्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार हो लगाना समीचीन होगा। 'कर्षण' के शब्द हैं—बोली इतनी पूर्व की। 'पूर्व की बोली' का आध्यात्मिक अर्थ संगत हो सकता है, अर्थात् पूर्वज्ञ के लोगों ऋषियों या त्वन परनात्ना की। दीक्षाश्रमों ने भी ऐसा अर्थ किया है। हाँलाकि इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करते हुए भी चतुर्वेदी जी ने कर्षण की भाषा में अवधी-वर्णों के खींच-तान का प्रयत्न किया है। उनसे लगता है कि 'पूरबी' शब्द कर्षण ने बान बूझ कर 'पड़ोसी' या 'परिचनों' से अपनी भाषा की भिन्नता सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया। 'पूरबी' शब्द 'परिचनों' का सन्तुष्ट है, जो इस बात की सूचना देता है कि हिन्दी प्रदेश में दोनों प्रकार की भाषाएँ प्रचलित थीं। पूरबी का अर्थ साधारणतः वही है जो पूर्वी हिन्दी का है। कर्षण-भाषा के सूझ में ही के प्रति श्रद्धा सचेत मले ही न रहे हो किन्तु लक्ष्मीन सन्तों द्वारा प्रयुक्त ब्रजभाषा और खड़ी बोली से अपनी निर्वा बोली का मंद तो वे पहचानते ही रहे होंगे। सम्भवतः कर्षण ने सर्वमान्य भाषा यानी ब्रज में अपने पूरबी प्रदेशों का सशोकरण करते हुए खींच-तान किया कि पूरब का होने के कारण अपनी भाषा 'पूरबी' का कुछ प्रभाव भी आ गया है। वैसे कर्षण के कई पद मोखपुरी या अवधी में भी दिखाई पड़ते हैं। खैरी की भाषा में श्रवणी का प्रयत्न लग है। देहे चौगई में खिली अवधी रचनाओं का कर्षण के समान तक काही प्रकार हो चुका था। 'नूरकचन्दा', 'हरिचरित्र' जैसे काव्य ग्रन्थ लिखे जा चुके थे और उनका काही प्रकार था। पूरबी का अर्थ मोखपुरी ही है। बिना पदों में मोखपुरी-प्रयोग है वे कितने प्राचीन है, यह कहना कठिन ही है। बीचक में ही यह अधिक भिन्नता है। बीचक सत्रवीं शताब्दी में घनीवी (सुनरा) मठ से प्रथम प्रचलित हुआ। ऐसा कुछ विद्वानों का मत है।

§ १६०. तथाकथित सपुस्कड़ी और ब्रज पर इन साय-साय विचार करें तो ज्यादा समीचीन होगा। खड़ी बोली और ब्रज के उद्गम, विकास और पारस्परिक सम्बन्धों पर बहुत विवाद हुआ है। परिणामतः इनकी विभिन्नता को उचित से ज्यादा महत्व दिया गया और १२वीं शताब्दी के अन्त में इनके समर्थकों में काही वाद विवाद भी हुआ। खड़ी बोली और ब्रज दोनों ही पड़ोसी बोलियाँ हैं इसलिए इनमें सम्यक ज्यादा है, विभिन्नता कम। दोनों के उद्गम और विकास के स्रोतों का सही अभिज्ञान उपर्युक्त कथन की सत्यता प्रमाणित करता है।

स्थानगत सन्धय नहीं मालूम हो पाया है लेकिन सम्भवतः इनका निर्माण राजस्थान और ब्रज के उत्तरी भाग में पञ्जाब के पास वाले प्रदेश में हुआ होगा। खड़ी बोली की आशयान्त प्रवृत्ति का मूळ कारण पञ्जाबी प्रभाव ही है। इस अनुमान का कारण पञ्जाबी भाषा की आशयान्त प्रवृत्ति कड़ी जा सकती है। डा० चाटुर्जा ने लिखा है कि किसी कारणवश दिल्ली में विकसित हुई भाषा (खड़ी बोली) पर पञ्जाबी वागल जनपद हिन्दुस्तानी का सम्मिश्रित प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।^१ चाटुर्जा ने खड़ी बोली में द्वित्व व्यञ्जन-सुरक्षा को भी पञ्जाबी प्रभाव ही माना है। यही नहीं खड़ी बोली के उच्चारण पर भी पञ्जाबी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा अपनी परंपरा को सुरक्षित रखकर स्वाभाविक ढंग से विकसित हुई, शौरसेनी अरण्य की कई प्रवृत्तियों सामान्य वर्तमान के तिष्ठत रूप सविमलिक पद (खड़ी बोली में रेवा परसर्ग युक्त होते हैं) यथा घणई, द्वारे, मधुपुरिहिं आदि, वज्र। द्वित्व की सरलता की अरु मुक्ताव, उकारान्त क्रिया और सहा तथा विशेषण रूप का ब्रजभाषा ने ज्यों का त्यों ग्रहण किया इसके विरहीत पञ्जाबी के प्रभाव के कारण खड़ी बोली में क्रिया रूपों, विभक्तियों तथा उच्चारण में कई तरह के नवीन परिवर्तन उपस्थित हुए।

§ १६२ खड़ी बोली के इसी प्रारम्भिक रूप को जिसमें अरण्य के बीच हिन्दु भी वर्तमान थे और जो राजस्थानी और पञ्जाबी प्रभावों को भी समेटे हुई थी, और दिल्ली के आस-पास की बोली होने के कारण जिसे मुसलमानी काल में बहुत प्रचार और प्रेरणाहन मिश्रण, सतों ने अपनाया था ताकि वे इस बहु प्रचारित भाषा के माध्यम से अपने सदेशों को दूर तक पहुँचा सकें।

खड़ी बोली के इस आकस्मिक उदय की पृष्ठभूमि में भाषा का स्वाभाविक विकास तथा जनता के सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति की आकांक्षा नहीं थी। बल्कि इसके विकास के पीछे कई प्रकार के राजनैतिक और सामरिक कारण थे। खड़ी बोली हिन्दी १६ वीं शताब्दी तक गैयारों की ही भाषा समझी जाती थी। खुसरों ने एक स्थान पर हिन्दी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। अपनी 'आशिक्य' नामक कृति में खुसरों ने लिखा है : यह मेरी गल्ती थी क्योंकि यदि इस पर ठीक तरीके से विचार किया जाये तो मालूम होगा कि हिन्दी पारसी से किसी प्रकार हीन नहीं है, वह भाषाओं की मलका अरबा से थोड़ी हीन लग सकती है पर राय और रूप में जो बवान चल्ती है वह हिन्दी से हीन है।^२ बाहिर है कि खुसरों की हिन्दी सधुक्कड़ी खड़ी बोली नहीं थी। उसका स्पष्ट मतलब ब्रजभाषा या अरण्य से था क्योंकि भारतिय सांस्कृति परंपरा का विकास इसी भाषा में ही रहा था। खुसरों के इस कथन को दृष्टि में रखकर डा० सैयद महीउद्दीन कादरी ने लिखा कि "यह वह जमाना है जब कि हिन्दुस्तान के हर हिस्से में अब्दीमुश्शान लासानी इन्किलाब हो रहे थे और नई बजाने आलमें बुजद में आ रही थी। जुनाचे खुसरों ने भी इन तर्कों की तरफ इशारा किया है और पञ्जाब में और देहली के अतराफ व अकनार जो बेलियाँ उस वक्त सुरक्षित थीं उनके मुज्तलिफ नाम गिनाए हैं। इनकी बजान (खुसरों की) ब्रजभाषा से निश्चयी लुब्धी है। यह यकीन के साथ

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १८५

२. The History of India as told by its own Historians by Henry Elliot Vol 3 P P ३३०

स्थानगत सबंध नहीं मादूम हो पाया है लेकिन समभवत इनका निर्माण राजस्थान और ब्रज के उत्तरी भाग में पञ्जाब के पास वाले प्रदेश में हुआ होगा। खड़ी बोली को आद्यारान्त प्रवृत्ति का मूल कारण पञ्जाबी प्रभाव ही है। इस अनुमान का कारण पञ्जाबी भाषा की आद्यारान्त प्रवृत्ति कही जा सकती है। डा० चाटुर्न्या ने लिखा है कि किमी कारणवश दिल्ली में विकसित हुई भाषा (खड़ी बोली) पर पञ्जाबी बागलू जनपद हिन्दुस्तानी का समिलित प्रभाव पडा प्रतीत होता है।^१ चाटुर्न्या ने खड़ी बोली में द्वित्व व्यञ्जन-सुरक्षा को भी पञ्जाबी प्रभाव ही माना है। यही नहीं खड़ी बोली के उच्चारण पर भी पञ्जाबी का घोर प्रभाव दिखाई पडता है। ब्रजभाषा अपनी परंपरा को सुरक्षित रखकर स्वाभाविक ढंग से विकसित हुई, शौरसेनी अक्षरश की कई प्रवृत्तियों सामान्य वर्तमान के तिष्ठन्त रूप सविभक्तिक पद (खड़ी बोली में नेबर परसर्ग युक्त होते हैं) यथा घरदि, द्वारे, मधुपुरीदि आदि, व्यञ्ज। द्वित्व की सरलता की अर मुक्ताव, उकारान्त क्रिया और सश तथा विशेषण रूप का ब्रजभाषा ने बोली का ल्यों ग्रहण किया इसने विपरीत पञ्जाबी के प्रभाव के कारण खड़ी बोली में क्रिया रूपों, विभक्तियों तथा उच्चारण में कई तरह के नवीन परिवर्तन उपस्थित हुए।

§ १६२ खड़ी बोली के इसी प्रारम्भिक रूप को जिसमें अक्षरश के बीज विन्दु भी वर्तमान थे और जो राजस्थानी और पञ्जाबी प्रभावों को भी समेटे हुई थी, और दिल्ली के आस-पान की बोली होने के कारण ब्रिटेन मुसलमानी काल में बहुत प्रचार और प्रोत्साहन मिला, सतों ने अपनाया था ताकि वे इस बहु प्रचारित भाषा के माध्यम से अपने सदेशों को दूर तक पहुँचा सकें।

खड़ी बोली के इस आकस्मिक उदय की पृष्ठभूमि में भाषा का स्वाभाविक विकास तथा जनता के सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति की आकांक्षा नहीं थी। बल्कि इसके विकास के पीछे कई प्रकार के राजनैतिक और सामाजिक कारण थे। खड़ी बोली हिन्दी १६ वीं शताब्दी तक गँवारों की ही भाषा समझी जाती थी। सुसरो ने एक स्थान पर हिन्दी भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। अपनी 'आशिका' नामक कृति में सुसरो ने लिखा है : यह बेरी मन्ती थी क्योंकि यदि इस पर ठीक तरीके से विचार किया जाये तो मादूम होगा कि हिन्दी पारसी से किसी प्रकार हीन नहीं है, वह भाषाओं की मलका अरबा से थोड़ी हीन लग सकती है पर राय और रूप में जो बचान चलती है वह हिन्दी से हीन है।^२ बाहिर है कि सुसरो को हिन्दी सधुक्कड़ी खड़ी बोली नहीं थी। उसका सट मतलब ब्रजभाषा या अक्षरश से था क्योंकि कि भारतीय सांस्कृतिक परंपरा का विकास इसी भाषा में हो रहा था। सुसरो के इस कथन को दृष्टि में रखकर डा० सैयद महीउद्दीन कादरी ने लिखा कि "यह वह जमाना है जब कि हिन्दुस्तान के हर हिस्से में अजीनुरखान लासानी इन्किलाबात हो रहे थे और नई बचाने आलम में बुन्द में आ रही थीं। बुनाचे सुसरो ने भी इन तन्दीलियों की तरफ इशारा किया है और पञ्जाब में और देहली के अतराफ व अकनाफ जो बेलियाँ उस बक्त मुराबज थीं उनके मुख्तलिफ बान गिनाए हैं। इनकी बचान (सुसरो की) ब्रजभाषा से निश्चयी सुखती है। यह यकीन के साथ

१. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० १८५

२. The History of India as told by its own Historians by Henry Elliot Vol 3 P P ३३६

की सभा परवर्ती गौर को भी इसी रेखते का उत्पाद कहा है। रेखता का ही एक रूप दक्षिण में दक्षिणो हिन्दी के नाम से मराहूर हुआ। दक्षिणो का पुराना कवि ख्वाजा बन्दानबाज मैसूरराज मुहम्मद हुसेनी हैं (१३१८-१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखीं जिनमें उनकी गद्य-रचना 'भीराजुल अशरीन' बहुत महत्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत सी कवियों की रचनाएँ मिलती हैं जिनमें मुहम्मदतुली तुदुवशा, इननिशाती, शेखसादी आदि काफ़ी प्रसिद्ध हैं।

§ १६३. उत्तर भारत में खड़ी बोली या शुक्ल जी के शब्दों में 'सधुक्कड़ों' के पुराने लेखकों में गोरखनाथ के कुल्ल पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायें, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७ वीं शती धरताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२ वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन पक्ष के विनाश के समय शीन हो गये थे। गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ था जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में कनकपटे नाथ सम्प्रदाय का प्रचार कच्छ में किया। यदि धर्मनाथ को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४ वीं या १३ वीं का पूर्वार्द्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ को सिद्धों की परंपरा में मानते हुए यहलुल साकृत्यापन उनका काल पाल्मरीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०६-४६ ईस्वी में निर्धारित करते हैं। इस प्रकार गोरखनाथ को वे १३ वीं शती का मानते हैं। डा० एनारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में मानते हैं। डा० बट्टध्याल ने गोरखनाथ का समय सन् १०५० माना है और डा० फुर्दुर उन्हें १२५७ सवत् का बताते हैं। वस्तुतः गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कंठे भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि १३ वीं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जाने वाली रचनाओं का समय १३ वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि वे भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं माळूम होंगी। इन्हें यदि १३ वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महार कम नहीं होता और खड़ी बोली के उद्गम और विकास के अनु-सन्धिल्ल विद्यार्थी के लिए तो इनका और भी अधिक महत्व हो जाता है।

§ १६४. गोरखनाथ की प्रामाणिक मानो जाने वाली रचनाओं में से जिन १३ को डा० बट्टध्याल ने गोरखवानी (जोगेश्वरी बानी भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली है अपरय किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे चिकित्ता का दोष कहकर ही नहीं खल सके।

१. देखिए—दक्षिणो हिन्दी का गद्य और पद, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद
२. इनसाइक्लोपीडिया भार रेलांजन एण्ड इण्डियस, भाग ६, पृष्ठ ३३४
३. इनसाइक्लोपीडिया विज्ञानिका, ए० ३२४-३३०
४. हिन्दी काव्यधारा, ए० १५६
५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ६६

को तथा परबर्ती भीर को भी इसी रेखते वा उस्ताद कहा है। रेखता का ही एक रूप दक्षिण में दक्खिनी हिन्दी के नाम से मयहूर हुआ। दक्खिनी का पुषाना कधि ख्वाजा बन्दानबाज मैयूदराज मुहम्मद हुसेनी हैं (१३१८-१४२२ ई०) जिन्होंने कई रचनाएँ लिखीं जिनमें उनकी मद्य-रचना 'मीराजुल अशरीन' बहुत महत्वपूर्ण है। इसके बाद बहुत सी कवियों की रचनाएँ मिलती हैं जिनमें मुहम्मद तुली मुतुबरा, इननिशाती, शैलसादी आदि कर्ना प्रतिद्ध हैं।^१

§ १६३. उत्तर भारत में खड़ी बोली या शुक्ल जी के शब्दा में 'सधुक्कडी' के पुषाने लेखकों में गोरखनाथ के कुछ पद उद्धृत किये जाते हैं। गोरखनाथ के ये पद किस समय की रचनाएँ माने जायें, यह तय नहीं हो पाया है। वैसे गोरख का समय ७ वीं शती बताया जाता है। कुछ लोग उन्हें १२ वीं शताब्दी का बताते हैं। तिब्बत में लोग इन्हें बौद्ध ऐन्द्रजालिक मानते हैं। कहा जाता है कि ये पहले बौद्ध थे किन्तु बारहवीं शताब्दी के अन्त में सेन वंश के विनाश के समय शैव हो गये थे।^२ गोरख के एक शिष्य का नाम धर्मनाथ या जिन्होंने चौदहवीं शताब्दी में कनकदेवाय सम्प्रदाय का प्रचार कल्ल में किया।^३ यदि धर्मनाथ को गोरखनाथ का साक्षात् शिष्य माना जाय तो उनका भी काल १४ वीं या १३ वीं का पूर्वार्ध मानना चाहिए। गोरखनाथ को सिद्धों की परंपरा में मानते हुए राहुल साहूत्यायन उनका काल पालशहीय राजा देवपाल के शासन-काल ८०६-४६ ईस्वी में निर्धारित करते हैं।^४ इस प्रकार गोरखनाथ को ये नहीं शती का मानते हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी गोरखनाथ का आविर्भाव विक्रम की दसवीं शताब्दी में मानते हैं।^५ डा० बटपाळ ने गोरखनाथ का समय सन् १०५० माना है और डा० फुर्हूर उन्हें १२५७ सन्त का बताते हैं। वस्तुतः गोरखनाथ के जीवन का सही विवरण जानने के लिए कोई भी ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं है। जो भी हो गोरखनाथ का समय यदि नवौं शताब्दी का माना जाय तो भी उनके नाम की कही जाने वाली रचनाओं का समय १३ वीं शताब्दी से पहले नहीं माना जा सकता क्योंकि ये भाषा की दृष्टि से उतनी पुरानी नहीं मालूम होती। इन्हें यदि १३वीं शताब्दी का मानें तो भी इनका महत्त्व कम नहीं होता और खड़ी बोली के उद्गम और विकास के अनुसन्धित्तु विचार्यों के लिए तो इनका और भी अधिक महत्त्व हो जाता है।

§ १६४. गोरखनाथ की प्रामाणिक मानी जाने वाली रचनाओं में से जिन १३ को डा० बटपाळ ने गोरखनाथानी (जोगेशुदी बानी भाग १) में प्रकाशित किया है, उनकी भाषा भी एक तरह की नहीं है। अधिकांश की भाषा खड़ी बोली है अरुण किन्तु उसमें 'पूर्वी' प्रभाव भी कम नहीं है। यह प्रभाव कहीं-कहीं तो इतना प्रबल है कि इसे विक्रमता का दोष कहकर ही नहीं टाल सकते।

१. दक्षिण—दक्षिणा हिन्दी का गद्य और पद्य, लेखक श्री रामशर्मा, हैदराबाद
२. इनसाइक्लोपीडिया भार रेडोजन एण्ड हथिबल, भाग ६, पृष्ठ ३२४
३. इनसाइक्लोपीडिया विज्ञानिका, पृ० ३२४-३३०
४. हिन्दी काव्यधारा, पृ० १५६
५. नाथ सम्प्रदाय, पृ० २६

नहीं था। गोरखनाथ के ब्रजभाषा पद इस बात का संकेत करते हैं कि पदों के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। सतों की वाणियों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रान्तिकारी ओजस्वी उपदेशों, रुढ़ि-सदन, पाखण्ड विरोध या उसी प्रकार के अन्य परंपरा-प्रथित विचारों का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवोदित सड़ी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सृजक विचारों, रागात्मक उपदेशों तथा निजी अनुभूतियों की बात पद शैली की ब्रजभाषा में करते थे। रेखता या सड़ी बोली शैली में बाद में कुछ पद भी लिखे गए, किन्तु पदों की मूल भाषा ब्रज ही रही।

§ १६५. गोरखनाथ की ही तरह उनके गुरु कहे जाने वाले मत्स्येन्द्र नाथ जी का भी समय विवाद का ही विषय है। उनकी रचनाओं का भी कुछ पता नहीं चलता। तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सिद्धो की नामावली में गुरुओं के नाम दिए हुए हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लुङ्पा और मीननाथ भी कहा गया है। डा० कल्याणी मल्लिक इन तीनों नामों को एक व्यक्ति से संबद्ध बताती है।^१ मत्स्येन्द्रनाथ का समय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही माना जाता है किन्तु उनकी प्राप्त रचनाओं की भाषा को १३ वीं १४ वीं के पहले की नहीं माना जा सकता। डा० वागची ने मत्स्येन्द्र के कौल ज्ञान निरखन नामक ग्रन्थ का संपादन किया है जिसका रचनाकाल ११ वीं शताब्दी बताया गया है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में डा० मल्लिक ने मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुराने पद उद्धृत किये हैं। जो उन्होंने जोषपुर की किसी प्रति में प्राप्त किए थे। इन दो पदों में तो एक पूर्णतः ब्रजभाषा का ही है।

राग धनाद्री

पखेरू ऊडिसां आय लीयो वीसराम
 ज्यो ज्यो नर स्वारथ करै कोई न सजायो काम ॥ टेक ॥
 जल कू चाहे माछली घण कू चाहे मोर
 सेवन चाहे राम कू ज्यो चितवत चन्द चकोर ॥ १ ॥
 यो स्वारथ को सेवदो स्वारथ छोडि न जाय
 जब गोविंद किरपा करी गृहरो मन धो संमायो आय ॥ २ ॥
 जोगी सोई जार्णाये जग तैं रहे उदास ।
 तत निरजण पाइय कहै महुन्दर नाथ ॥ ३ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही इस पुस्तक में चर्चरी नाथ तथा भरथरी के हिन्दी पद भी दिये हुए हैं, किन्तु इनकी भाषा वही मिश्रित पंचमेल यानी रेखता है। डा० मल्लिक ने इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के नाम से संबद्ध एक गोरख उपनिषद् प्रकाशित कराया है जिसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा और काफी पुष्ट और परिमार्जित ब्रजभाषा कही जा सकती है। गोरख उपनिषद् की प्रतिलिपि जोषपुर की ही किसी प्रति से की गई। जिस प्रति से यह अर्थ लिया गया है वह सन् २००२ की है जिसे किसी श्री बालराम साधु ने तैयार की थी। मूल प्रति का कुछ पता नहीं चलता। लेखिका ने गोरख उपनिषद् की भाषा को राजस्थानी और

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, कल्याणी मल्लिक, पृष्ठा, १६५४, पृ० १५-१६

नहीं था। गोरखनाथ के ब्रजभाषा पद इस बात का सबेस करते हैं कि पदों के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता था। सतों की वाणियों की भाषा का अध्ययन करने पर मालूम होता है कि ये कवि क्रान्तिकारी श्रोज्ज्वली उपदेशों, रुद्रि-रुडन, पालड विरोध या उसी प्रकार के अन्य परपर-प्रथित विचारों का विच्छेद करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग करते थे वह नवोदित लड़ी बोली थी, किन्तु अपने साधना के सहज विचारों, रागात्मक उपदेशों तथा निजी अनुभूतियों की बात पद शैली की ब्रजभाषा में करते थे। रेखता या लड़ी बोली शैली में वाद में कुछ पद भी लिखे गए, किन्तु पदों की मूल भाषा ब्रज ही रही।

§ १६५. गोरखनाथ की ही तरह उनके गुरु कहे जाने वाले मत्स्येन्द्र नाथ जी का भी समय विवाद का ही विषय है। उनकी रचनाओं का भी कुछ पता नहीं चलता। तिब्बती स्रोतों से प्राप्त सिद्धो की नामाली में गुरुओं के नाम दिए हुए हैं। मत्स्येन्द्रनाथ को लुईया और मीननाथ भी कहा गया है। डा० कल्याणी मल्लिक इन तीनों नामों को एक व्यक्ति से संबद्ध बताती हैं।^१ मत्स्येन्द्रनाथ का समय दसवीं शताब्दी के पूर्व ही माना जाता है किन्तु उनकी प्राप्त रचनाओं की भाषा को १३ वीं १४ वीं के पहले की नहीं माना जा सकता। डा० वागची ने मत्स्येन्द्र के कौल शान निरवन नामक ग्रन्थ का संपादन किया है जिसका रचनाकाल ११ वीं शताब्दी बताया गया है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' में डा० मल्लिक ने मत्स्येन्द्रनाथ के दो पुराने पद उद्धृत किये हैं। जो उन्होंने जोधपुर की किसी प्रति में प्राप्त किए थे। इन दो पदों में तो एक पूर्णतः ब्रजभाषा का ही है।

राग पनादरी

पखेरू ऊडिसी आय लीयो बांसराम
ज्यो ज्यो नर स्वारथ करै कोई न सजायो काम ॥ टेक ॥
जल कू चाहे माछली घण कू चाहे मोर
सेवन चाहे राम कू ज्यो चितवत चन्द्र चकोर ॥ १ ॥
यो स्वारथ को सेवदो स्वारथ छोडि न जाय
जब गोविंद किरपा करी भूहरो मन वो संमायो आय ॥ २ ॥
जोगी सोई जाणीये जग तैं रहे उदास ।
तत निरजण पाइय कहै मछुन्दर नाथ ॥ ३ ॥

मत्स्येन्द्रनाथ के साथ ही इस पुस्तक में चर्परी नाथ तथा भरथरी के हिन्दी पद भी दिये हुए हैं, किन्तु इनकी भाषा वही मिश्रित पंचमेल यानी रेखता है। डा० मल्लिक ने इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के नाम से संबद्ध एक गोरख उपनिषद् प्रकाशित कराया है जिसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा और काफी पुष्ट और परिमार्जित ब्रजभाषा कही जा सकती है। गोरख उपनिषद् की प्रतिलिपि जोधपुर की ही किसी प्रति से की गई। जिस प्रति से यह अंश लिया गया है वह सन् २००२ की है जिसे किसी श्री बालराम साधु ने तैयार की थी। मूल प्रति का कुछ पता नहीं चलता। लेखिका ने गोरख उपनिषद् की भाषा को राजस्थानी और

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, कल्याणी मल्लिक, पूना, १९५४, पृ० १५-१६

श्रीर भाषा के विषय में प्रचलित सभी स्थापनाओं को किसी स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम मानकर सदा ही सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।' और तब अपने चिन्तन से निकाले हुए सही निष्कर्ष को इस तरह रखते हैं 'इसका (गलत निष्कर्ष का) सबसे बड़ा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य भाषा का ब्रजभाषा नामकरण और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के पहले के काव्य ग्रन्थों में किमी काल्पनिक ब्रजभाषा की खोज।' 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में लेखक ने और भी कई निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर आगे विचार करेंगे। यहाँ हमारा निवेदन इतना ही है कि खड़ी बोली और ब्रज के विकास पर ठीक ढंग से विचार होना चाहिए। ब्रजभाषा खड़ी बोली के आरम्भकाल से उसके कुछ पहले से ही एक अटूट शृंखला में विकसित होती आ रही है। इस भाषा के बहुत से पद सन्तों की वाणियों के रूप में सङ्कलित हैं, जो इसकी शक्ति और विकासावस्था के सूचक हैं। ब्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, वह शौरसेनी भाषाओं की परम्परा की उत्तराधिकारिणी और ११वीं शती से १८वीं शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत तथा सांस्कृतिक विचारों का प्रबल माध्यम रही है।

§ १६७. ब्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पद-शैली का प्रयोग निर्गुणिये सन्तों ने तो किया ही, बाद के वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं में तो यह प्रमुख काव्य प्रकार ही हो गया। वस्तुतः ब्रजभाषा के गेय पदों का प्रचलन १२ वीं १३ वीं शताब्दी में ही हो गया था, यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता किन्तु माहृतपैगन्धु की रचनाओं, १३ वीं शती के खुसरो, गोराल नायक आदि संगीतज्ञ कवियों के गेय पदों के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है। लोक भाषाओं में आरम्भिक साहित्य प्रायः लोग गीतों के ढंग का ही होता है। देशी भाषा के संगीत की चर्चा तो बृहद्देशी के लेखक ने ७ वीं शती में ही की थी।

भवलायालगोपालैः चित्तिपालैर्निजेन्द्रया
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशि रूपते

१२वीं शती में सामन्ती दरबारों में संगीत का बड़ा मान था और राजपूत राजाओं का देशी भाषा प्रेम भी विख्यात है ही, फिर देशी भाषा के माध्यम से संगीत के आनन्दोपभोग के लिए गेयपदों की रचना अवश्य हुई होगी। खुसरो की पूरी रचनाएँ प्राप्त नहीं होती, यही हाल गोपाल नायक की रचनाओं का है किन्तु इनके छिट्टे-पुटे जो पद मिलते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि ब्रज भाषा में १३ वीं शताब्दी में पद लिखे जाते थे। नायों की वाणियों में भी इस तरह के गेय पद मिलते हैं। गोराल वाणों में बहुत से ऐसे पद दिये हुए हैं, जो गेय हैं राग-रागिनी सम्मिलित। नायों के बाद सन्तों ने इस प्रकार के बहुत से श्रेष्ठ कोटि के पद लिखे। १४६२ विक्रमी में न्वालियर के विष्णुदास के पद ब्रजभाषा के अमूल्य निधि हैं। ब्रजभाषा के गेय पदों का जादू सुदूर पूर्व में अरुम के शंकरदेव (दि० § ४२७-४८) से लेकर पश्चिम गुजरात के कवियों पर छा गया था।

श्रीर भाषा के विषय में प्रचलित सभी स्थापनाओं को किसी स्वतन्त्र चिन्तन का परिणाम मानकर सदा ही सही निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।' और तब अपने चिन्तन से निकाले हुए सही निष्कर्ष को इस तरह रखते हैं 'इसका (गलत निष्कर्ष का) सबसे बड़ा उदाहरण है हिन्दी की मध्यकालीन काव्य भाषा का ब्रजभाषा नामकरण और सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के पहले के काव्य ग्रन्थों में किमी काल्पनिक ब्रजभाषा की खोज।' 'मध्यदेशीय भाषा' नामक पुस्तक में लेखक ने और भी कई निष्कर्ष निकाले हैं जिन पर आगे विचार करेंगे। यहाँ हमारा निवेदन इतना ही है कि खड़ी बोली और ब्रज के विकास पर ठीक ढंग से विचार होना चाहिए। ब्रजभाषा खड़ी बोली के आरम्भकाल से उसके कुछ पहले से ही एक अद्वैत शृंखला में विकसित होती आ रही है। इस भाषा के बहुत से पद सन्तों की वाणियों के रूप में संकलित हैं, जो इसकी शक्ति और विकासावस्था के सूचक हैं। ब्रजभाषा कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है, वह शौरसेनी भाषाओं की परम्परा की उच्चरधिकारिणी और ११वीं शती से १८वीं शती तक के काल की सर्वश्रेष्ठ काव्यभाषा के रूप में स्वीकृत तथा सांस्कृतिक विचारों का प्रबल माध्यम रही है।

§ १६७. ब्रजभाषा में पद-रचना का आरम्भ कब से हुआ, यह कहना कठिन है। पद-शैली का प्रयोग निर्गुणिये सन्तों ने तो किया ही, बाद के वैष्णव भक्त कवियों की रचनाओं में तो यह प्रमुख काव्य प्रकार ही हो गया। वस्तुतः ब्रजभाषा के गेय पदों का प्रचलन १२ वीं १३ वीं शताब्दी में ही हो गया था, यद्यपि इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता किन्तु प्राकृतगणम् की रचनाओं, १३ वीं शती के खुसरो, गोगल नायक आदि संगीतज्ञ कवियों के गेय पदों के आधार पर यह धारणा पुष्ट होती है। लोक भाषाओं में आरम्भिक साहित्य प्रायः लोग गीतों के ढंग का ही होता है। देशी भाषा के संगीत की चर्चा तो बृहदेशी के लेखक ने ७ वीं शती में ही की थी।

भवलापालगोपालैः चितिपालैर्निनेच्छया

गोयते सानुरागेण स्वदेशे देशि हत्यते

१२वीं शती में सामन्ती दरबारों में संगीत का बड़ा मान था और राजपूत रजसडों का देशी भाषा प्रेम भी विख्यात है ही, फिर देशी भाषा के माध्यम से संगीत के आनन्दोपभोग के लिए गेयपदों की रचना अवश्य हुई होगी। खुसरो की पूरी रचनाएँ प्राप्त नहीं होती, वही हाल गोपाल नायक की रचनाओं का है किन्तु इनके छिटपुट जो पद मिलते हैं वे इस बात के प्रमाण हैं कि ब्रज भाषा में १३ वीं शताब्दी में पद लिखे जाते थे। नाथों की वाणियों में भी इस तरह के गेय पद मिलते हैं। गोरख बाणों में बहुत से ऐसे पद दिये हुए हैं, जो गेय हैं राग-रागिनी सम्मिश्रित। नाथों के दाद सन्तों ने इस प्रकार के बहुत से श्रेष्ठ कोटि के पद लिखे। १४६२ विक्रमी में ग्वालियर के विष्णुदास के पद ब्रजभाषा के अमूल्य निधि हैं। ब्रजभाषा के गेय पदों का जादू सुदूर पूरब में असम के शंकरदेव (दि० § ४२७-४८) से लेकर पश्चिम गुजरात के कवियों पर छा गया था।

द्विवेदी जी ने अपनी इस थीसिस के मंथन में बल्लभ संप्रदाय से मुगलों के सॉडगॉड का जो निष्कर्ष किया है, वह तो और भी निराधार प्रतीत होता है। मुगलों के शनुराग या दल्लम संप्रदाय के प्रति उनकी निष्ठा-भ्रष्टा की बात तो समझ में आती है, किन्तु इसके कारण ग्वालियरी नाम के स्थान पर ब्रजभाषा नाम प्रचलित करने में बल्लभ संप्रदाय को मुगलों ने सहायता दी—यह बात बिल्कुल व्यर्थ लगती है। भाषाओं के नाम इस तरह नहीं पड़ा करते। शूरसेन के ज्ञाधार पर शौरसेनी नाम मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहले से रहता आया है। शूरसेन प्रदेश बाद में ब्रज प्रदेश के रूप में विख्यात हुआ, इसलिए यहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी, और इस भाषा का प्रभाव सदा से एक व्यापक भू-भाग पर रहता आया है, वही उत्तराधिकार ब्रजभाषा को भी प्राप्त हुआ। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभाव क्षेत्र को और विलुप्त बनाया। ग्वालियर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है।

§ १६६. ईस्वी १६७९ में मिर्जा खां ने ब्रजभाषा का जो व्याकरण लिखा, उसमें ब्रज क्षेत्र का विवरण इस प्रकार दिया गया—

‘मथुरा से ८४ कोश के घेरे में पड़ने वाले हिस्से को ब्रज कहते हैं। ब्रज प्रदेश की भाषा सभी भागों से पुष्ट है।’ इस कथन के बाद पत्र सख्या १६५ ख पर मिर्जा खां इस क्षेत्र में ग्वालियर को भी सम्मिलित करते हैं। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालियर को सम्मिलित किया है साथ ही ब्रज के भेदोपभेदों में ग्वालियर की बोली को परिनिष्ठित ब्रज का एक रूप स्वीकार किया है। जार्ज ग्रियर्सन ने ब्रजभाषा के निम्नलिखित भेद बताये हैं—

- (१) परिनिष्ठित ब्रज—चल्हो
मथुरा, अलीगढ़, पश्चिमी आगरा
- (२) परिनिष्ठित ब्रज नम्बर २—चल्हो
मुल्न्दराहर
- (३) परिनिष्ठित ब्रज नं० ३ चल्हो
पूर्वी आगरा, धोलपुर ग्वालियर
- (४) कन्नौजी—चलो
पटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली
- (५) मुन्देल्खण्डी ब्रज—चलो
सिकरवारी, ग्वालियर का उत्तर पश्चिमी भाग
- (६) राजस्थानी ब्रज, जैपुरी—चल्हो
भरतपुर, डोंग बोलियाँ
- (७) राजस्थानी ब्रज नं० २ मेवाती—चल्हो
गुड़गाँव
- (८) नैनीताल के तराई की मिश्रित ब्रजभाषा

भी हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि ‘हिन्दी में ब्रजमण्डल की केन्द्र मानकर चलने वाली ब्रजभाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में

द्विवेदी जी ने अपनी इस थीसिस के मंडन में बल्लभ संप्रदाय से मुगलों के सॉटगॉड का जो जिन किया है, यह तो और भी निराधार प्रतीत होता है। मुगलों के अनुराग या बल्लभ संप्रदाय के प्रति उनकी निद्रा-भ्रमा की बात तो सनभ्र में आती है, किन्तु इसके कारण ग्वालिपरी नाम के स्थान पर ब्रजभाषा नाम प्रचलित करने में बल्लभ संप्रदाय की मुगलों ने सहायता दी—यह बात विलकुल व्यर्थ लगती है। भाषाओं के नाम इस तरह नहीं पढा करते। शरसेन के आजार पर शौरसेनी नाम मध्यदेशीय भाषा का बहुत पहले से रहता आया है। शरसेन प्रदेश बाद में ब्रज प्रदेश के रूप में विख्यात हुआ, इसलिये यहाँ की भाषा ब्रजभाषा कही जाने लगी, और इस भाषा का प्रभाव सदा से एक व्यापक भू-भाग पर रहता आया है, वही उत्तराधिकार ब्रजभाषा को भी प्राप्त हुआ। वैष्णव आन्दोलन ने इस भाषा के प्रभाव क्षेत्र को और विस्तृत बनाया। ग्वालिपर सदा से ब्रजभाषा क्षेत्र के अन्तर्गत माना जाता है।

§ १६६. ईस्वी १६७६ में मिर्जा खां ने ब्रजभाषा का जो व्याकरण लिखा, उसमें ब्रज क्षेत्र का विवरण इस प्रकार दिया गया—

‘मथुरा से ८४ कोस के घेरे में पडने वाले हिस्से को ब्रज कहते हैं। ब्रज प्रदेश की भाषा सभी भाषाओं से पुष्ट है।’ इस कथन के बाद पत्र संख्या १६५ ख पर मिर्जा खां इस क्षेत्र में ग्वालिपर को भी सम्मिलित करते हैं। जार्ज प्रियर्सन ने ब्रजभाषा के क्षेत्र में ग्वालिपर को सम्मिलित किया है साथ ही ब्रज के भेदोभेदों में ग्वालिपर की बोली को परिनिष्ठित ब्रज का एक रूप स्वीकार किया है। जार्ज प्रियर्सन ने ब्रजभाषा के निम्नलिखित भेद बताये हैं—

- (१) परिनिष्ठित ब्रज—चल्यो
मथुरा, अलीगढ़, पश्चिमी आगरा
- (२) परिनिष्ठित ब्रज नम्बर २—चल्यो
मुल्दशहर
- (३) परिनिष्ठित ब्रज नं० ३ चलो
पूर्वी आगरा, धौलपुर ग्वालिपर
- (४) कन्नौजी—चलो
पटा, मैनपुरी, बदायूँ, बरेली
- (५) मुन्देलखण्ड की ब्रज—चलो
सिकरखारी, ग्वालिपर का उत्तर पश्चिमी भाग
- (६) राजस्थानी ब्रज, जैपुरी—चल्यो
भरतपुर, डोंग बोलियाँ
- (७) राजस्थानी ब्रज नं० २ मेवाती—चल्यो
गुड़गाँव
- (८) नैनीताल के तराई की मिश्रित ब्रजभाषा

श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने लिखा है कि ‘हिन्दी में ब्रजमण्डल को केन्द्र मानकर चलने वाली ब्रजभाषा का कभी अस्तित्व नहीं रहा, न उसकी कल्पना ही कभी मध्यदेश में

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११)

§ १७१. ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित है जिसका निर्माण विक्रमी १४११ अर्थात् १३५४ ईस्वी में ब्रजक्षेत्र के केंद्र नगर आगरा में हुआ। सर्व प्रथम नागरीप्रचारिणी सभा-संचालित हिन्दी ग्रंथों की खोज के सिलसिले में इस ग्रन्थ का पता चला जिसका विवरण १९२३-२५ की खोज रिपोर्ट (सर्वे आफ द हिन्दी मैन्स्युलिप्स) में प्रस्तुत किया गया। स्व० डा० हीरालाल ने इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा "यह ग्रन्थ भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। विभिन्न जैन लेखकों ने इसी नाम से इसी विषय पर कई रचनाएँ लिखीं, परन्तु जैन विद्वानों को भी इस लेखक का पता नहीं है। बंबई की जैन इवेताम्बर सभा द्वारा प्रस्तुत जैन ग्रन्थावली में भी इस ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि वहाँ पाँच प्रद्युम्नचरितों का विवरण दिया हुआ है जिसमें एक १२०७ विक्रमी संवत् की रचना है। उक्त खोज रिपोर्ट में इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७६५ दर्ज किया गया है जिसे ऋषधरमा नामक किमी व्यक्ति ने दिल्ली में लिखा था। इसकी प्रति बाराबकी के जैन मंदिर में सुरक्षित बताई गई है, किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी मुझे उक्त मंदिर से कोई विवरण प्राप्त न हुआ। अक्टूबर १९५५ में जयपुर में श्री बघीचंद जी के जैन मन्दिर के अन्यवस्थित भांडार में, जिसका अब तक 'कैटलाग' भी नहीं बन सका है, उक्त ग्रंथ

अप्रकाशित सामग्री का परिचय-परीक्षण

प्रद्युम्न चरित (विक्रमी १४११)

§ १७१. ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रंथों में सबसे प्राचीन अग्रवाल कवि का प्रद्युम्न चरित है जिसका निर्माण विक्रमी १४११ अर्थात् १३५४ ईस्वी में ब्रजक्षेत्र के केंद्र नगर आगरा में हुआ। सर्व प्रथम नागरीप्रचारिणी सभा-संचालित हिन्दी ग्रंथों की खोज के सिलसिले में इस ग्रन्थ का पता चला जिसका विवरण १९२३-२५ की खोज रिपोर्ट (सर्वे आफ द हिन्दी मैनुस्क्रिप्ट्स) में प्रस्तुत किया गया। स्व० डा० हीरालाल ने इस ग्रन्थ का परिचय देते हुए लिखा "यह ग्रन्थ भाषा और साहित्य दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विभिन्न जैन लेखकों ने इसी नाम से इसी विषय पर कई रचनायें लिखीं, परन्तु जैन विद्वानों को भी इस लेखक का पता नहीं है। बंबई की जैन श्वेताम्बर सभा द्वारा प्रस्तुत जैन ग्रन्थावली में भी इस ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं है, यद्यपि वहाँ पाँच प्रद्युम्नचरितों का विवरण दिया हुआ है जिसमें एक १२०७ विक्रमी संवत् की रचना है। उक्त खोज रिपोर्ट में इस हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल १७६५ दर्ज किया गया है जिसे ऋषयधरमा नामक किमी व्यक्ति ने दिल्ली में लिखा था। इसकी प्रति बाणबक्की के जैन मंदिर में सुरक्षित बताई गई है, किन्तु बहुत प्रयत्न के बाद भी मुझे उक्त मंदिर से कोई विवरण प्राप्त न हुआ। अक्टूबर १९५५ में जयपुर में भी बपीचंद जी के जैन मन्दिर के अध्यक्षस्थित भाटार में, जिसका अब तक 'कैटलाग' भी नहीं बन सका है, उक्त ग्रंथ

रविवार व्रत कथा से—

दोन्हीं दृष्टि में रच्यो पुराण, हीण बुद्धि हीं कियो बखान
हीण अधिक अक्षर प्रो होय, बहुरि सवारे गुणियर लोय

प्रद्युम्न चरित से—

हीं मति हीण बुद्धि अयण, मइ सामि को कियो बखान
मन उछाह मइ कियउ विचिच, पडित जण सोहइ दे चित
पडित जण विनवड कर जोरि, इउ मति हीण म लावहु खोरि ।

§ १७२ इसी प्रकार सरस्वती वंदना, नगर-वर्णन आदि प्रसंग बुद्ध साम्य रखते हैं किन्तु इन्हें रुचिगत साम्य भी कह सकते हैं। जो भी हो, दोनों अप्रवाल कवियों को एक सिद्ध करने का कोई पुष्ट आधार प्राप्त नहीं होता है। इधर श्री अग्रचट नाहटा ने '१४११ के प्रद्युम्न चरित का कर्ता' शीर्षक एक निबन्ध जनवरी १९५७ के हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया है। श्री नाहटा ने बुद्ध अन्य प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना दी है। दो प्रतियों की सूचना हम आरम्भ में ही दे चुके हैं। तीसरी प्रति श्री नाहटा ने दिल्ली से प्राप्त की है जिसमें लिपिकाल सवत् १६६८ दिया हुआ है। चौथी प्रति उज्जैन के सीधिया ओरियटल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है जिसका प्रति नंबर ७४१ है जिसमें इस ग्रन्थ का रचना काल सवत् १५११ दिया हुआ है। लिपिकाल आसोय वदी ११ आदित्यवार सवत् १६३४ है।

सम्बत् पचसइ हुइ गया
ग्यारहोत्तरा भरतह (?) भया
भादव वदि पचमी ति, सारु
स्वाति नचत्र शनीचर वारु ॥६॥

१८ मई १६५६ की 'वीर वागी' में आमेर भाडार के कार्यकर्ता श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने 'राजस्थान के जैन ग्रन्थ भाडार में उपलब्ध हिन्दी साहित्य' शीर्षक एक लेख छपाया है जिसमें उन्होंने जयपुर की प्रति के अतिरिक्त कामा के जैन भाडार में प्राप्त एक दूसरी प्रति का भी उल्लेख किया है। इन पाँच प्रतियों में से जयपुर, कामा, वाराणसी और दिल्ली की चार प्रतियाँ में रचनाकाल सवत् १४११ ही दिया हुआ है। श्री अग्रचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन सवतों की जंत्री को देखा गया पर वदी पचमी, सुदी पचमी और नवमी तीनों दिनों में शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पडता' किन्तु सर्व रिपार् के निरीक्षक डा० हीरालाल ने लिखा है कि गणना करने पर ईस्वी सन् १३५४ के ६ अगस्त में शनिवार को उपर्युक्त तिथि और नक्षत्र का पूरा मेल दिखाई पडता है।^१ श्री नाहटा ने सम्भवतः उपर्युक्त निर्णय देते समय डा० हीरालाल के इस कथन का ध्यान नहीं

१ हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६ अंक १७, पृ० १६

२ He wrote his work in Samvat 1411 on Saturday the 5th of the dark of Bhadra month which on calculation regularly corresponds to Saturday the 9th August 1304 A D Search Report 1923 25 page 17

रविवार व्रत कथा से—

दोन्हीं दृष्टि में रच्यो पुराण, हीण बुद्धि हौं किमो बखान
हीण अधिक भङ्ग जो होय, बहुरि सवारे गुणियर लोय

प्रद्युम्न चरित से—

हौं मति हीण बुद्धि अयाण, मइ सामि को कियो बखान
'मन उछाह मइ कियउं बिचिन्त, पडित जण सोहइ दे चित
पडित जण वितवउ कर जोरि, इउ मति हीण म झावहु खोरि ।

§ १७२. इसी प्रकार सरस्वती वंदना, नगर-वर्णन आदि प्रसंग कुछ साम्य रखते हैं किन्तु इन्हें रुचिगत साम्य भी कह सकते हैं। जो भी हो, दोनों अप्रवाल कवियों को एक सिद्ध करने का कोई पृष्ठ आधार प्राप्त नहीं होता है। इधर श्री अगरचन्द नाहटा ने '१४११ के प्रद्युम्न चरित का कथा' शीर्षक एक निबन्ध जनवरी १९५७ के हिन्दी अनुशीलन में प्रकाशित कराया है। श्री नाहटा ने कुछ अन्य प्रतियों के उपलब्ध होने की सूचना दी है। दो प्रतियों की सूचना हम आरंभ में ही दे चुके हैं। तीसरी प्रति श्री नाहटा ने दिल्ली से प्राप्त की है जिसमें लिपिकाल सवत् १६६८ दिया हुआ है। चौथी प्रति उज्जैन के सौधिया औरियंटल इन्स्टीट्यूट में सुरक्षित है जिसका प्रति नम्बर ७४१ है जिसमें इस ग्रंथ का रचना काल सवत् १५११ दिया हुआ है। लिपिकाल आसोय वदी ११ आदित्यवार सवत् १६३४ है।

सम्बत् पंचसह हुइ गया
ग्यारहोत्तरा अरुह (?) भया
भादव वदि पंचमी ति, सारु
स्वाति नक्षत्र शर्गाचर वारु १६६।

१८ मई १९५६ की 'वीर वागी' में आमेर भाडार के कार्यकर्ता श्री फत्तूरचन्द कासलीवाल ने 'राजस्थान के जैन ग्रंथ भाडार में उपलब्ध हिन्दी साहित्य' शीर्षक एक लेख छपाया है जिसमें उन्होंने जयपुर की प्रति के अतिरिक्त कामा के जैन भाडार में प्राप्त एक दूसरी प्रति का भी उल्लेख किया है। इन पाँच प्रतियों में से जयपुर, कामा, वाराणसी और दिल्ली की चार प्रतियों में रचनाकाल सवत् १४११ ही दिया हुआ है। श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है कि 'तिथि का निर्णय करने के लिए प्राचीन सवतों की जंत्री को देखा गया पर वदी पचमी, सुदी पचमी और नवमी तीनों दिनों में शनिवार और स्वाति नक्षत्र नहीं पडता' किन्तु सर्व रिपोर्ट के निरीक्षक डा० हीरालाल ने लिखा है कि गणना करने पर ईस्वी सन् १३५४ के ६ अगस्त में शनिवार को उपर्युक्त तिथि और नक्षत्र का पूरा मेल दिखाई पडता है।^१ श्री नाहटा ने सम्भवतः उपर्युक्त निर्णय देते समय डा० हीरालाल के इस कथन का ध्यान नहीं

१. हिन्दी अनुशीलन वर्ष ६ अंक १-४, पृ० १६

२ He wrote his work in Samvat 1411 on Saturday, the 5 th of the dark of Bhadra month which on calculation regularly corresponds to Saturday the 9th August, 1354 A D Search Report 1923-25, page 17

पुन वियोग से व्याकुल रुक्मिणी को नारद ने समझाया-बुझाया और वे प्रद्युम्न का पता पूछने के लिए 'पुण्डरीकपुर' में जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास पहुँचे। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न ने पूर्व जन्म में अवध नरेश मधु के रूप में जन्म लिया था, उसने बट्टपुर के राजा हेमरथ की रानी चद्रावती का अपहरण किया। रानी के विरह में हेमरथ पागल होकर मर गया जो इस जन्म में उस दैत्य के रूप में पैदा हुआ है। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न सोलह वर्ष की अवस्था में सोलह प्रकार के लाम और दो प्रकार की विद्याओं सहित पुन अपने माँ-बाप से मिलेगा।

बड़ा होने पर प्रद्युम्न ने कालसवर के तमाम शत्रुओं को पराजित किया। राजा को अन्य रानियों से उत्पन्न पुत्रों ने ईर्ष्यांश उसके विनाश के लिए नाना प्रयत्न किए। विजयार्थ शिखर से नीचे गिराया, नाग गुफा में भेजा, कुयों में गिराया, वन में छोड़ा, किन्तु सभी स्थानों से प्रद्युम्न न केवल सकुशल वापिस ही लौटा बल्कि अपने साथ प्रत्येक भयप्रद स्थान से अग्रणीत आश्चर्यमय वस्तुओं को भी साथ लाया। विपुल वन में उसने एक सर्वांग सुन्दरी तपस्विनी से व्याह किया। सवर पत्नी कनकमाला प्रद्युम्न पर मोहित हो गई, उसने कामेच्छा से प्रद्युम्न को भुक्ताना चाहा, किन्तु प्रद्युम्न का चरित्र कुदम की तरह निर्दोष ही रहा।

नारद के साथ प्रद्युम्न द्वारका लौग, उसने न केवल अपने मायावी घोड़ों से सत्यभामा के बाग को नष्ट करा डाला बल्कि नकली ब्राह्मण वेश में सत्यभामा का आतिथ्य ग्रहण करके खाद्य सामग्रियों का दिवाला भी निकाल दिया। तरह तरह से सत्यभामा को परेशान कर वह माँ के ऋद्ध में पहुँचा। सत्यभामा ने बलदेव के पास शिकायत की, यादवों की सेना ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न को पकड़ने आई, किन्तु उसके मायास्त्र से मोहित होकर गिर पड़ी। नाराज बलराम स्वयं पकड़ने आये और मंत्र प्रभाव से सिंह बनते बनते बचे। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को असली रूप में प्रणाम किया, सत्यभामा से दिल्लीगी की बात सुनाई और पिता से मिलने के लिए नया स्वाग रचाया। माँ को अपने साथ लेकर उसने यादवों की सभा में जाकर कृष्ण को ललकारा 'ओ यादवों और वीर पादवों से मुसजित कृष्ण, मैं तुम्हारी प्राण-बल्लभाको अग्रदूत करके ले जाता हूँ, मैं दुर्गुनी नहीं हूँ केवल उल-पारखी हूँ, ताकत हो तो उन्हें छुटाओ, यादवों की सेना आगे बढ़ी किन्तु मायास्त्रों से पराजित हुई। विवश कृष्ण युद्ध करने के लिए उठे। कृष्ण के समी अस्त्र-शस्त्र बेकार गए, हर बार वे नया अस्त्र उठाते, हर बार प्रद्युम्न उन्हें विरग्न कर देता। दाहिने अंगों से बार बार पडकने से कृष्ण को किमी रक्त सञ्ची से मिलने की सूचना हुई। कृष्ण ने लड़के से रुक्मिणी लौग देने की प्रार्थना की। अन्त में मल्ल युद्ध की तैयारी हो रही थी कि नारद ने आकर सारे रहस्य का भडाफोड किया। कृष्ण ने व्यग्रपूर्वक प्रद्युम्न से रुक्मिणीको ले जाने को कहा। प्रद्युम्न ने गर्दन मुका ली। नारद ने प्रद्युम्न के विवाह का समाचार भी बताया, कि कैसे उसने रात्ते में कौरवों को पराजित कर दुयाभन की पुत्री से विवाह किया। द्वारका में बधू के साथ प्रद्युम्न का स्वागत हुआ। बधाइयाँ बजीं।

प्रद्युम्न के दो एक विवाह और हुए। दो एक बार सत्यभामा को उसने और परेशान किया। अन्त में गहुत वर्षों के बाद जिन के मुख से कृष्ण के मारे जाने और यादव विनाश द्वारका घस का समाचार सुनकर प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली और कठिन तपस्या के बाद कैरल्य पद प्राप्त किया। अन्त में कवि ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए ग्रन्थ के श्रवण, मनन, पठन आदि के फलों का विवरण दिया है।

पुत्र वियोग से व्याकुल रुक्मिणी को नारद ने समभाषा-बुभक्ष्या और वे प्रद्युम्न का पता पूछने के लिए 'पुण्डरीकपुर' में जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास पहुँचे। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न ने पूर्ण जन्म में अवध नरेश मधु के रूप में जन्म लिया था, उसने बट्टपुर के राजा हेमरथ की रानी चद्रावती का अपहरण किया। रानी के विरह में हेमरथ पागल होकर मर गया जो इस नाम में उस दैत्य के रूप में पैदा हुआ है। मुनि ने बताया कि प्रद्युम्न सोलह वर्ष की अवस्था में सोलह प्रकार के लाम और दो प्रकार की विद्याओं सहित पुनः अपने माँ-बाप से मिलेगा।

बड़ा होने पर प्रद्युम्न ने कालसकर के तमाम शत्रुओं को पराजित किया। राजा को अन्य रानियों से उत्पन्न पुत्रों ने ईर्ष्यावश उसके विनाश के लिए नाना प्रयत्न किए। विजयार्थ शिखर से नीचे गिराया, नाग गुफा में भेजा, कुयों में गिराया, वन में छोड़ा, किन्तु सभी स्थानों से प्रद्युम्न न केवल सकुशल वापिस ही लौटा बल्कि अपने साथ प्रत्येक भयप्रद स्थान से अग्रगणित आश्चर्यमय वस्तुओं को भी साथ लाया। विपुल वन में उसने एक सर्वांग सुन्दरी तपस्विनी से व्याह किया। सवरपत्नी वनकमाला प्रद्युम्न पर मोहित हो गई, उसने कामेच्छा से प्रद्युम्न को झुलाना चाहा, किन्तु प्रद्युम्न का चरित्र कुदम की तरह निर्दोष ही रहा।

नारद के साथ प्रद्युम्न द्वारका लौग, उसने न केवल अपने मायावी घोड़ों से सत्यभामा के बाग को नष्ट करा डाला बल्कि नकल्यो ब्राह्मण वेश में सत्यभामा का आतिथ्य ग्रहण करके खाद्य सामग्री का दिवाला भी निकाल दिया। तरह तरह से सत्यभामा को परेशान कर वह माँ के कक्ष में पहुँचा। सत्यभामा ने बलदेव के पास शिकायत की, यादवों की सेना ब्राह्मण वेशधारी प्रद्युम्न को पकड़ने आई, किन्तु उसके मायास्त्र से मोहित होकर गिर पड़ी। नाराज बलराम स्वयं पकड़ने आये और मंत्र प्रभाव से सिंह बनते बनते बचे। प्रद्युम्न ने अपनी माँ को असली रूप में प्रणाम किया, सत्यभामा से दिल्लीगी की बात सुनाई और पिता से मिलने के लिए नया स्वाग रचाया। माँ को अपने साथ लेकर उसने यादवों की सभा में जाकर कृष्ण को ललकारा 'ओ यादवो और वीर पादवों से मुसजित कृष्ण, मैं तुम्हारी प्राण-वल्लभाको अपहृत करके ले जाता हूँ, मैं दुर्गुनी नहीं हूँ केवल जल-मारखी हूँ, ताकत हो तो उन्हें छुड़ाओ, यादवों की सेना आगे बढ़ी किन्तु मायास्त्रों से पराजित हुई। विवश कृष्ण युद्ध करने के लिए उठे। कृष्ण के सभी अस्त्र-शस्त्र बेकार गए, हर बार वे नया अस्त्र उठाते, हर बार प्रद्युम्न उन्हें विनाश कर देता। दाहिने अगों से बार बार पडकने से कृष्ण को किमी रक्त सपथी से मिलने की सूचना हुई। कृष्ण ने लडके से रुक्मिणी लौग देने की प्रार्थना की। अन्त में मल्ल युद्ध की तैयारी हो रही थी कि नारद ने आकर सारे रहस्य का भडाफोड किया। कृष्ण ने व्यग्रपूर्वक प्रद्युम्न से रुक्मिणीको ले जाने को कहा। प्रद्युम्न ने गर्दन झुका ली। नारद ने प्रद्युम्न के विवाद का समाचार भी बताया, कि जैसे उसने रास्ते में कौरवों को पराजित कर दुयाधन की पुत्री से विवाह किया। द्वारका में वधू ने साथ प्रद्युम्न का स्वागत हुआ। बधाईयाँ बजीं।

प्रद्युम्न के दो एक विवाह और हुए। दो एक बार सत्यभामा को उसने और परेशान किया। अन्त में गृहवर्षों के बाद जिन के मुख से कृष्ण के मारे जाने और यादव विनाश द्वारका पक्ष का समाचार सुनकर प्रद्युम्न ने जिनेन्द्र से दीक्षा ली और कठिन तपस्या के बाद कैवल्य पद प्राप्त किया। अन्त में कवि ने अपनी दीनता प्रकट करते हुए प्रथ के श्रवण, मनन, पठन आदि के फलों का विवरण दिया है।

श्रीचली

सुरिज बस राज सपचित्त, धन हरिचन्द न मेल्हो चित्त
सुगो भाव धरि जापू कहै, नासै पाप न पीबी रहै ॥८॥

§ १७५ हरिचंद पुराण की कथा राजा हरिचंद की पौराणिक कथा पर ही आधारित है किन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण और मार्मिक बनाने का प्रयास किया है। हरिचंद पुराण के कई अंश परिशिष्ट में दिये गए हैं, इनमें भाषा की सफाई और जन-काव्य की झलक देखी जा सकती है। जापू की भाषा में ब्रजभाषा के औक्तिक प्रयोगों के साथ ही अपभ्रंश के अग्रशिष्ट रूप भी दिखाई पड़ते हैं। हँपीचंद, धूणोचंद, सुणन्द, आपणैह (पण्डे) फाडइ, दीयड, तोडइ आदि बहुत से रूप अपभ्रंश प्रभाव की सूचना देते हैं, किन्तु भाषा में जन-मुलभ सहजता और सफाई भी दिखाई पड़ती है। रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या के विलाप का वर्णन करते हुए कवि की भाषा सारे रूप प्रयोगों को छोड़कर स्वाभाविक गति में उतर आती है—

विप्र पुद्धि वन भीतर जाइ, रानी अकली परी बिलखाइ ।
सुत सुत कहै वयण ऊचरइ, नयण नीर जिमि पाउस मरइ ॥
हा धिग हा धिग करै ससार, फाटइ हियो अति करै पुकार ।
तोडइ लट अरु फाडइ चार, हेपै सुख अरु चोवै नीर ॥
धरि उदग सुप चूमा देइ, अरे बच्छ किम धान न पेइ ।
दीपड करि दीगेड अंधियार, चन्द्र विहुण निसि घोर अंधार ॥
वड विण गो जिमि कारयो आहि, रोहितास विणु जीवो काहि ।
तोहि विणु मो जग पालट भयो, तोहि विणु जिवतहँ मारठ गयो ॥
तोहि विणु में दुप दौठ अपार, रोहितास लायो अँकवार ।
तोहि विणु नयन डलै कौ नीर, तेहि विणु सास ज्या मुके सरार ॥
तोहि विणु बात न धरवण सुणेइ, तोहि विणु जीव पयाणो देइ ॥

विष्णुदास (संवत् १४६२)

§ १७६. विष्णुदास ब्रजभाषा के गौरवात्यद कवि थे। सूरदास के जन्म से अर्ध शताब्दी पहले, जिन दिनों ब्रजभाषा में न तो वह शक्ति थी न वह अर्थवत्ता, जिसका विकास अष्टाक्षर के कवियों की रचनाओं में दिखाई पडा, विष्णुदास ने एक ऐसे साहित्य की सृष्टि की जिसने कृष्णभक्ति के अत्यन्त मार्मिक और मधुर काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। विष्णुदास ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जिसे १७ वीं शताब्दी में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य भाषा होने का गौरव मिला।

विष्णुदास की रचनाओं की सूचना आज से पचास वर्ष पूर्व, १६०६-८ की खोज रिपोर्ट में प्रकाशित हुई थी। १६०६ की खोज रिपोर्ट के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि इस कवि के बारे में कुछ विरोध नहीं लिखा, क्योंकि उस समय विन्ध्यप्रदेश की खोज का जो विवरण प्रस्तुत किया गया उसमें विष्णुदास की दो रचनाओं, महाभारत कथा और स्वर्गरोहण की सामान्य सूचना मात्र दी गई। ये दोनों पुस्तकें दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित बताई गईं।

श्रीचली

सूरिज बस राज सपवित्त, धन हरिचन्द्र न मेलहो चित्त
सुगो भाव धरि जापू कहै, नासै पाप न पीडो रहै ॥८॥

§ १७५ हरिचंद्र पुराण की कथा राजा हरिचंद्र की पौराणिक कथा पर ही आधारित है किन्तु कवि ने अपनी मौलिक उद्भावना के बल पर कई प्रसंगों को काफी भावपूर्ण और मार्मिक बनाने का प्रयास किया है। हरिचंद्र पुराण के कई अंश परिशिष्ट में दिये गए हैं, इनमें भाषा की सफाई और जन-काव्य की झलक देखी जा सकती है। जापू की भाषा में ब्रजभाषा के औक्तिक प्रयागों के साथ ही अपभ्रंश के अरुशिष्ट रूप भी दिखाई पड़ते हैं। हूँणीचन्द्र, धूणीचन्द्र, सुगन्धु, आपणोंह (पट्टी) फाडह, दीपड, तोडह आदि बहुत से रूप अपभ्रंश प्रभाव की सूचना देते हैं, किन्तु भाषा में जन-मुलभ सहजता और सफाई भी दिखाई पड़ती है। रोहितारव की मृत्यु पर शैब्या के विलाप का वर्णन करते हुए कवि की भाषा सारे रूढ़ प्रयोगों को छोड़कर स्वाभाविक गति में उतर आती है—

विप्र पुंछि बन भीतर जाह, रानी भकली परी विलखाह ।
सुत सुत कहै वयण ऊधरह, नयण नीर जिमि पाउस करह ॥
हा धिग हा धिग करै ससार, फाडह हियो भति करै पुकार ।
तोडह लट भर फाडह चार, देपै सुख भर चौबै नीर ॥
धरि उद्यग सुप चूमा देह, नरे बच्छु विन यान न पेह ।
दीपड करि दीपेड अंधियार, चन्द्र विद्युण निसि घोर अंधार ॥
बड विग गो जिमि कारयो भाहि, रोहितास विणु जीवो काहि ।
तोहि विणु मो जग पालड गयो, तोहि विणु जिबतहँ मारड गयो ॥
तोहि विणु में दुप दौठ भवार, रोहितास लायो अँकवार ।
तोहि विणु नयन डलै को नीर, तोहि विणु सास ज्या मुके सरीर ॥
तोहि विणु बात न ध्रवण सुणेह, तोहि विणु जीव पयागो देह ॥

विष्णुदास (संवत् १४६२)

§ १७६. विष्णुदास ब्रजभाषा के गौरवास्पद कवि थे। सूरदास के जन्म से अर्ध शताब्दी पहले, जिन दिनों ब्रजभाषा में न तो वह शक्ति थी न वह अर्थवत्ता, जिसका विकास अटल्राप के कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ा, विष्णुदास ने एक ऐसे साहित्य की सृष्टि की जिसने कृष्णभक्ति के अत्यन्त मार्मिक और मधुर काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। विष्णुदास ने एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जिसे १७ वीं शताब्दी में भारत की सर्वश्रेष्ठ साहित्य भाषा होने का गौरव मिला।

विष्णुदास की रचनाओं की सूचना आज से पचास वर्ष पूर्व, १६०६-८ की खोजरिपोर्ट में प्रकाशित हुई थी। १६०६ की खोज रिपोर्ट के निरीक्षक डा० श्यामसुन्दरदास ने यद्यपि इस कवि के बारे में कुछ विरोध नहीं लिखा, क्योंकि उस समय विन्ध्यप्रदेश की खोज का जो विवरण प्रस्तुत किया गया उसमें विष्णुदास की दो रचनाओं, महाभारत कथा और स्वर्गाटोहण की सामान्य सूचना मात्र दी गई। ये दोनों पुस्तकें दतिया राज पुस्तकालय में सुरक्षित बचाई गईं।

घट घट न्यापक अन्तर जानी त्रिभुवन स्वामी सब सुखरास ।
विष्णुदास रुक्मिन अर्पनाई जनन जनम की दाम ॥^१

दा समान पदों में लिंगी के कारण कितना बड़ा अन्तर उपस्थित हो जाता है। पहले पद की पंक्तियाँ भ्रष्ट और कुटुम्बी हैं। रुक्मिणी मातृ कृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का मण्ड-काय है जिसमें विष्णुदास ने मणि और शृंगार का अनेकानेक सन्वय किया है।

§ १७७ ब्रजभाषा में सृष्टा कृष्णमणि का अरम्भ ब्रजभाषार्पण के वृन्दावन पधारणे के ८०, ६० सात्र पहले ही कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक सत्र है। १६२६-२८ की रिपोर्ट में हा विष्णुदास की दूसरी कृति सनेह स्याम का भी विवरण दिया हुआ है। स्नेहसाला भनगत का पूर्व रूप है। कृष्ण का एक दिन अचानक ब्रज की स्मृति आती है। स्नेह-विह्वल कृष्ण उद्वेग को गानियों के लिए रुक का संदेश देकर गङ्गुल भेजते हैं। सन-सम्मिर उद्वेग ब्रज का धूमि में सारी मित्र-परिभा को छुड़कर वासित आते हैं। विष्णुदास के शब्दों में ही उद्वेग का उत्तर सुनिये—

तब ऊधो आये यहाँ धा कृष्ण चन्द के धाम
पाप लागि बन्दन कियो बेचत ले ले नाम १०६
माल बाज सब गोपिका ब्रज के जाव अनन्य
तुनही पाप लागत क्यो सुनो देव महन्त्य ११०
मन्द जसोदा हेत की कहेये कहा प्रगाय
ये जानै कै तुम मचे मो पै क्यो न जाय १११
वे चित टारत नहीं स्वप्न राम का जोर
मथ नामक पुरता प्रहै मूरति मधुर किशोर ११२
अस गोपिन के प्रेम का मदिना कष्ट अनन्त
मैं पूजा १८ मास लों तऊ न पायो अन्त ११३
देह गेह सब क्षाप्ति के करत रूप का ध्यान
वन को मत्रन विचारिये सो सब चको मान ११४
सन्त मणि भूतल विपै ये सब ब्रज का नार
धरा सरग रहीं सदा निर्या लग विमार ११५
उनके गुण नित गाइये करि करि उत्तम प्राति
मैं नादिन देखूँ कहुँ ब्रज वासिन का रात ११६
तब हारि ऊधो सो कह्यो हूँ जनत सब भग
होँ कहुँ क्षाल्यो नहीं ब्रज वासिह का सग ११७
ब्रज तत्रि धनत न जायहो भरे लो वा देक
भूतल भार उतारही धरिहा रूप अनेक ॥ ११८

१. सात्र रिपोर्ट, १६२६-२८, पृ० ७२६, सख्या ४६८ पृ
२ सहा, पृ० ७६०, सख्या ४६६

घट घट ग्यापक अन्तर बानी श्रिमुवन स्वानी सब सुखरास ।
विष्णुदास सकुन अयनाई जनन जनन की दाम ॥^१

दा समान पदों में गिनी के कारण कितना बड़ा अन्तर उन्मिष्ट हो जाता है। पहले पद की पंक्तियाँ भ्रष्ट और कुटुम्ब हैं। बकिनगी माल कृष्ण और बकिनगी के विवाह का मंगल-काय है जिसमें विष्णुदास ने भक्ति और शृंगार का अनेखा समन्वय किया है।

§ १७७ ब्रजभाषा में सगुा कृष्णमति का अरम्भ पद्मभाचार्य के वृन्दावन पधारणे के ८०, ६० साल पहले ही कवि विष्णुदास द्वारा किया जा चुका था। यह एक नया ऐतिहासिक सच है। १६२६-२८ की रिपोर्ट में हा विष्णुदास की दूसरी कृति सनेह स्याज का भी विवरण दिया हुआ है। सनेहसला भनरगत का पूर्व रूप है। कृष्ण का एक दिन अचानक ब्रज की स्मृति आती है। स्नेह-विद्वान् कृष्ण उद्वेग को गानिने के लिए शन का लक्ष्य देखकर गजुज भेजते हैं। शन-गन्धीर उद्वेग ब्रज का धूमि में सारी निगुण-रिमा को हयकर वानित अउते हैं। विष्णुदास के शब्दों में ही उद्वेग का उत्तर सुनिये—

तब ऊषो भाये यहाँ आ कृष्ण चन्द के धान
पाय लागि बन्दन कियो बोज्य ले ले नाम १०६
माल बाव सब गोपिका ब्रज के जाव भनय
तुनही पाय लागन क्यो सुनो देव इहान्य ११०
मन्द असोदा हेत की कहिये कहा बनाय
वे जानै कै तुन मने भो पै क्यो न जाय १११
वे वित्त टारत नहीं स्वान रान का जोर
भय नामक पुरती प्रहै मूरति मधुर किशोर ११२
अस गोपिन के प्रेम का मदिना कटु भनय
मै पूछा पट् नास लो तऊ न पायो अन्त ११३
देह गेह सब घापि के करत रूप का ध्यान
बन को भजन विचारिये सो सब फको मान ११४
सन्त भक्ति भूतल विपै वे सब ब्रज का नार
चरा सरा रहीं सदा निप्या लग विमार ११५
उनके गुण नित गाइये करे करे उत्तम प्राति
मै नाइन देव कहुँ ब्रज वासिन का रात ११६
तब हरि ऊषो सो क्यो हूँ जनत सब अग
हो कहुँ छाड्यो नहीं ब्रज वासिह का सग ११७
ब्रज सवि भनय न जायहो मेरे तो या देक
भूतल मार उतारही परिहा रूप अनेक ॥ ११८

१. श्राज रिपोर्ट, १६२६-२८, पृ० ७२६, सरना ४६८ पृ
२ वहा, पृ० ७६०, सत्या ४६६

रिपोर्ट में इस प्रति का लिपिकाल संवत् १६६६ दिया हुआ है। अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है।

'प्रति श्री वीरकथा लयमत्तेन पद्मावती सम्पूर्ण समता, संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। पोथीके विवरण में १० पत्र, ६३" X ८" २६ पक्षियाँ और ४८ पद्य का हवाला दिया हुआ है। अभी हाल में एक दूसरी प्रति का पता चला है जो श्रीशगरचन्द्र नाहय के पास सुरक्षित है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने इस प्रति का परिचय देते हुए एक लेख त्रिपुरा में प्रकाशित कराया है। नाहय जी के पास सुरक्षित प्रति की अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है 'श्री श्री वीरकथा लयमत्तेन पद्मावती सम्पूर्ण समता संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी लिखित फूलपेडा मध्ये। वरी २६ पक्षि, वही ६३" X ८" के १० पत्र। एक ही स्थान एक ही लिपिकाल, वार, नक्षत्र, वर्ष सब एक। उदयशंकर शास्त्री इसे दूसरी प्रति बताते हैं किन्तु ख ब रिपोर्ट में सूचित, विद्याप्रचारिणी जैन समा, बयपुर की प्रति से इसमें कोई भिन्नता नहीं। न तो आब बयपुर में उस समा का कोई पता है और न तो प्रति का। मुझे लगता है कि उक्त दोनों प्रतियाँ बलुतः एक ही हैं। जैसा कि उनके विवरण से स्पष्ट है। किन्तु दोनों प्रतियो की मापा में कुछ अंतर अवश्य दिखाई पड़ता है। नाहय जी के प्रति के उद्धरण परिशिष्ट में दिये हुए हैं, सर्व रिपोर्ट में सूचित प्रति का अंश इस प्रकार है।

सुगो कया रस लील विद्यास, योगी मरण राय बनवान
मेलो करि कवि दामो कहइ, पदनावती बहुत दुःख सहइ ॥१॥
कारनोर हुँत गोसरइ, पंचन सत अनुरस मरइ
सुकवि दामउ लागइ पाय, हम वर दीपो सारइ माय ॥२॥
नमूँ गयेस जुंजर रोप, भूसा वाहन हाथ फरेस
लाइ लावन जस मरि पाल, विघन हरन समरुं दुदाल ॥३॥

केवल तीन चौमाइयो में ही मापा-मेर देखें। सुगउ (ना०) सुयो (सर्व०) मेलउ (ना) मेने (सर्व) दामउ (ना) दामो (स) वाहन (ना०) वाहन (स०) वावर (ना०) लावन (स०)। सर्व रिपोर्ट में अन्तिम अंश भी दिया हुआ है। मापा को दृष्टि से यह पूर्वोक्त ब्रजभाषा है। किन्तु नाहय वाली प्रति में उद्धृत स्वर जो के ल्यो हैं उनमें पुरानानन दिखाई पड़ता है, जबकि सर्व रिपोर्ट वाली प्रति में सूचना लेखक ने उद्धृत की सधि करके अउ > भी कर दिया है। प के स्थान पर प्रायः न लिखा हुआ है। इस प्रकार कुछ मान्यी अन्तर स्पष्ट होता है वर। प्रतिमाँ मापा एक ही मान्य होती हैं।

दामो कवि के बारे में कुछ विरोध पता नहीं चलता। इस आशयान की रचना के विषय में कवि की निम्न पक्षियाँ महत्वपूर्ण हैं—

सवनु पनइ सोल्लोचरा मकारि
जेउ वदी नवमी बुधवार
सत सारिका नक्षत्र इट जान
वीर कया रस कहँ बखान ॥४॥

१. खोज रिपोर्ट, सन् १९००, नम्बर ८८, पृ० ७५

२. त्रिपुरा अंक १०, जुलाई, १९५९ पृ० ५३-५८

रिपोर्ट में इस प्रति का त्रिकाल संवत् १६६६ दिया हुआ है। अन्त की पुष्पिका इस प्रकार है।

‘इति श्री वीरकथा लयमलेन पद्मावती सम्पूर्णं समाप्ता, संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी त्रिकाल पूज्येडा मध्ये। योगीके विवरण में १० पत्र, ६३" X ८" २६ पक्षियाँ और ४८ पत्र का हवाया दिया हुआ है। अभी हाल में एक दूसरी प्रति का पत्रा चयन है जो श्रीधरगणेश नाहय के पास सुरक्षित है। श्री उदयशंकर शास्त्री ने इस प्रति का परिचय देते हुए एक लेख त्रिरपगा में प्रकाशित किया है।^१ नाहय जी के पास सुरक्षित प्रति का अन्तिम पुष्पिका इस प्रकार है ‘इति श्री वीरकथा लयमलेन पद्मावती सम्पूर्णं समाप्ता संवत् १६६६ वर्षे भाद्र सुदि सप्तमी त्रिकाल पूज्येडा मध्ये। वरी २६ पक्षि, वरी ६३" X ८" के १० पत्र। एक ही स्थान एक ही त्रिकाल, शर, नक्षत्र, वर्ष सब एक। उदयशंकर शास्त्री इसे दूसरी प्रति बताने हैं किन्तु ख ब रिपोर्ट में सूचित, विद्याप्रचारिणों जैन समा, बयपुर की प्रति से इसमें कोई भिन्नता नहीं। न तो आज बयपुर में उस समा का कोई पता है और न तो प्रति का। मुझे लगता है कि उक्त दोनों प्रतियाँ बलुतः एक ही हैं। जैसा कि उनके विवरण से स्पष्ट है। किन्तु दोनों प्रतिनों की भाषा में कुछ अंतर अवश्य दिखाई पड़ता है। नाहय जी के प्रति के उद्धरण परिशिष्ट में दिये हुए हैं, सर्व रिपोर्ट में सूचित प्रति का अर्थ इस प्रकार है।

सुगो कथा रस लील बिलास, योगी मरण राय बनवाम
मेलो करि कवि दामो कहइ, पदमावती बहुत दुःख सहइ ॥१॥
कारनार हुँत नोसरइ, पंचन सत अन्तरस भरइ
सुकवि दामउ लागइ पाय, हम वर दीयो सारद माय ॥२॥
नमू गणेश कुंजर शेष, भूसा वाहन हाय फरेस
छाइ लायन जस भरि याल, विषन हरग समरुं दुदाल ॥३॥

केवल तीन चौमाइयों में ही भाषा-भेद देखें। सुगउ (ना०) सुगो (सर्व०) मेलउ (ना) मेलो (सर्व) दामउ (ना) दामो (स) काहन (ना०) काहन (स०) लावण (ना०) लावन (स०)। सर्व रिपोर्ट में अन्तिम अंश भी दिया हुआ है। भाषा को दृष्टि से यह पूर्वतः ब्रजभाषा है। किन्तु नाहय वाली प्रति में उद्धृत स्वर ज्यों के त्यों हैं उनमें पुगानान दिखाई पड़ता है, जबकि सर्व रिपोर्ट वाली प्रति में सूचना लेखक ने उद्धृत की सधि करके अउ > भी कर दिया है। न के स्थान पर प्रायः न लिखा हुआ है। इस प्रकार कुछ मान्यी अन्तर स्पष्ट होता है वस। प्रतिमाँ श्रवः एक ही मःम हंती हैं।

दामो कवि के बारे में कुछ विशेष पता नहीं चलता। इस आख्यान की रचना के विषय में कवि की निम्न पक्षियाँ महत्वपूर्ण हैं—

सबनु पदइ सोल्लेतरा मन्तारि
जेउ बसो नचमी सुयवार
सत सारिका नचत्र हड जान
वीर कथा रस कहैं बलान ॥४॥

१. स्रोत रिपोर्ट, सन् १९००, नम्बर ८८, पृ० ७५

२. त्रिरपगा अंक १०, जुलाई, १९५६ पृ० ५३-५८

असली परिवचय देकर पद्मावती से शादी की। एक रात को सिद्धनाथ योगी व्याकर राजा से बोला—मुझे पानी पिला, नहीं तुझे शाप दूँगा। भय के कारण राजा ने यह उसकी खोजबीन की। योगी ने तब तक बल पीने से इन्कार किया जब तक राजा बचनबद्ध नहीं हो गया कि वह पद्मावती से उत्पन्न पहली सन्तान को योगी के पास लवेंगा। समय बीतने पर पद्मावती के आम्रहृ और योगी के भय से राजा अब सद्यः उत्पन्न बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने उसे चार टुकड़ों में काटने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। वे टुकड़े खग, घनुपवाण, वल्ल और कन्या के रूप में परिणत हो गए। राजा इससे बड़ा दुखी हुआ और राजपाट छोड़कर वन में चला गया। इधर-उधर घूमते-भटकते राजा कर्पूर धारा नगर में पहुँचा जहाँ हरिया नामक एक धनुकुबेर सेठ निवास करता था। राजा ने उसके द्वारते हुए लडके की रक्षा की। नगर में रहते हुए राजा ने वहाँ की राजकन्या को देखा और दोनों में प्रेम हो गया। धारा नरेश लक्ष्मणसेन के इस कार्य पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मणसेन के वध की आज्ञा दी, किन्तु सारी कथा सुनकर उसे लक्ष्मणसेन पर बड़ी दया आई। उसने न केवल मुक्त ही किया बल्कि अपनी कन्या भी व्याह दी। राजा नई रानी के साथ लौटा और दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक लखनौती भाकर रहने लगा।

§ १८१. दामो की भाषा प्राचीन ब्रजभाषा है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु राजस्थानी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। प्रतिलिपि बहुत शुद्ध नहीं है। राजस्थानी लिपिकार की रूपभाषाप्रियता भी राजस्थानी प्रभाव में सहायक हो सकती है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है। आदि और अंत के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

धरि धार्यउ लखणउतो राय, अति भणद हरखदठ मन भाय
कहइ बधावठ भावठ राइ, सष तिण लखठ बहुत पसाइ ॥६२॥
लखन सेन लखनौती गयउ, राज मीहि बधावठ भयउ
चभण भाट करइ कह वार, मिलियो वेग सहू परिवार ॥६३॥
मिलयो महाजण राजा तणा, नयर देस भउ उछाह वणा
माय पूत भरु धाय कुमारि, लखन सेन भेटयो तिणि वार ॥६४॥
भणइ प्रधान स्वामि भवधारि, काइ देव रहियो इणवार
योगी सरिसउं भइ दु-ख सहयउं, घालयउं कुंभा कष्ट भागेयउं ॥६५॥
गइ सभउर रहइ छइ राय, तासु धाय परणी रंग माहि ।
पइइ कपूर धार हूँ गयउं, चन्द्रावती विहाइण लियउं ॥६६॥

काव्य प्रायः विवरणात्मक है इसलिए भाषा में बहुत सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु आरम्भिक भाषा के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का महत्त्व निर्विवाद है, काव्यरूप की दृष्टि से तो यह अनुपेक्षणीय ग्रन्थ है ही।

झंगर बावनी (विक्रमी संवत् १५३८)

§ १८२. बावन छप्पयों की इस रचना के लेखक कवि झंगर उपनाम पद्मनाभ बहुत प्रसिद्ध जैन भावक और कवि थे। झंगर बावनी की रचना इन्होंने १५३८ विक्रमी अर्थात्

असली परिचय देकर पद्मावती से शादी की। एक रात को सिद्धनाथ योगी आकर राजा से बोला—मुझे पानी पिला, नहीं तुम्हें राप दूँगा। भय के कारण राजा ने वह उसकी खोजबीन की। योगी ने तब तक बल पीने से इन्कार किया जब तक राजा बचनबद्ध नहीं हो गया कि वह पद्मावती से उत्पन्न पहली सन्तान को योगी के पास लायेगा। समय बीतने पर पद्मावती के आग्रह और योगी के भय से राजा जब सद्यः उत्पन्न बच्चे को लेकर योगी के पास पहुँचा तो उसने उसे चार टुकड़ों में काटने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। वे टुकड़े खग, घनुषवाण, यज्ञ और कन्या के रूप में परिणत हो गए। राजा इससे बड़ा दुखी हुआ और राजपाट छोड़कर वन में चला गया। इधर-उधर घूमते-भटकते राजा कर्पूर धारा नगर में पहुँचा जहाँ हरिया नामक एक धनकुबेर सेठ निवास करता था। राजा ने उसके झूठे हुए लडके की रक्षा की। नगर में रहते हुए राजा ने वहाँ की राजकन्या को देता और दोनों में प्रेम हो गया। धारा नरेश लक्ष्मणसेन के इस कार्य पर बड़ा क्रुद्ध हुआ और लक्ष्मणसेन के वध की आज्ञा दी, किन्तु सारी कथा सुनकर उसे लक्ष्मणसेन पर बर्बाद दया आई। उसने न केवल मुक्त ही किया बल्कि अपनी कन्या भी व्याह दी। राजा नई रानी के साथ लौटा और दोनों पत्नियों के साथ सुखपूर्वक लखनौती आकर रहने लगा।

§ १८१. दामो की भाषा प्राचीन ब्रजभाषा है, इसमें सन्देह नहीं किन्तु राजस्थानी का प्रभाव भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। प्रतिलिपि बहुत शुद्ध नहीं है। राजस्थानी लिपिकार की रूपभाषामयिता भी राजस्थानी प्रभाव में सहायक हो सकती है। नीचे एक अरा उद्धृत किया जाता है। आदि और अंत के कुछ अंश परिशिष्ट में संलग्न हैं।

घरि धालयड लखणउत्तो राय, अति अणद हरखयड मन भाय
 कहइ बधावड भायड राइ, तब तिण लाघड बहुत पसाइ ॥१२॥
 लखन सेन लखनौती गयड, राज मॉहि बधावड मयड
 चभण भाट करइ कह वार, मिलियो वेग सहू परिवार ॥१३॥
 मिल्यौ महाजण राजा तणा, नयर देस भड उल्लाह घणा
 माय पूत भरु धाय कुमारि, लखन सेन भेल्यो तिणि वार ॥१४॥
 भणइ प्रधान स्वामि अवधारि, काइ देव रहियो इणवार
 योगी सरिसउं भइ दु-ख सहयउं, घालयउं कुंभा कण भागेयउं ॥१५॥
 गड सारसटर ररह खड राय, सगु धाय वरणी रण जाहि ।
 पखइ कपूर धार हूँ गयउं, अन्दावती विहाइण लियउं ॥१६॥

काव्य प्रायः विवरणरामक है इसलिए भाषा में बहुत सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु आरम्भिक भाषा के अध्ययन के लिए इस ग्रन्थ का महत्व निर्विवाद है, काव्यरूप की दृष्टि से तो यह अनुपेक्षणीय ग्रन्थ है ही।

झंगर बावनी (विक्रमी संवत् १५३८)

§ १८२. बावन छप्पयों की इस रचना के लेखक कवि झंगर उपनाम पद्मनाभ बहुत प्रसिद्ध जैन भावक और कवि थे। झंगर बावनी की रचना इन्होंने १५३८ विक्रमी अर्थात्

जिस काल जिसउ दौन्हउ, तिसउ तिन काल पावंत जन
 संघ पति राय हूंगर कहइ अलिय दोष दिजइ कवन ॥२०॥
 इन्द भइलया रग्यउ जानि तसु अइति उपषी
 कान्ह रग्यउ ग्वालिनो पेलि करि रूप रवतां
 दस कंधर दस सीस सोप कारनि सिर खण्डयउ
 कांचक अरु द्रुपदो कज देउल सिरि भइयेउ
 रक्खिय न अप्पइ इमि जानि सो नर अइमहि दुप्ययउ
 तिनि मयन नृपति दूगर कहइ को को को न विदुग्यउ ॥३॥
 भौपधि मूल मर्ता सर्प नहि मानइ दुर्जन
 सर्प डसो वेदना एहि दिठ्ठइ हुई गजन
 लागइ दोष अनन्त कियइ संसर्ग एनि परि
 तवडो जल हरइ घई पीटियइ सुफलरि
 वडरो वेमास कीजइ नहीं, नौद न आवइ सुख करि
 परिहरउ सदा दूगर कहइ भलउ न चंदइ विखुन नर ॥१०॥

दूंगर के कुछ छाप्य अत्यन्त उच्चश्रेष्ठि के हैं। भाषा अत्यन्त पुष्ट, गठी हुई और शक्तिपूर्ण है। छाप्यों की यह परम्परा बाद में और भी विकसित हुई। साहित्य और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इनका महत्त्व स्वीकार किया जायेगा।

§ १८४. मानिक कवि

१६३२-३४ ईस्वी की खोज रिपोर्ट में मानिक कवि की बैतालपचीसी की सूचना प्रकाशित हुई।^१ इस त्रैमासिक विवरण का सङ्घित अथ नागरीप्रचारिणी पत्रिका में सवत् १९९६ में छया, जिसमें मानिक कवि का नाम दिया हुआ है।^२

मानिक कवि ने विक्रमी संवत् १५४६ अर्थात् १४८९ ईस्वी में बैतालपचीसी की रचना की। रचना के विषय में कवि ने लिखा है :

संवत् पनरह सै तिहिकाल, भोर वरम भागरी दियाल ।
 निर्मल पाख भागहन मास, हिमरितु कुम्भ चन्द्र को वास ॥
 भाटे घोस वार तिहि भानु, कवि भापे बैताल पुरानु ।
 गढ़ ग्वालियर वरन भतिभलो, मानुसिध तोवर जा बलौ ॥
 सघई खेमल बारा लीयो, मानकि कवि कर जोरें दीयो ।
 मोहि सुनावहु कया अनूप, जो बैताल कियो बहु रूप ॥

ग्वालियर में मानसिंह तवर का राज्य था। उनके राज्यकाल में १५४६ विक्रमी संवत् के अगहन महीने के शुक्ल-पक्ष अष्टमी रविवार को यह कथा राजा की आज्ञा पर लिखी गई।

१. दूगर कवि का यह परिचय पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। प्रति, श्री अगरचन्द्र नाहटा बांकानेर के पास सुरक्षित।
२. त्रैमासिक खोज विवरण १९३१-३४ पृ० २४०-४१
३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ भाग २, शंक ४

जिस कालि जिसउ दोग्हुड, तिसउ तिन काल पावंत जन
 संघ पति राय डूंगर कहइ भलिय दोष दिजइ कचन ॥२०॥
 इन्दु अहल्या रम्यउ जानि तसु अइति उपघी
 कान्ह रम्यउ ग्वालिनो पोखि करि रूप रवत्तो
 दस कंधर दस सीस सोय कारनि सिर खण्डयउ
 कीचक भरु हुपदी कज देउल सिरि भइयेउ
 रक्खिय न अप्पइ इमि जानि सो नर अरमहि हुम्बयउ
 तिति मयन नृपति डूगर कहइ को को को न विइम्पउ ॥६॥
 औपधि मूल मर्त्रा सर्प नहि मानइ दुर्जन
 सर्प डसो वेदना एहि दिहइ हुई गजन
 लागाइ दोष अनन्त क्रियइ संसर्ग एनि परि
 तवहो जल हरइ घई पीटियइ सुफलरि
 वइरी वेमास कीजइ नहीं, नौद न आवइ सुख करि
 परिहरउ सदा डूगर कहइ भलउ न वंछइ पिखुन नर ॥१०॥

डूंगर के कुछ छुप्य अत्यन्त उच्चरुति के हैं। भाषा अत्यन्त पुष्ट, गठी हुई और शक्तिपूर्ण है। छुप्यों की यह परम्परा बाद में और भी विकसित हुई। साहित्य और भाषा दोनों ही दृष्टियों से इनका महत्त्व स्वीकार किया जायेगा।

§ १२४. मानिक कवि

१६३२-३४ ईस्वी की खोज रिपोर्ट में मानिक कवि की बैतालरचीसी की सूचना प्रकाशित हुई।^१ इस त्रैमासिक विवरण का सङ्घित अष्ट नागरीप्रचारिणी पत्रिका में सवत् १६६६ में छपा, जिसमें मानिक कवि का नाम दिया हुआ है।^२

मानिक कवि ने विक्रमी सवत् १५४६ अर्थात् १४८६ ईस्वी में बैताल-पचोसो की रचना की। रचना के विषय में कवि ने लिखा है :

संवत् पनरह सै तिहिकाल, ओरु वरम आगरी दियाल ।
 निर्मल पाख भागहन मास, हिमरितु कुम्भ चन्द को वास ॥
 भाठे घोस वार तिहि भानु, कवि भापे बैताल पुरानु ।
 गद्ग ग्वालियर वरन अतिभलो, मानुसिध तोवर जा बलौ ॥
 सधई खेमल बोरा लीयो, मानिक कवि कर जोरें दीयो ।
 मोहि सुगावहु कथा अनूप, जो बैताल कियो बहु रूप ॥

ग्वालियर में मानसिंह तवर का राज्य था। उनके राज्यकाल में १५४६ विक्रमी संवत् के अगहन महाने के शुक्ल-पक्ष अष्टमी रविवार को यह कथा राजा की आज्ञा पर लिखी गई।

१. डूंगर कवि का यह परिचय पहली बार प्रकाशित किया जा रहा है। प्रति, श्री अगारचन्द नाहटा बीकानेर के पास सुरक्षित।
२. त्रैमासिक खोज विवरण १६३१-३४ पृ० २४०-४१
३. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४४ भाग २, शंक ४

जैन लेखक थे। कवि के बारे में इससे ज्यादा कुछ मालूम न हो सका। विक्रमी सवत् १५५० में उन्होंने पञ्चेन्द्रियवेलि या गुण वेलि नामक रचना अिली बो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। पञ्चेन्द्रियवेलि की अंतिम पक्तियों में लेखक और उसके रचनाकाल के विषय में निम्न सूचना प्राप्त होती है—

कवि घेरह मुजग गुण गावो, जग प्रगट ठकुरसी नावो ।
ते वेलि सरस गुण गावो, चित चतुर मुरम्भ समुक्कायो ॥३५
सवत् पन्द्रह सौ पचासो, तेरस मुदि कातिग मासो ।
इ पाँचो इन्द्रिय बस रापे, सो हरत घरत फल चापे ॥३६

‘इति श्री पञ्चेन्द्रिय वेलि समाप्त । सवत् १६८८ भातोत्र वदि दूज, मुकुट वार लिखितम्
जैठावारणी आगरा मध्ये ।’

घेरह सम्भवत ठकुरसी के पिता का नाम था। पार्श्वनाथ शकुन सत्तावीसी के अंत में ‘घेरह नदगुठकुर सी नाँय’ यह पक्ति आती है। किन्तु गुणवेलि से इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता। ठकुरसी ने पञ्चेन्द्रिय वेलि में इन्द्रियों के अनियमित व्यापार और तन्त्रय पतन का वर्णन करके इन्हें सयमित रखने की चेतावनी दी है। लेखक की भाषा प्रायः ब्रज है। किञ्चित् राजस्थानी प्रभाव भी वर्तमान है। नीचे एक अश उद्धृत किया जाता है, पूरी रचना परिशिष्ट में दी हुई है।

कैलि करम्नो जन्म जलि गाव्यो लोभ दिपालि ।
मीन मुनिप ससार सर सौं काव्यो धीवर कालि ॥
सो काव्यो धीवर कालि, द्विगाव्यो लोभ दिपालि ।
मद्धि नाँर गद्दार पईठै, दिठि जाइ नहीं तई दाँठै ॥
इहि रसना रस के घालै, धल भाद मुवै दुप सालै ।
इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो ॥
इहि रसना रस के ताई, नर मुपै वाप गुह भाई ।
घर फोटे मारे घाटा, नित करै कपट धन घाटा ॥
मुपि मूठ साच बहु बोले, घरि छाड़ि देसाडर डोलै ।
इहि रसना विषय अकारो, बसि होई भोगनि गारो ॥
जिन जहर विपै बस म्हाते, तिन्ह मानुप जनम विगूते ।
कवलिय पइठो भँवर दल, घाण गन्ध रस रुद्धि ॥
रैनि पइो सो सकुयौ नाँसरि सच्यो न मूद्धि ।

ठकुरसी ने नेमि राज मति के प्रेम प्रसंग पर भी एक वेलि की रचना की है। इनकी साँसरी कृति पार्श्वनाथशकुन सत्तावीसी है।

छिताई वार्ता

§ १८७ छिताई चरित नामक ग्रन्थ की पहली सूचना हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज की १६४१-४२ की रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई। उक्त प्रति इलाहाबाद म्यूनिस्पल म्यूजियम में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल १६८२ विक्रमी उल्लिखित है। खोज रिपोर्ट में छिताई चरित

जैन लेखक थे। कवि के बारे में इससे ज्यादा कुछ मालूम न हो सका। विक्रमी सवत् १५५० में उन्होंने पञ्चेन्द्रियवेलि या गुण वेलि नामक रचना लिखी जो भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। पञ्चेन्द्रियवेलि की अंतिम पक्तियों में लेखक और उसके रचनाकाल के विषय में निम्न सूचना प्राप्त होती है—

कवि घेल्ह मुजण गुण गावो, जग प्रगट ठकुरसी नावो ।
ते वेलि सरस गुण गावो, चित चतुर मुरम्ब समुम्भावो ॥३५
सवत् पन्द्रह सौ पचासो, तेरस मुदि कातिग मासो ।
इ पर्षो इन्द्रिय बस रापे, सो हरत घरत फल चापै ॥३६

‘इति श्री पञ्चेन्द्रिय वेलि समाप्त । सवत् १६८८ आसोज वदि दूज, सुकुर वार लिखितम्
जोतावारणी आगरा मध्ये ।’

घेल्ह सम्भवतः ठकुरसी के पिता का नाम था। पार्श्वनाथ शकुन सत्तावीसी के अंत में ‘घेल्ह नटणु ठकुर सी नाँन’ यह पक्ति आती है। किन्तु गुणवेलि से इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता। ठकुरसी ने पञ्चेन्द्रिय वेलि में इन्द्रियाँ के अनियमित व्यापार और तज्जन्य पतन का वर्णन करके इन्हें समर्पित रखने की चेतावनी दी है। लेखक की भाषा प्रायः ब्रज है। किञ्चित् राजस्थानी प्रभाव भी वर्तमान है। नीचे एक अंश उद्धृत किया जाता है, पूरी रचना परिशिष्ट में दी हुई है।

केलि करन्तो जन्म जलि गारयो लोभ दिपालि ।
मीन मुनिय ससार सर सौं काढ्यो धीवर कालि ॥
सो काढ्यो धीवर कालि, द्विगाव्यो लोभ दिपालि ।
मछि मार गहारा पईठै, दिठि जाइ नहीं तई दाँठै ॥
इहि रसना रस के घालै, थल आइ मुवै दुप सालै ।
इहि रसना रस के लीयो, नर कौन कुकर्म न कीयो ॥
इहि रसना रस के ताई, नर मुसै चाप गुरु भाई ।
घर फोडे मारे बाटा, नित करै कपट धन घाटा ॥
मुपि मूठ साच बहु बोले, धरि छड़ि देसाउर डोलै ।
इहि रसना विषय अकारो, बसि होई भोगनि गारो ॥
जिन जहर विपै बस धीते, तिन्ह मानुष जन्म बिगूते ।
कवलिय पइट्टो भँवर दल, घ्राण गन्ध रस रूदि ॥
रैन पदो सो सकुयो नासरि सक्त्यो न भूदि ।

ठकुरसी ने नेमि राज मति के प्रेम प्रसंग पर भी एक वेलि की रचना की है। इनकी तीसरी कृति पार्श्वनाथशकुन सत्तावीसी है।

छिताई वार्ता

§ १२७ छिताई चरित नामक ग्रन्थ की पहली सूचना हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों की खोज की १९४१-४२ की रिपोर्ट में प्रस्तुत की गई। उक्त प्रति इलाहाबाद म्यूनिस्पल म्यूजियम में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल १६८२ विक्रमी उल्लिखित है। खोज रिपोर्ट में छिताई चरित

के सुधार भी समानरूप से मिलते हैं।^१ इसलिए दोनों कवियों की उक्त सामान्य पूर्वज प्रति भी रतनरंग के पाठानुवाद के बाद ही लिखी गई होगी। नारायणदास की मूल रचना तो रतनरंग की प्रति से भी पूर्व की होगी।

इस प्रकार नारायणदास की रचना की रतनरंग ने पाठानुदानयुक्त प्रतिलिपि की। जिसकी कोई परवर्ती प्रतिलिपि प्राप्त प्रतियों की पूर्वज प्रति थी। संवत् १६४७ की प्रतिलिपि और उसकी विकास-परम्परा से स्रोतों के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह सहज अनुमान हो सकता है कि छिताई बार्ता मूल रूपमें काफी पुरानी रचना रही होगी। डा० गुप्त ने इस विवेचन के आधार पर छिताई बार्ता के रचनाकाल का अनुमान करते हुए लिखा कि '१६४७ की प्रति और नारायणदास की रचना के बीच पाठ की तीन स्थितियाँ निश्चित रूप से पड़ती हैं और यदि हम प्रत्येक स्थिति परिवर्तन के लिए ५० वर्षों का समय मानें जो कि मेरी समझ में अधिक नहीं है—तो रतनरंग के पाठ का समय १५८० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय १५०० संवत् ठहरा है, वैसे मेरा अग्रपना अनुमान है कि मावी खोज में कुछ और प्रतियाँ प्राप्त होने पर एकाध स्थिति बीच में और निकल सकती है, और तब रतनरंग के पाठ का समय १५०० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय संवत् १४५० के लगभग प्रमाणित हो तो आश्चर्य नहीं।'^२

पाठ शोध के आधार पर रचनाकाल का यह अनुमान बहुत सन्तोषप्रद तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किसी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि के अभाव में इसी से काम लेना पड़ेगा। वैसे लिपिकाल १६४७ को देखते हुए इतना तो अनुमेय है कि रचना १६वें शताब्दी की अवश्य है।

§ १८८. छिताई बार्ता ब्रजभाषा की अत्यन्त महत्वपूर्ण गौरवास्पद रचना है। इसकी कथा अत्यन्त रोमानी और मनमत्थी है। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति निसुरत खा को देवगिरि के प्रतापी राजा रामदेव को पराजित करने के लिए भेजा। मुसलमानों सेना के आक्रमण और अत्याचार से सन्नत प्रजा ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। राजा सन्धि के लिए दिल्ली गया। वहाँ उसने सुल्तान के भाई उलू खा को एक लाख टंक प्रदान करके अपना भिन बना लिया। राजा को दिल्ली में तीन वर्ष बित गए—इधर उसकी युवती कन्या छिताई विवाह के योग्य हो गई। रानी ने राजा के पास सन्देश भेजा, बादशाह ने रामदेव को देवगिरि लौटनेकी आज्ञा दी, साथ ही उपहार में एक अच्छा चित्रकार भी साथ भेज दिया। चित्रकार ने पुराने महल की चित्रकला के लिए अनुपयुक्त बताया, नये महल का निर्माण हुआ। राज कन्या छिताई अंकित चित्रों को देखने आई। चित्रकार ने इसे देखा तो चित्रवत् रह गया, उसने छिताई की छवि अंकित कर ली। इस बीच छिताई का विवाह समुद्रगढ़ के राजा

१. रतनरंग की निम्न चौपाई से मालूम होता है कि उसने नारायणदास की रचना को संवार सुधार कर उपस्थित किया है—

रतन रंग कवियन बुधि लई समौ विचरी कथा वनई।

गुनियन गुनो नरायण दास, तामहि रतन कियो परगास ॥५०४॥

२. प्रैमासिद्ध आलोचना, भंक्र १६, पृ० ७१

के सुधार भी समानरूप से मिलते हैं।^१ इसलिए दोनों कवियों की उक्त सामान्य पूर्वज प्रति भी रतनरंग के पाठानुवाद के बाद ही लिखी गई होगी। नारायणदास की मूल रचना तो रतनरंग की प्रति से भी पूर्व की होगी।

इस प्रकार नारायणदास की रचना की रतनरंग ने पाठानुदानयुक्त प्रतिलिपि की। जिसकी कोई परवर्ती प्रतिलिपि प्राप्त प्रतियों की पूर्वज प्रति थी। संवत् १६४७ की प्रतिलिपि और उसकी विकास-परम्परा से स्रोतों के उपर्युक्त विवेचन के बाद यह सहज अनुमान हो सकता है कि छिताई वार्ता मूल रूपमें काफी पुष्पानी रचना रही होगी। डा० गुप्त ने इस विवेचन के आधार पर छिताई वार्ता के रचनाकाल का अनुमान करते हुए लिखा कि '१६४७ की प्रति और नारायणदास की रचना के बीच पाठ की तीन स्थितियाँ निश्चित रूप से पड़ती हैं और यदि हम प्रत्येक स्थिति परिवर्तन के लिए ५० वर्षों का समय मानें जो कि मेरी समझ में अधिक नहीं है—तो रतनरंग के पाठ का समय १५८० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय १५०० संवत् ठहरता है, वैसे भेद्य अप्रना अनुमान है कि भावी खोज में कुछ और प्रतियाँ प्राप्त होने पर एकाध स्थिति बीच में और निकल सकती है, और तब रतनरंग के पाठ का समय १५०० के लगभग और नारायणदास की रचना का समय संवत् १४५० के लगभग प्रमाणित हो तो आश्चर्य नहीं।'^२

पाठ शोध के आधार पर रचनाकाल का यह अनुमान बहुत सन्तोषप्रद तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु किसी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि के अभाव में इसी से काम लेना पड़ेगा। वैसे लिपिकाल १६४७ को देखते हुए इतना तो अनुमेय है कि रचना १६वीं शताब्दी की अवश्य है।

§ १८८. छिताई वार्ता ब्रजभाषा की अत्यन्त महत्वपूर्ण गौरवास्तव रचना है। इसकी कथा अत्यन्त रोमानी और मर्मस्पर्शी है। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने सेनापति निसुरत खा को देवगिरि के प्रतापी राजा रामदेव को पराजित करने के लिए भेजा। मुसलमानी सेना के आक्रमण और अत्याचार से सन्नत ब्रजा ने राजा से रक्षा की प्रार्थना की। राजा सन्धि के लिए दिल्ली गया। वहाँ उसने सुल्तान के माई उल् खा को एक लाख टंक प्रदान करके अपना मित्र बना लिया। राजा को दिल्ली में तीन वर्ष बित गए—इधर उसकी सुवती कन्या छिताई विवाह के योग्य हो गई। रानी ने राजा के पास सन्देरा भेजा, बादशाह ने रामदेव को देवगिरि लौटनेकी आज्ञा दी, साथ ही उपहार में एक अन्धा चित्रकार भी साथ भेज दिया। चित्रकार ने पुराने महल को चित्रकला के लिए अनुपयुक्त बताया, नये महल का निर्माण हुआ। राजा कन्या छिताई अंकित चित्रों को देखने आईं। चित्रकार ने इसे देखा तो चित्रवत् रह गया, उसने छिताई की छवि अंकित कर ली। इस बीच छिताई का विवाह समुद्रगढ़ के राजा

१. रतनरंग की निम्न चौपाई से मालूम होता है कि उसने नारायणदास की रचना को संवार सुधार कर उपस्थित किया है—

रतन रंग कवियन बुधि लई समी विचरी कथा वनई ।

गुनियन गुनां नरायन दास, तामहि रतन कियो परगास ॥५०४॥

२. त्रैमासिक आलोचना, अंक १६, पृ० ७१

वदनि जोति वै सति कर हरीं, मूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी ।
 हरे हरिण लोचन तैं नारि, ते मृग सेवैं भजौं ऊजारि ॥१४५॥
 जे गज कुम्भ तोहि कुच भए, ते गज देस दिसन्तर गए ।
 तैं केहरि मग स्थल हन्यौ, सो हरि प्रेह कदल नोसन्यौ ॥१४६॥
 दसन ज्योति ते दारिजैं भए, उदर फुटि तैं दारिजैं गए ।
 कमल घास लइ अग द्विबाइ, सजल नीर ते रहे लुकाई ॥१४७॥
 जइ तैं हरी हस की चाल, मलिन मान सर गए मराल ।
 होइ सन्त मानना मान, तजै देस कै छुडे जान ॥१४८॥

किया, सर्वनाम, परसर्ग सभी रूपों से द्विताई धाता की भाषा १५वीं शताब्दी की ब्रजभाषा की प्रतिनिधि कही जा सकती है ।

धेधनाथ

§ १९०. मानसिंह के शासन-काल में म्वाणियर ब्रजभाषा कवियों का केन्द्र हो गया था । धेधनाथ मानसिंह के दरबार से सीधे रूप से सम्बद्ध नहीं मालूम होते किन्तु उनके किसी राजपुरुष भानुकुँवर से इनका सम्बन्ध था । धेधनाथ के विषय में सर्वप्रथम सूचना राज रिपोर्ट (१९४४-४६) में प्रकाशित हुई^१ इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि शार्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक समग्र में सुरक्षित है । इस प्रति का लिपिकाल सवत् १७२७ ही मानना चाहिए क्योंकि यह प्रति सवत् १७२७ की चतुरदास कृत भागवत् एकादश स्कन्ध की प्रति के साथ ही लिपी हुई थी या बाद में जिल्द टूटने से अलग अलग हो गई । स्व० याज्ञिक जी ने लिखा है 'धेधनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल १७२७ विक्रमी मानना चाहिए कारण की चतुरदास कृत एकादश स्कन्ध की प्रति जो इसी जिल्द में थी, उसका लिपिकाल १७२७ है । दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं । देखो प्रति नम्बर २७८।५० । जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग-अलग हो गई हैं ।'^२

श्री धेधनाथ ने अपनी 'गीता भाषा' में रचनाकाल और आश्रयदाता के बारे में कुछ सनेत किया है । विक्रमी १५५७ अर्थात् इस्वी १५०० में यह ग्रन्थ लिखा गया—

पन्द्रह सौ सत्तावन भानु, गढ़ गोपाचल उत्तम धानु ।
 मानसीह विदि दुग्गा नरिन्दु, जसु अमरावति सोहै इन्दु ॥१॥
 नीत पुँज सौ गुन भागरी, वसुधा राधन को भवतारो ।
 जाहि होइ सारदा बुद्धि, कै बदा जाके हिय शुद्धि ॥२॥
 जाँभ अनेक सेस ज्यूँ धरै, सो धुत मान स्पध की करै ।
 जाकै राजधर्म की जीति, चलै लोक कुल मारग रीति ॥३॥

१. पुस्तक प्रकाशित होते होते सूचना मिली है कि डा० मातामसाद गुप्त द्वारा सम्पादित द्विताई धाता नागराप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो गई है

२. १९४४-४६ की रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित है

३. याज्ञिक समग्र, नागराप्रचारिणी सभा की प्रति के अन्त की दिष्पणी

यदनि जोति वै ससि कर हरीं, तूँ सुख क्यों पावहि सुन्दरी ।
 हरे हरिण लोचन तें नारि, ते मृग सेवैं भजौं जकारि ॥५४५॥
 जे गज उम्भ तोहि कुच भए, ते गज देस दिसन्तर गए ।
 तैं केहरि मम स्थल हन्यी, तो हरि गेह कदल भोस्यी ॥५४६॥
 दसन ज्योति ते दारिजैं भए, उदर कृति तें दारिजैं गए ।
 कमल वास लह अग द्विडाइ, सजल नीर ते रहे लुकाई ॥५४७॥
 जइ तैं हरी हस की चाल, मलिन मान सर गए मराल ।
 होइ सन्त माननो मान, तजै देस के छुडे जान ॥५४८॥

क्रिया, सर्वनाम, परसर्ग सभी रूपों से छित्ताई धाता की मापा १५वीं शताब्दी की ब्रजभाषा की प्रतिनिधि कही जा सकती है ।

धेयनाथ

§ १९०. मानसिंह के शासन-काल में ग्वाणियर ब्रजभाषा कवियों का केन्द्र हो गया था । धेयनाथ मानसिंह के दरबार से सीधे रूप से सम्बद्ध नहीं मालूम होते किन्तु उनसे किसी राज-पुरुष भानुद्वैवर से इनका सम्बन्ध था । धेयनाथ के विषय में सर्वप्रथम सूचना राज रिपोर्ट (१६४४-४६) में प्रकाशित हुई ।^१ इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि आर्यभाषा पुस्तकालय के याज्ञिक समग्र में सुरक्षित है । इस प्रति का लिपिकाल सवत् १७२७ ही मानना चाहिए क्योंकि यह प्रति सवत् १७२७ की चतुरदास कृत भागवत् एकादश स्कन्ध की प्रति के साथ ही लिखी हुई थी जो बाद में जिल्द टूटने से अलग-अलग हो गई । स्व० याज्ञिक जी ने लिखा है 'धेयनाथ कृत गीता अनुवाद का लिपिकाल १७२७ विक्रमी मानना चाहिए कारण की चतुरदास कृत एकादश स्कन्ध की प्रति जो इसी जिल्द में थी, उसका लिपिकाल १७२७ है । दोनों के लिपिकार एक ही व्यक्ति हैं । देखो प्रति नम्बर २७८।५० । जिल्द टूट जाने से दोनों पुस्तकें अलग-अलग हो गई हैं ।'^२

श्री धेयनाथ ने अपनी 'गीता भाषा' में रचनाकाल और आश्रयदाता के बारे में कुछ संकेत किया है । विक्रमी १५५७ अर्थात् इस्वी १५०० में यह ग्रन्थ लिखा गया—

पन्द्रह सौ सत्तावन आनु, गढ गोपाचल उत्तम धानु ।
 मानसोह तिदि दुग्गा नरिन्दु, जसु अमरावति सोहै इन्दु ॥५॥
 नीत हुँज सौ गुन आगरी, वसुधा राजन को अवतारो ।
 जाहि होइ सारदा बुद्धि, कै वक्ष्या जाके हिय शुद्धि ॥५॥
 जीभ अनेक सेस ज्यूँ धरै, सो धृत मान स्वय को करै ।
 जाके राजधर्म की जीति, चलै लोक कुल मारग रीति ॥६॥

१. पुस्तक प्रकाशित होते होते सूचना मिली है कि ६१० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित छित्ताई धाता नागराप्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हो गई है

२. १६४४-४६ की रिपोर्ट अभी तक प्रकाशित है

३. याज्ञिक समग्र, नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति के अन्त में टिप्पणी

चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५० विक्रमी के लगभग)

§ १६०. जनवरी सन् १९३६ की हिन्दुस्तानी में श्री अग्रचन्द्र नाट्य ने मधुमालती नामक दो अन्य रचनायें शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। मंभन की प्रसिद्ध मधुमालती से भिन्न दो अन्य रचनाओं का परिचय उक्त लेख में दिया गया। सितम्बर १९५४ की कल्पना में डा० माताप्रसाद गुप्त ने चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचना काल शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। डा० गुप्त ने अपने लेख में मधुमालती का रचना काल सवत् १५५० विक्रमी से प्राचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। डा० गुप्त ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्त के पद्यों से इस पुस्तक की रचना प्रतिया तथा तिथि आदि के विषय में कुछ सन्देह मिलते हैं। अन्तिम अंश इस प्रकार है।

मधुमालती बात यह गाई, दोय जणा मिलि स्नेह बनाई ।

एक साथ ब्राह्मन सोई, दूजौ कायय कुल में होई

एक नाव माधव बड़ होई, मनोहरपुरी जानत सब कोई

कायय नाम चतुर्भुज जाकौ, मारू देस भयी गृह तानी

पहली कायय कही जब जानी, पाड़े माधव उचरी शानी

कहु क थामै चरित गुरारी, श्री वृन्दावन कौ सुखकारी

माधव ता तैं गाइयो यों रस पूरन सोय

कौन फाम रस स्यों हु तौ जानत हैं सब कोय

काइयि गाई जानि कै रसक निरसि की बात

नाम चतुर्भुज हो भयी मारू मोंहि विख्यात ।

डा० गुप्त लिखते हैं कि 'हिन्दी सत्तार का माधव का उपहृत होना चाहिए कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि पहली कादय कही जब नानी पाड़े माधव उचरी शानी यही नहीं अन्तिम दोहे में यह शक्य भी कर दिया कि मधुमालती के उत्तरार्ध का यह रूपान्तर उन्होंने तब किया जब चतुर्भुज का नाम मारूदेश में विख्यात हो चुका था।' डा० गुप्त का कहना है कि माधवानल कामकन्दला नामक रचना के लेखक माधव वही माधव हैं जिन्होंने मधुमालती के उत्तरार्ध का रूपान्तर किया और चूँकि माधवानल कामकन्दला का निर्माण संवत् १६०० में हुआ जो निम्न पद से स्पष्ट है—

सवत् सोरै सै वरसि जैसलमेर मम्भारि ।

फागुन मास सुहावने करी बात विस्तारि ॥

'इससे यह निश्चित रूप से शत होता है कि माधव संवत् १६०० में न केवल वर्तमान ये, वे प्रेम कथाओं की रचना भी कर रहे थे, अतः यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि मधुमालती में उनके इरादों का समय संवत् १६०० था उसके अत्यन्त निकट होगा। उस समय तक, जैसा माधव ने कहा है चतुर्भुजदास विख्यात कवि हो चुके थे, उनका रचना काल १५५० विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है। डा० गुप्त इस ग्रन्थ को इससे भी अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं।

१. चतुर्भुज दास की मधुमालती का रचना काल, कल्पना, सितम्बर १९५४
पृ० २०-२१

चतुर्भुजदास की मधुमालती कथा (१५५० विक्रमी के लगभग)

§ १६०. जनवरी सन् १९३६ की हिन्दुस्तानी में श्री अगरचन्द नाह्य ने मधुमालती नामक दो अन्य रचनायें शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। मंभन की प्रसिद्ध मधुमालती से भिन्न दो अन्य रचनाओं का परिचय उक्त लेख में दिया गया। सितम्बर १९५४ की कल्पना में डा० माताप्रसाद गुप्त ने चतुर्भुजदास की मधुमालती का रचना काल शीर्षक लेख प्रकाशित कराया। डा० गुप्त ने अपने लेख में मधुमालती का रचना काल सवत् १५५० विक्रमी से प्राचीन प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। डा० गुप्त ने बताया है कि ग्रन्थ के अन्त के पद्यों से इस पुस्तक की रचना प्रक्रिया तथा तिथि आदि के विषय में कुछ सन्देह मिलते हैं। अन्तिम अंश इस प्रकार है।

मधुमालती बात यह गाई, दोय जणा मिलि स्नेह बनाई ।

एक साथ ग्राह्यन सोई, दूजी कायय कुल में होई

एक नाव माधव बड़ होई, मगोहरपुरी जानत सब कोई

कायय नाम चतुर्भुज जाकी, मारु देस मयी गृह ताकी

पहली कायय कही जब जानी, पाळे माधव उचरी बानी

कटु क यामै चरित मुरारी, श्री वृन्दावन कौ सुखकारी

माधव ता तैं गाइयो यों रस पूरन सोय

कौन काम रस स्यों हु सी जानत हैं सब कोय

काइथि गाई जानि कै रसक निरसि की बात

नाम चतुर्भुज ही भयी मारु मोंहि विषयात् ।

डा० गुप्त लिखते हैं कि 'हिन्दी सत्कार को माधव का उपकृत होना चाहिए कि उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि पहली काइथ कही जब बानी पाळे माधव उचरी बानी यही नहीं अन्तिम दोहे में यह संकेत भी कर दिया कि मधुमालती के उत्तरार्थ का यह रूपान्तर उन्होंने तब किया जब चतुर्भुज का नाम मारुदेश में विख्यात हो चुका था।' डा० गुप्त का कहना है कि माधवानल कामकन्दला नामक रचना के लेखक माधव वही माधव हैं जिन्होंने मधुमालती के उत्तरार्थ का रूपान्तर किया और चूँकि माधवानल कामकन्दला का निर्माण संवत् १६०० में हुआ जो निम्न पद से स्पष्ट है—

सवत् सोरै सै चरसि जैसलमेर मन्कारि ।

फागुन मास सुहावने करी बात विस्तार ॥

'इससे यह निश्चित रूप से हात होता है कि माधव सवत् १६०० में न केवल वर्तमान ये, वे प्रेम कथाओं की रचना भी कर रहे थे, अतः यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि मधुमालती में उनके इतने नए का समय सवत् १६०० था उसके अत्यन्त निकट होगा। उस समय तक, जैसा माधव ने कहा है चतुर्भुजदास विख्यात कवि हो चुके थे, उनका रचना काल १५५० विक्रमी के आस-पास माना जा सकता है। डा० गुप्त इस ग्रन्थ को इससे भी अधिक प्राचीन मानने के पक्ष में हैं।

१. चतुर्भुज दास की मधुमालती का रचना काल, कल्पना, सितम्बर १९५४
पृ० २०-२१

भाद्रो यदि तिथि पचमी, वार सोम नपत रेवती ।

चन्द्र नव्य वल्लु पाइयो, लगन भली सुभ उपजी मती ॥

रचना सामान्य ही है । भाषा ब्रज है ।

धर्मदास

§ १६४. जैन कवि थे । इन्होंने सन् १५७८ (१५२१ ईस्वी में) में धर्मोद्देश श्रावकाचार नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ लिखा । इस ग्रन्थ में जैन श्रावक लोगों के लिए पालनीय आचारों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । कवि ने अपने बारे में विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि वे बारहतेनी जाति के थे । अपने पूर्वपुरुषों का परिचय देते हुए लेखक ने लिखा है कि मूल सध विरूपात श्रावक बारहतेनी जाति में हेरिल साहु नामक पुरुष हुए । उनके ज्येष्ठ पुत्र क्रमस्ती जिन के परम उग्ररुक् और परमनिवेकी दयालु व्यक्ति थे । उनके पुत्र पद्म हुए जो कवि, वैद्य और कलाकार थे, उनके दो पुत्रों में एक धर्मदास हुए जिन्होंने इस श्रावकाचार का उपदेश दिया । प्रशस्ति संग्रह में इनकी रचना के कुछ अर्थ उद्धृत किये हुए हैं ।^१ ग्रन्थ की रचना के निषय में कवि ने लिखा है—

पन्द्रह सो अटहतरि वरिसु, सम्बद्धर कुचल्लह कन सरसु

निर्मल बैसाखी भखतांज, बुधवार गुनियहु जानांज

सादिन पूरो कियो यह ग्रन्थ, निर्मल धर्म भनौ जो पंथ

मंगल करु भरु विघनि हरनु, परम सुख कविपनु कहु करनु

ग्रन्थ में लेखक ने इस उपदेश सुनने वालों के प्रति अपनी मंगल कामना व्यक्त की है । यह प्रसंग धर्मदास की सहजता और जनमग्न की सदृच्छा का परिचायक है । भाषा अत्यन्त बोधगम्य और प्रवाहयुक्त है ।

घन कन दून पूत परिवार, बाडै मंगल सुपहु अपार

मेदिनि उपजहु अन्न अतन्त, चारि मास गरि जल वरपन्त

मंगल बाजहु घर घर द्वार, कामिनि गावहि मंगल चार

घर घर सात उपजहु सुखल, नासे रोग आपदा दुखल

घर घर दान पूज अनिवार, श्रावक चलहि आप आचार

नदड जिन सासन सत्तार, धर्म दयादिक चली अपार

नदड जिन पढिना जिन गेह, नदड शुन निर्ग्रन्थ अदेह

छोहल

§ १२५. १७वीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य एक ओर बर्ही सूर और तुल्सी जैसे अग्रतिम प्रतिभाशाली भक्त कवियों की गैरिक-वाणी से पवित्र होकर हमारा अन्न-भाजन बना बर्ही देव, विदारो और पद्माकर जैसे कवियों की शृङ्गारिक भावना पूर्ण रचनाओं के कारण सद्दय व्यक्तियों के गले का शर भी । बहुत से लोग रीतिकानी शृङ्गार-भाषना के साहित्य को

१. प्रशस्ति संग्रह, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित । पाण्डुलिपि आमेर मादार, जयपुर में सुरक्षित

भादो वदि तिथि पचमी, वार सोम नपत रेवती ।

चन्द्र नम्य वलु पाद्मी, लगन भली सुभ उपजा मती ॥

रचना सामान्य ही है । भाषा ब्रज है ।

धर्मदास

§ १६४. जैन कवि थे । इन्होंने सन् १५७८ (१५२१ ईस्वी में) में घमोरदेश श्रावकाचार नामक ब्रजभाषा ग्रन्थ लिखा । इस ग्रन्थ में जैन श्रावक लोगों के लिए पालनीय आचारों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । कवि ने अपने बारे में विस्तार से लिखा है जिससे मालूम होता है कि वे बाराहसेनी जाति के थे । अपने पूर्ण पुरुषों का परिचय देते हुए लेखक ने लिखा है कि मूल सप्त विख्यात श्रावक बाराहसेनी जाति में हरिल साहु नामक पुरुष हुए । उनके ज्येष्ठ पुत्र क्रमती जिन के परम उपासक और परमशिवेकी दयालु व्यक्ति थे । उनके पुत्र पद्म हुए वो कवि, वैद्य और कलाकार थे, उनके दो पुत्रों में एक धर्मदास हुए जिन्होंने इस श्रावकाचार का उपदेश दिया । प्रशस्ति संग्रह में इनकी रचना के कुछ अथ उद्धृत किये हुए हैं । ग्रन्थ की रचना के दिग्गम में कवि ने लिखा है—

पन्द्रह सो भट्टहतरि वरिसु, सम्बद्धर कुषलह कन सरसु
निर्मल वैसाखी भजतोड, बुधवार मुनियहु जानोड
तादिन पुरो कियो यह ग्रन्थ, निर्मल धर्म भनी जो पंथ
मगल कह भरु विघनि हरनु, परम सुख कवियनु कहु करनु

ग्रन्थ में लेखक ने इस उपदेश सुनने वालों के प्रति अपनी मंगल कामना व्यक्त की है । यह प्रसंग धर्मदास की सद्बुद्धि और बनमगल की सद्बुद्धि का परिचायक है । भाषा अत्यन्त बोधगम्य और प्रवाहयुक्त है ।

धन कन दूय पूत परिवार, बाडै मंगल सुपसु भवार
मेदिनि उपजहु भज अतन्त, चारि मास मरि जल वरपन्त
मगल वाजहु घर घर द्वार, कामिनि गावहि मगल चार
घर घर सीत उपजहु सुख, नासे रोग आपदा दुख
घर घर दान पूज अनिवार, श्रावक चलहि आप आचार
नदड जिन सासन ससार, धर्म दयादिक चलौ भवार
नदड जिन पढिना जिन गेह, नदड गुन निर्गन्थ अदेह

छीहल

§ १२५. १७वीं शताब्दी का हिन्दी साहित्य एक ओर बर्हौ छर और तुर्की जैसे अप्रतिम प्रतिभाशाली भक्त कवियों की शैरिकवाणी से पवित्र होकर हमारा भद्रा-भाजन बना वहीं देव, विदारों और पद्माकर जैसे कवियों की शृङ्गारिक भावना पूर्ण रचनाओं के कारण स्तब्ध व्यक्तियों के गले का शर भी । बहुत से लोग रीतिकालीन शृङ्गार-भाषना के साहित्य को

१. प्रशस्ति संग्रह, अतिशय क्षेत्र जयपुर से प्रकाशित । पाण्डुलिपि आमेर माहार, जयपुर में सुरचित

वस्तु को देखने से लेखक के जैन होने का अनुमान किया जा सकता है। बावनी के शुरू के कुछ छप्पया के प्रथम अक्षर से 'ॐ नम सिद्ध' बनता है, इससे भी लेखक के जैन होने का पता चलता है।

कु १६७. पंच सहेली के अन्तिम दोहों से मालूम होता है कि कवि ने इस रचना को १५७५ सवत् में लिखा—

सम्बत पनरह पचुहत्तरह पूनिम फायुन मास ।

पञ्च सहेली वरनवी, कवि छीहल परगास ॥६८॥

छीहल कवि का कुछ विस्तृत परिचय छीहल बावनी के अन्तिम छप्पय में दिया हुआ है—

चउरासी भागल्ल सइ शु पन्द्रह सम्बद्धर ।

सुकुल पखल अष्टमी मास कातिग गुरुवासर ॥

हिरदय उपनी बुद्धि नाम थी गुरु को लीन्हो ।

सारद तनइ पसाइ फवित सम्पूरण कीन्हो ॥

नालि गाव सिनाय सुतनु अगारवाल कुल प्रगट रवि ।

बावनी बसुधा विस्तरा कवि ककण छीहल्ल कवि ॥

बावनी की रचना १५८४ सवत् में हुई इस प्रकार 'सहेली' इससे ६ वर्ष पहले लिखी गई। कवि छीहल के अनुसार उनका जन्म स्थान नालि गाँव था। पिता शिवनाथ वे जो अग्रवाल वंशीय थे।

कवि छीहल की पंच सहेली आरम्भिक रचना मालूम होती है। कवि ने इस छोटे किन्तु अत्यन्त उच्चकोटि के सरस काव्य में पाँच विरहिणी नायिकाओं की भर्माव्यथा को अत्यन्त सद्गद दृग् से व्यक्त किया है। मालिनी, तनोलिनी, छीपनि, कलाली और सोनारिन अपनी अपनी विरह व्यथा कवि को सुनाती हैं। ये मोली नायिकाएँ अपने दुःख को अपने जीवन की सुपरिचित वस्तुओं तथा उनके प्रति अपने रागात्मक-बोध के माध्यम से प्रकट करती हैं। जैसे मालिनी अपने दुःख को इन शब्दों में व्यक्त करती है—

पहिली बोली मालिनी हम कू दुखल अनन्त ।

बालो जोवन छुटि के चलो दिसाउरि कत ॥१७॥

निस दिन बहइ प्रनाल ज्युं नयनइ नौर अपार ।

विरहउ मालां दुखल का सुभर भया कियार ॥१८॥

कमल बदन कुमलाइया सूकां सुप बनराइ ।

पिय विण मुझ इवकु पिण बरस बरापर जाइ ॥१९॥

चपा केरी पखरी गूथ्या नवसर हार ।

जो एहि पहिरउं पाव बिनु लागइ अगु अगार ॥२०॥

तनोलिनी कहती है कि हे चतुर, मेरा दुःख तो मुझसे कहा ही नहीं जाता—

हाथ मरोरउ सिर धुनउ किस सो कहूँ पुकार ।

तन दाफइ मन कलमलइ नयन न खइइ धार ॥२५॥

पान ऋयें सब सूख कै बेलि गई सत्र सूकि ।

दूभरि रात बसत की गयो पियारा मूकि ॥२६॥

बलु को देखने से लोखक के जैन होने का अनुमान किया जा सकता है। बावनी के शुरू के कुछ छप्पया के प्रथम अक्षर से 'ॐ नमो सिद्ध' बनता है, इससे भी लोखक के जैन होने का पता चलता है।

कु १६७. पंच सहेली के अन्तिम दोहों से मान्य होता है कि कवि ने इस रचना को १५७५ सवत् में लिखा—

सम्बत पनरह पञ्चहत्तरह पूनिम फागुन मास ।

पञ्च सहेली वरनवी, कवि छीहल परमास ॥६८॥

छीहल कवि का कुछ विस्तृत परिचय छीहल बावनी के अन्तिम छप्पय में दिया हुआ है—

चउरासी आगल्ल सइ जु पन्द्रह सम्बच्छर ।

सुहुल पखल भट्ठी मास कातिग गुरुवासर ॥

हिरदय उपनी बुद्धि नाम धी गुरु को लोन्हो ।

सारद तनइ पसाइ कवित सम्पूरण कीन्हो ॥

नालि गाव सिनाथ सुतनु भगरवाल कुल प्रगत रवि ।

बावनी बसुधा विस्तरी कवि ककण छीहल्ल कवि ॥

बावनी की रचना १५८४ सवत् में हुई इस प्रकार 'सहेली' इससे ६ वर्ष पहले लिखी गई। कवि छीहल के अनुसार उनका जन्म स्थान नालि गाँव था। पिता शिवनाथ थे जो अग्रवाल वंशीय थे।

कवि छीहल की पंच सहेली आरम्भिक रचना मान्य होती है। कवि ने इस छोटे किन्तु अत्यन्त उच्चकोटि के सरस काव्य में पाँच विरहिणी नायिकाओं की मर्मव्यथा को अत्यन्त सहज ढंग से व्यक्त किया है। मालिन, तंबोलिनी, छीपनि, कलाली और सोनारिन अपनी अपनी विरह व्यथा कवि को सुनाती हैं। ये भोली नायिकाएँ अपने दुःख को अपने जीवन की सुपरिचित वस्तुओं तथा उनके प्रति अपने रागात्मक-बोध के माध्यम से प्रकट करती हैं। जैसे मालिन अपने दुःख को इन शब्दों में व्यक्त करती है—

पहिलो बोली मालिनी हम कू दुखल अनन्त ।

बालो जीवन छुटि के चलो दिसाउरि कत ॥१७॥

निस दिन बहइ प्रवाल युं नयनह नीर अपार ।

विरहउ माली दुखल का सुभर भरवा कियार ॥१८॥

कमल बदन कुमलाइया सूकी सुप बनराइ ।

पिय विण मुक इवकु पिय वरत बराबर जाइ ॥१९॥

चपा केरी पखरी गूथ्या नवसर हार ।

जो एहि पहिरउं पाव विनु लागइ भगु अगार ॥२०॥

तंबोलिनी कहती है कि हे चतुर, मेरा दुःख तो मुझसे कहा ही नहीं जाता—

हाथ मरोउ सिर धुनउ किस सो कहुँ पुकार ।

तन दामह मन कलमलह नयन न खडइ धार ॥२५॥

पान कयें सब सूख कै बेलि गई सत्र सूकि ।

दुभरि रात बसत की गयो पिपारा मूकि ॥२६॥

- (१) पंच सहेली की बात (नम्बर ७८, छंद सख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपि-काल १७१८ स०) ।
- (२) पंचसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७ ७६) ।
- (३) पंचसहेली की बात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ संस्कृत श्लोक भी दिए हुए हैं ।
- (४) पंचसहेली की बात (नम्बर ७७) पत्र ६८ १०२ । लिपिकाल १७४६ स० ।

इन प्रतियों में ७८ नम्बर वाली और ७७ नम्बर वाली प्रतियों की भाषा ब्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है । आमेर भांडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है । इसे श्रिक्रिां की विशेषता मान सकते हैं । वैसे कई प्रतियां में राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि पंच सहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित ब्रजभाषा है । राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न > ण में तथा भूतनायक क्रिया के आकारान्त रूपों में दिखाई पड़ता है । सुराइया (४८) काव्या (५६) बीटिया (३३) कुमलाइया (१६) आदि में । किसी किसी प्रति में ये ही क्रियाएँ ओकारान्त भी दिखाई पड़ती हैं । प्रथमा बहुवचन में 'या' अन्त वाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं । सहेलियाँ (६), प्रवालियाँ (१२) यौवनवालियाँ (१३) आदि । बाकी प्रयोग पूर्णतः ब्रजभाषा के ही हैं ।

बावनी

§ ११८. कवि लोहल की बावनी भाषा और भाव दोनों के परिभाषक का उत्तम उदाहरण है । नीति और उपदेश को मुख्यतः विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी काव्य से दूर नहीं हुआ है इसलिए प्रायः उसकी कविता में नीति की एक नए दग से तथा नए भावों के साथ अभिव्यक्ति हुई है । रचना के अर्थ परिशिष्ट में सलग हैं । इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

लौह कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि ।
 करि रासभ आरूढ धरि आनियो गूण भरि ॥
 देकरि लस प्रहार मूढ गदि चह चढ़ायो ।
 पुनरपि हाथहिं कूट धूप धरि अधिक सुखायो ॥
 दोनो भगिनि लोहल कहै कुभ कहै हउँ सखीं सख ।
 पर तरंगि याइ टकराहणे ये दुखसालै मोंहि अब ॥

बावनी की रचना छप्पय छन्द में हुई है इसी कारण इसकी भाषा में प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं । हम पहले ही कह आये हैं कि छप्पयों में अपभ्रंश के प्रयोगों को जान बूझकर लाने की शैली ही बन गई थी जो बहुत बाद तक चन्ती रही । भाषा ब्रज है, आगे बावनी की भाषा पर सयुक्त रूप से विचार किया गया है ।

- (१) पंच सहेली री बात (नम्बर ७८, छंद सख्या ६६, पत्र १६-२२ लिपि-काल १७१८ स०) ।
- (२) पंचसहेली (नम्बर १४२, पृ० ६७ ७६) ।
- (३) पंचसहेली री बात (नम्बर २१७) अन्त में कुछ सत्कृत श्लोक भी दिए हुए हैं ।
- (४) पंचसहेली री बात (नम्बर ७७) पत्र ६८ १०२ । लिपिकाल १७४६ स० ।

इन प्रतियों में ७८ नम्बर वाली और ७७ नम्बर वाली प्रतियों की भाषा व्रजभाषा के निकट है जब कि नम्बर २१७ और १४२ में राजस्थानी प्रभाव ज्यादा है। आमेर भांडार की प्रतिलिपि में भी राजस्थानी प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इसे शक्तियों की विशेषता मान सकते हैं। वैसे कई प्रतियां में राजस्थानी प्रभाव को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि पंच सहेली की भाषा राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा है। राजस्थानी प्रभाव विशेष रूप से न० ७८ में तथा भूतनाथिक निया के आकारान्त रूपों में दिखाई पड़ता है। जुगइया (४८) काठ्या (५६) बीठिया (३३) कुमलाइया (१६) आदि में। किसी किसी प्रति में ये ही क्रियाएँ ओकारान्त भी दिखाई पड़ती हैं। प्रथमा बहुवचन में 'या' अन्त वाले रूप भी राजस्थानी प्रभाव ही बताते हैं। सहेलियाँ (६), प्रवालियाँ (१२) यौवनवालियाँ (१३) आदि। बाकी प्रयोग पूर्णतः व्रजभाषा के ही हैं।

वावनी

§ १९८. कवि छोदल की वावनी भाषा और भाव दोनों के परिष्कार का उत्तम उदाहरण है। नीति और उपदेश को मुख्यतः विषय बनाते हुए भी रचनाकार कभी भी कान्ध से दूर नहीं हुआ है इसलिए प्रायः उसकी कविता में नीति की एक नए टग से तथा नए भावों के साथ अभिव्यक्ति हुई है। रचना के अर्थ परिशिष्ट में सलग हैं। इसलिए केवल एक छप्पय ही यहाँ उद्धृत किया जाता है—

छोदल कुदाली हाथ प्रथम खोदियउ रोस करि ।
 करि रासभ आरूढ घरि आनियो गूण भरि ॥
 देखरि लक्ष प्रहार मूढ गहि चल चढ़ायो ।
 पुनरपि हाथहि कूट धूप परि अधिक सुखायो ॥
 दांनो अग्नि झाँहल कहै कुभ कहै हउँ सहाँ सब ।
 पर तरंगि याइ टकराहणे ये दुखसालै मोंहि भव ॥

वावनी की रचना छप्पय छन्द में हुई है इसी कारण इसकी भाषा में प्राचीन प्रयोग ज्यादा मिलते हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि छप्पयों में अपभ्रंश के प्रयोगों को जान बूझकर लाने की शैली ही बन गई थी जो बहुत बाद तक चन्ती रही। भाषा व्रज है, आगे वावनी की भाषा पर सयुक्त रूप से विचार किया गया है।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

§ २००. गुरुग्रन्थमें १६०० स० के पूर्व के कई सन्त-कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। सन्त-वाणी धार्मिक भारत देश के लिए अत-बल की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है। इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियों पंथियों में लिखी रचनाओं की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायु रही हैं, वहाँ नित प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर में परिवर्तन और विकार भी कम नहीं आया है। सौभाग्यवश सवत् १६६१ में सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियों को निषिद्ध कराकर इन्हें धर्म ग्रन्थ का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रीति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गईं। इन सन्तों की रचनाओं की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल-श्रुति का प्रभाव तो अवश्य ही पडा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है।

गुरुग्रन्थ साहज में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियों की रचनाएँ सृष्टि हैं, उनमें बयदेव, नामदेव, दिलोचन, सघना, बेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, परीद, नानक और मीरा का नाम सम्मिलित है। इन कवियों की रचनाओं पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियों का मूल्यांकन हुआ है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगों की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकीर्ण और म्यून। इन कवियों की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था की सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है। नीचे इन कवियों के अत्यन्त सक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओं, विशेषतः भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

गुरुग्रन्थ में ब्रजकवियों की रचनाएँ

§ २००. गुरुग्रन्थमें १६०० स० के पूर्व के कई सन्त-कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। सन्त-वाणी धार्मिक भारत देश के लिए अत्र-वल्ल की तरह ही अत्यन्त आवश्यक वस्तु रही है। इसी कारण एक ओर जहाँ अनन्त जनता के कण्ठ में निवसित ये वाणियाँ फोथियों में लिखी रचनाओं की अपेक्षा ज्यादा दीर्घायु रही हैं, वहीं नित प्रति प्रयोग में आने के कारण इनके कलेवर में परिवर्तन और विकार भी कम नहीं आया है। सौभाग्यवश सवत् १६६१ में सिक्खों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने इन वाणियों को लिपिबद्ध कराकर इन्हें धर्म ग्रन्थ का एक हिस्सा बना दिया, जिसके कारण कुछ रचनाएँ जनता के 'प्रीति भाजन' के अतिवादी परिणाम से बच गईं। इन सन्तों की रचनाओं की भाषा १६६१ तक जिस स्थिति में पहुँची थी, उसपर बीच की काल-व्याप्ति का प्रभाव तो अवश्य ही पड़ा होगा, फिर भी इनकी प्राचीनता के प्रति कुछ आस्था तो हो ही सकती है।

गुरुग्रन्थ सहज में निश्चित काल-सीमा के अन्तर्गत आविर्भूत, जिन कवियों की रचनाएँ संग्रहीत हैं, उनमें जयदेव, नामदेव, दिलोचन, सधना, बेनी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, परीद, नानक और मीरा का नाम सम्मिलित है। इन कवियों की रचनाओं पर अब तक बहुत कुछ लिखा जा चुका है। साहित्यिक दृष्टि से इनकी कृतियों का मूल्यांकन हुआ है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध लोगों की भाषा पर भी यत्र-तत्र विचार मिलते हैं, यद्यपि बहुत विकीर्ण और म्यून। इन कवियों की भाषा आरम्भिक हिन्दी की अविकसित अवस्था की सूचना देती है, जिनमें कई प्रकार के तत्व मिश्रित हुए हैं, उनका सम्यक् विवेचन आवश्यक है। नीचे इन कवियों के अत्यन्त सक्षिप्त परिचय के साथ इनकी रचनाओं, विशेषतः भाषा का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

प्रायः ब्रह्म की निराकार भावस्थिति, पारसंख खंडन, शास्त्र वेद की असमर्थता, साधु के पक्कड़ जीवन की महत्ता सम्बन्धी कविताएँ इसी रेखता शैली में चरती हैं, किन्तु भावपूर्ण सदन भक्ति की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पड़ती हैं। नामदेव ने कई रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में लिखीं। इन रचनाओं की ब्रजभाषा प्रगुम्न चरित, हरीचंद्रपुराण आदि की भाषा की तरह काफी पुरानी प्रतीत होती है। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

१—बदहु किन होड माघउ मोसिउ

ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुर पेल परिउ है तोसिउ

आपन देउ देहुरा आपन भाष लगावै पूजा

जल ते तरग तरग ते जलु है कहन सुनन को दूजा ॥१॥

आरहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तुरा

कहत नामदेउ तू मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥२॥

२—मैं बडरां मेरा राम भतरु रचि रचि ताऊउ करउ सिंगार

भले निंदउ भले निंदउ भले निंदउ लोग ।

सन मनु राम पियारे जोगु ॥१॥

बाद विवाद काहु सिउ न काँजै, रमना राम रसाइनु पाँजै ।

अथ जीभ जानि ऐसी बनिआई, मिलउ गुपाल निसान बजाई ॥३॥

उस तति निन्दा बरे नरु कोई, नामे श्री रगु भेटल सोई ॥४॥

§ २०२. इन पदों की भाषा पूर्णतः ब्रज है। इसमें प्राचीन ब्रज के प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। माघउ > माघों, मो सिउ > मो सों, परिउ > पर्यो, तोसिउ > तो स्या, सुनन कउ > सुनन कौ, करउ > कर्ये, निंदउ > निंदों में उद्धृत स्वरों की सुरक्षा, सिउ, कउ आदि परसगों के पुराने रूप इस भाषा की प्राचीनता के प्रमाण हैं। सन्देशरासक की भाषा में न > उ को परवता शीरसेनी अपभ्रंश की ब्रजोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक बताया गया है (देखिये सन्देशरासक § ३३) नामदेव की भाषा में बडरी < वाहुल < व्याहुल, नामदेउ < नामदेव, देउ < देव, माघउ < माघव आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियापद, सर्वनाम (ताऊउ, मोसिउ, मेरो) तथा वाक्यविन्यास सब कुल ब्रजभाषा के वास्तविक रूप की सूचना देते हैं।

नामदेव की कृतियों में मरठठी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है, त्वान तौर से रेखता शैली की अथवा पुरानी राजस्थानी शैली की रचनाओं में यह प्रवृत्ति झलकती है, किन्तु ब्रजभाषा वाली रचनाओं में यह प्रभाव कम से कम दिखाई पड़ता है। यह ब्रजभाषा के विनाश और उसके सुनिश्चित रूपकी स्थिरता का भी संकेतक है।

§ २०३. त्रिलोचन—महाराष्ट्र के सन्त कवि त्रिलोचन के जीवन वृत्त की कोई सविस्तर सूचना नहीं मिलती। जे० एन० फर्गुहर के मतानुसार इनका जन्म १३२४ ईस्वी में हुआ, पडरपुर में रहते थे। नामदेव के समकालीन थे। त्रिलोचन और नामदेव के आधा-

प्रायः ब्रह्म की निराकार भावस्थिति, पारसंड खडन, शास्त्र वेद की असमर्थता, साधु के पङ्कड जीवन की महत्ता सम्बन्धी कविताएँ इसी रेखता शैली में चलती हैं, किन्तु भावपूर्ण सहज भक्ति की रचनाएँ ब्रजभाषा में ही दिखाई पडती हैं। नामदेव ने कई रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में लिखीं। इन रचनाओं की ब्रजभाषा प्रमुन्न चरित, हरीचंद्रपुराण आदि की भाषा की तरह काफी पुरानी प्रतीत होती है। दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

१—बदहु कित होड माघड मोसिड

ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुर पेल परिड है तोसिड

भापन देड देहुरा आपन आप लगावै पूजा

जल ते तरग तरग ते जलु है कहन सुनन को दूजा ॥१॥

भापहि गावै आपहि नाचै आप बजावै तुरा

कहत नामदेड तू मेरो ठाकुर जनु ऊरा तू पूरा ॥२॥

२—मैं बडरी मेरा राम भतरु रचि रचि ताऊड करड सिंगार

भले निंदड भले निंदड भले निंदड ल्योग ।

तन मनु राम पियारे जोगु ॥१॥

बाद विवाद काहु सिड न कोजै, रमना राम रसाइनु पांजै ।

अब जीअ जानि ऐसी बनिआई, मिलड गुपाल निसान बजाई ॥३॥

उस तति निन्द्रा बरे नरु कोई, नामे श्री रगु मेडल सोई ॥४॥

§ २०२. इन पदों की भाषा पूर्णतः ब्रज है। इसमें प्राचीन ब्रज के प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में दिखाई पडते हैं। माघड > माघों, मां सिड > मां सीं, परिड > पर्यो, तोसिड > तो स्यां, सुनन कड > सुनन कौं, करड > करों, निदड > निदों में उद्धृत स्वरों की सुरक्षा, सिड, कड आदि परसगों के पुराने रूप इस भाषा की प्राचीनता के प्रमाण हैं। सन्देशरासक की भाषा में व > उ की परवता शीरसेनी अपभ्रंश की ब्रजोन्मुखी प्रवृत्ति का सूचक बताया गया है (दिएये सन्देशरासक § ३३) नामदेव की भाषा में बडरी < बाहुल < व्याहुल, नामदेड < नामदेव, देड < देव, माघड < माघव आदि इसके उदाहरण हैं।

क्रियापद, सर्वनाम (ताऊड, मोसिड, मेरो) तथा वाक्यविन्यास सब कुछ ब्रजभाषा के वास्तविक रूप की सूचना देते हैं।

नामदेव की कृतियों में मराठी प्रभाव भी दिखाई पडता है, खाम तौर से रेखता शैली की अथवा पुरानी राजस्थानी शैली की रचनाओं में यह प्रवृत्ति झलकती है, किन्तु ब्रजभाषा वाली रचनाओं में यह प्रभाव कम से कम दिखाई पडता है। यह ब्रजभाषा के विनास और उसके सुनिश्चित रूपकी स्थिरता का भी संकेतक है।

§ २०३. त्रिलोचन—महाराष्ट्र के उन्नत कवि त्रिलोचन के जीवन वृत्त की कोई सविस्तर सूचना नहीं मिलती। जे० एन० फर्गुहर के मतानुसार इनका जन्म १३२४ ईस्वी में हुआ,^१ पडरपुर में रहते थे। नामदेव के समकालीन थे। त्रिलोचन और नामदेव के आध्या-

प्राकृत पिंगलम् के एक पद की भाषा देखिये—

जिण वंभ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्टिहि दंतिहि ठाड धरा ।

रिडवच्च वियारे छलत्तणु धारे वंधिभ सत्तु सुरज्ज हरा ॥

कुल खत्तिव कप्पे ददमुह तप्पे कंसभ केसि विणास करा ।

करुणा पयले मेव्हह विभले सो देउ परायण सुहह वरा ॥

(प्राकृत पिंगलम् २०७।५७०)

जयदेव के गीतगोविन्द के दशावतार वाले श्लोक से इस पद का अन्वयः साम्य हम पहले ही दिखा चुके हैं । जयदेव के गीतगोविन्द के परवर्ती काल में कई अनुवाद हुए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने गीतगोविन्द का पिंगल अवदष्ट में अनुवाद किया होगा किन्तु अन्वय तो प्राकृत पिंगलम् का रचनाकाल १४०० के बाद नहीं खींचा जा सकता, दूसरे अनुवाद में यह सहजता, यह भाषा-शक्ति कम दिखाई पड़ती है । जो भी हो प्राकृत पिंगलम् के कृष्ण लीला सम्बन्धी पद, गीतगोविन्द से उनका पूर्ण साम्य, गुरु ग्रन्थ साहब के जयदेव भणित्तसे युक्त दो पद तथा उनकी भाषा से प्राकृतपिंगलम् की भाषा का इतना सादृश्य—इस बात के अनुमान के लिए कम आधार नहीं है कि संस्कृत के प्रसिद्ध गीतकार जयदेव ने कुछ कवितायें प्रारम्भिक मत्रभाषा अथवा पिंगल अपभ्रंश में भी लिखी थीं ।

जयदेव के रचनाकाल के विषय में अब भी अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है । जयदेव का सम्बन्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है जिनका शासनकाल ११७६-१२०५ ईस्वी माना जाता है । भागवत की (दशम स्कंध ३२।८) भावार्थ-दीपिका की वैष्णवतोषिणी टीका से विदित होता है कि उक्त लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव, उमापतिधर के साथ रहते थे ।^१ जयदेवने गीतगोविन्द में जिन कवियों की चर्चा की है उनमें उमापतिधर का भी नाम आता है :

वाचः पद्मवयुमापतिधरः सन्दभंशुद्धिं गिरां

जानीते जयदेव एव शरगः श्लाघ्यो दुरुहदतः ।

शृगारोत्तरसम्प्रेयरचनैराचार्यगोवर्धनः

स्पर्धां कोऽपि न विभ्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः उमापतिः ॥

(गीत० १।४)

इस श्लोक में आये कवियों का सम्बन्ध भी सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है ।^३ कुछ लोग जयदेव को उडीसानरेश कामार्णवदेव (११६६-१२१२ ईस्वी) तथा राजा पुरुषोत्तमदेव (१२२७-३७ ईस्वी) का समसामयिक मानते हैं । इन तथ्यों के आधार पर हम जयदेव को विक्रमी १३ वीं शताब्दी के अन्त का कवि मान सकते हैं ।

१. राग मारु, गुरुग्रन्थ साहब, पद १, पृ० ११०४, तरन तारन सस्करण ।

२. श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मणसेनमत्रिवरेणोमापतिधरेण सहः

(दशम स्कन्ध ३२।८ की टीका)

३. रजनीकान्त गुप्त, जयदेव चरित, हिन्दी, बॉकीपुर १८१० पृ० १२

प्राकृत पैंगलम् के एक पद की भाषा देखिये—

जिण वेंभ धरिज्जे महियल लिज्जे पिट्टिहि दंतिहिं ठाउ धरा ।

रिउवच्च वियारे छलत्तणु धारे वंधिभ सत्तु सुरज्ज हरा ॥

कुल खत्तिय कप्पे दहमुह तप्पे कंसभ केसि विणास करा ।

कट्ठा पयले भेज्जह विअले सो देउ परायण तुग्ग वरा ॥

(प्राकृत पैंगलम् २०७।५७०)

जयदेव के गीतगोविन्द के दशावतार वाले श्लोक से इस पद का अन्वयः साम्य हम पहले ही दिखा चुके हैं । जयदेव के गीतगोविन्द के परवर्ती काल में कई अनुवाद हुए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने गीतगोविन्द का पैंगल अन्वय में अनुवाद किया होगा किन्तु अन्वय तो प्राकृत पैंगलम् का रचनाकाल १४०० के बाद नहीं खींचा जा सकता, दूसरे अनुवाद में यह सद्भजता, यह भाषा-शक्ति कम दिखाई पड़ती है । जो भी हो प्राकृत पैंगलम् के कृष्ण लीला सम्बन्धी पद, गीतगोविन्द से उनका पूर्ण साम्य, गुरु ग्रन्थ साहब के जयदेव भणित-से युक्त दो पद तथा उनकी भाषा से प्राकृतपैंगलम् की भाषा का इतना सादृश्य-इस बात के अनुमान के लिए कम आधार नहीं है कि संस्कृत के प्रतिष्ठित गीतकार जयदेव ने कुछ कवितायें प्रारम्भिक प्रजभाषा अथवा पैंगल अपभ्रंश में भी लिखी थीं ।

जयदेव के रचनाकाल के विषय में अब भी अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है । जयदेव का सम्बन्ध सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है जिनका शासनकाल ११७६-१२०५ ईस्वी माना जाता है । भागवत की (दशम स्कन्ध ३२।८) भाषार्थ-दीपिका की वैष्णवतोषिणी टीका से विदित होता है कि उक्त लक्ष्मणसेन के दरबार में जयदेव, उमापतिधर के साथ रहते थे । जयदेवने गीतगोविन्द में जिन कवियों की चर्चा की है उनमें उमापतिधर का भी नाम आता है :

वाचः पद्मवयुमापतिधरः सन्दभंशुद्धि गिरां

जार्नात्ते जयदेव एव शरगः शलाघ्यो दुरुहदतः ।

शृंगारोत्तरसध्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनः

स्पर्धी कोऽपि न विभ्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविः दनापतिः ॥

(गीत० १।४)

इस श्लोक में आये कवियों का सम्बन्ध भी सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन से जोड़ा जाता है । कुछ लोग जयदेव को उडीसानरेश कामार्णवदेव (११६६-१२१३ ईस्वी) तथा राजा पुरुषोत्तमदेव (१२२७-३७ ईस्वी) का समसामयिक मानते हैं । इन तर्कों के आधार पर हम जयदेव को विक्रमी १३ वीं शताब्दी के अन्त का कवि मान सकते हैं ।

१. राग मारू, गुरुग्रन्थ साहब, पद १, पृ० ११०४, तरन तारन सस्करण ।

२. श्री जयदेव सहचरेण महाराज लक्ष्मणसेनमत्रिवरेणोमापतिधरेण सहः

(दशम स्कन्ध ३२।८ की टीका)

३. रजनीकान्त गुप्त, जयदेव चरित, दिल्ली, बॉकीपुर ६८१० पृ० १२

रूप, फिर भी यह भाषा १५ वीं शती के बाद की नहीं है। भाषा ब्रज ही है, रेखता-शैली की यत्किचित् छाप भी दिखाई पड़ती है।

§ २०६. सधना—संत सधना के बारे में प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई प्रामाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इनका जन्म सेद्वान (सिंध) में हुआ था। मेकलिफ ने लिखा है कि नामदेव और शानदेव की तीर्थयात्रा के सिलसिले में संत सधना से एलौरा की कदरा के निकट मुलाकात हुई थी।^१ इस आघार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे नामदेव के समकालीन थे अतः इनका आविर्भाव काल भी १४ वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। सधना जाति के कसाई थे, माम बेचना पुरतैनी पेशा था, किन्तु इस निकृष्ट कर्म के पंक से उनकी आत्मा कभी कलंकित न हुई। गुरु ग्रन्थ में उनका एक ही पद मिलता है, जो नीचे दिया जाता है।^२

नृप कनिया कै कारने इकु भइया वेपधारां ।
 कामारयां सुआरयां वाकी पेंज सँवारी ॥१॥
 सब गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै ।
 सिंह सरन कत जाइये जउ जंतुक भासै ॥२॥
 एक बूँद जल कारने चात्रिक रुप पावै ।
 मान राये सागर मिलै फुनि काम न आवै ॥३॥
 मान जो याके धिरु नहीं कैसे विरमावउं ।
 बूँदि सुवै नउका मिलै कहु क्हाहि चदावउं ॥४॥
 मैं नाहीं कहु इउं नहीं किहु भाहि न मोरा ।
 अउसर लजा राखि लेउ सधना जनु तोरा ॥५॥

भाषा प्राचीन है। नामदेव की भाषा की तरह इसमें भी प्राचीन ब्रज के कई चिह्न दिखाई पड़ते हैं। अउ>ओ, नउवा>नौका, विरमावउ>विरमावौ, चदावउ>चदावौ आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

§ २०७ रामानन्द—उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के संस्थापक रामानन्द का स्थान अप्रतिम है। रामानन्द के जीवन वृत्त सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं होती। परवर्ती कवियों और उनके कुल्लेक शिष्यों की रचनाओं में इनकी चर्चा आती है जो ऐतिहासिक रूप प्रशंसामूलक अधिक है। रामानन्द स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे थे। डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि प्रत्येक शिष्य के लिए यदि ७५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाने तो रामानन्द का आविर्भाव काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है।^३ यद्यपि यह बहुत सही तरीका नहीं है क्योंकि साधुओं की शिष्य परम्परा में एक पीढ़ी के लिए ७५ वर्ष का समय बहुत ज्यादा मादूम होता है और इसमें अत्यधिक अनुमान की शरण लेनी पड़ती है, फिर भी १४वीं शती का अनुमान उचित ही है क्योंकि कुछ और प्रमाणों से इसकी

१. मैकलिफ : दि सिख रिलीजन भाग ६, पृ० ३२

२. रामा विलावल पद १, पृ० ८५८

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनरामक इतिहास, पृ० २२१

रूप, फिर भी यह भाषा १५ वीं शती के बाद की नहीं है। भाषा ब्रज ही है, रेखता-शैली की यत्किंचित् छाप भी दिखाई पड़ती है।

§ २०६. सधना—संत सधना के शरे में प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त कोई प्रामाणिक वृत्तान्त नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि इनका जन्म सेहवान (सिव) में हुआ था। मैकलिफ ने लिखा है कि नामदेव और शानदेव की तीर्थयात्रा के सिलसिले में संत सधना से एलौरा की बदरा के निकट मुलाकात हुई थी।^१ इस आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि वे नामदेव के समकालीन थे अतः इनका अविर्भाव काल भी १४ वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। सधना जाति के कसाई थे, मास बेचना पुरतैनी पेशा था, किन्तु इस निवृत्त कर्म के पंक से उनकी आत्मा कभी कलंकित न हुई। गुरु ग्रन्थ में उनका एक ही पद मिश्रता है, जो नीचे दिया जाता है।^२

गुप कनिया कै कारणे ह्यु भइया वेपपारों ।
 कामारयो सुभारयो धार्की पेंज सँवारी ॥१॥
 तत्र गुन कहा जगत गुरा जउ करमु न नासै ।
 सिंह सरन कत जाइये जउ जंजुक प्रासै ॥२॥
 एक बूँद जल कारणे चात्रिक दुप पावै ।
 प्राण गये सागर मिलै फुनि काम न आवै ॥३॥
 प्राण जो धाके धिर नहीं कैसे विरमावउं ।
 बूँद मुवै नउका मिलै कहु काहि चदावउं ॥४॥
 मैं नहीं कइ हउं नहीं किहु आहि न मोरा ।
 अउसर लजा राखि लेउ सधना जनु तोरा ॥५॥

भाषा प्राचीन है। नामदेव की भाषा की तरह इसमें भी प्राचीन ब्रज के कई चिह्न दिखाई पड़ते हैं। अउ > जो, नउका > नौका, विरमावउं > विरमावौ, चदावउं > चदावौ आदि इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

§ २०७ रामानन्द—उत्तर भारत में भक्ति-आन्दोलन के संस्थापक रामानन्द का स्थान अप्रतिम है। रामानन्द के जीवन वृत्त सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं होती। परवर्ती कविश्री और उनके कुल्लेक शिष्यों की रचनाओं में इनकी चर्चा आती है जो ऐतिहासिक कम प्रशंसामूलक अधिक है। रामानन्द स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में चौथे थे। डा० रामकृष्ण वर्मा ने लिखा है कि प्रत्येक शिष्य के लिए यदि ७५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाये तो रामानन्द का अविर्भाव काल चौदहवीं शताब्दी का अन्त ठहरता है।^३ यद्यपि यह बहुत सही तरीका नहीं है क्योंकि साधुओं की शिष्य परम्परा में एक पीढ़ी के लिए ७५ वर्ष का समय बहुत ज्यादा मादूम होता है और इसमें अत्यधिक अनुमान की शरण लेनी पड़ती है, फिर भी १४वीं शती का अनुमान उचित ही है क्योंकि कुल्ले और प्रमाणों से इसकी

१. मैकलिफ : दि सिल रिजोजन भाग ६, पृ० ३२

२. राग विलावल पद १, पृ० ८५८

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० २२१

चिन्तामणि, ज्ञान तिलक, सिद्धान्त पञ्चमात्रा, भगति जोग, रामायण आदि रचनायें संकलित की गई हैं। पुस्तक में १२० डा० पीताम्बरदत्त बडव्वाल के लिखे हुए कुछ महावपूर्ण लेख भी संग्रहित हैं। 'युग प्रवर्तक रामानन्द,' 'अध्यात्म्य,' 'रामानन्द सम्प्रदाय,' 'संस्कृत और हिन्दी रचनाओं की विचार परम्परा का समन्वय,' शीर्षक इन चार निबन्धों में डा० बडव्वाल ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ निर्गुण-वाच्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके सांस्कृतिक योगदान का विवेचन किया है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने 'स्वामी रामानन्द का जीवन चरित्र' में इन प्रसिद्ध आचार्य कवि के तिथिकाल तथा जीवन सम्बन्धी घटनाओं का सकेत देनेवाले सूत्रों का अध्ययन किया है।

इस पुस्तक में संकलित रामानन्द की उपर्युक्त रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। योग चिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि की भाषा मिश्रित एडो बोली के नजदीक है जबकि ज्ञान लीला, हनुमान् की आरती तथा पृ० ७ पर प्रकाशित एक पद आदि रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हरि चिनु जन्म वृथा खोयो रे ।

कहा भयो भति मान बड़ाई धन मद अंधमति सोयो रे ॥

भति उतंग तरु देपि सुहायो सँवल कुसुम सुवा सेयो रे ।

सोई फल पुत्र फलत्र विपै सु भति साँस धुनि-धुनि रोयो रे ॥

सुमिरन भजन साधु की संगति अंतरमन मैल न धोयो रे ।

रामानन्द रतन जम प्रासै धीपत पद गहे न जोयो रे ॥ (पृष्ठ ७)

ज्ञान लीला का आरम्भिक अंश इस प्रकार है—

मूरप तन धरि कहा कमायी, राम भजन चिनु जनम गमायी ।

राम भगति गति जौणा नार्हीं, भंङ्गू भूली धंधा मॉही ॥

मेरी मेरी करतो फिरियो, हरि सुमिरण तो कबू न करियो ।

नारी सेती बेह लगायी, कबहुँ हिरदै राम जहि भायी ॥

सुप माया सूँ परो पियारो, कबहुँ न सिवन्यो सिरजन हारो ।

स्वारथ माहि चहुँ दिसि ध्यायो, गोविंद को गुन कबहुँ न गायो ॥ (पृ० ६)

रामानन्द का निम्नलिखित पद गुणग्रन्थसे उद्धृत किया जाता है—

राग वसन्त

कत जाइयै रे घर लागो रंग मेरा चिनु न चलै भन भइउ पंगु ।

एक दिवस मन भई उमंग घसि चौआ चन्दन बहु सुगंध ।

पूजन चाली ब्रह्म ठाँइ, सो ब्रह्म बताइउ गुरु मन ही माँहि ॥१॥

जहाँ जाइये तँह जल पयान, तू परि रहिउ है सम समान ।

वेद पुरान सब देपे जोइ उहाँ तउ जाइयो जउ इहाँ न होइ ॥२॥

सतगुर मैं बलिहारी तोर जिनि सकल विकल भ्रम काटे मोर ।

रामानन्द सुभासी रमत वरम, गुरु का सवद काटै कोटि करम ॥३॥

रामानन्द की भाषा अत्यन्त सहज और पुष्ट है। भाषा की प्राचीनता का पता क्रिया-पदों को देखने से विदित होता है। भूत निष्ठा के रूप लागो > लाग्यौ (ब्रज) ओकारान्त है

चिन्तामणि, ज्ञान तिलक, सिद्धान्त पञ्चमाना, भगति जोग, रामायण आदि रचनायें सकलित की गई हैं। पुस्तक में २५० डा० पीताम्बरदत्त बडव्वाल के लिखे हुए कुछ महाव्यूर्ण लेख भी संगृहीत हैं। 'युग प्रवर्तक रामानन्द,' 'अध्यात्म्य,' 'रामानन्द सम्प्रदाय,' 'संस्कृत और हिन्दी रचनाओं की विचार परम्परा का समन्वय,' शीर्षक इन चार निबंधों में डा० बडव्वाल ने बड़ी सूक्ष्मता के साथ निर्गुण काव्य की वैचारिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए रामानन्द के व्यक्तित्व और उनके सांस्कृतिक योगदान का विवेचन किया है। डा० श्रीकृष्ण लाल ने 'स्वामी रामानन्द का जीवन चरित्र' में इन प्रसिद्ध आचार्य कवि के तिथिकाल तथा जीवन सम्बंधों पर गहनता का संकेत देनेवाले सूत्रों का अध्ययन किया है।

इस पुस्तक में सकलित रामानन्द की उपर्युक्त रचनाओं में दो प्रकार की भाषा पाई जाती है। योग चिन्तामणि, ज्ञान तिलक आदि की भाषा मिश्रित एण्डी बोली के नजदीक है जबकि ज्ञान लीला, हनुमान् की आरती तथा पृ० ७ पर प्रकाशित एक पद आदि रचनाओं की भाषा ब्रजभाषा है। नीचे हम दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

हरि विनु जन्म बृथा खोयो रे ।

कहा भयो अति मान बड़ाई धन मद अधमति सोयो रे ॥

अति उत्तम तरु देपि सुहायो सँवल हुसुम सुवा सेयो रे ।

सोई फल पुत्र कलत्र विपै सु अति साँस धुनि धुनि रोयो रे ॥

सुमिरन भजन साधु की संगति अतरमन मैल न धोयो रे ।

रामानन्द रतन जम त्रासै धीपत पद गहे न जोयो रे ॥ (पृष्ठ ७)

ज्ञान लीला का आरम्भिक अंश इस प्रकार है—

मूरुप तम घरि कहा कमायी, राम भजन विनु जन्म यमायी ।

राम भगति गति जौणी नाहीं, भदूँ भूली घधा मॉही ॥

मेरी मेरी करतो फिरियो, हरि सुमिरण तो कबू न करियो ।

नारी सेती मेह लगायी, कबहुँ हिरदै राम नहिँ भायी ॥

सुप माया सँ परो पियारो, कबहुँ न सिवन्यो सिरजन हारी ।

स्वारथ माहि चहुँ दिसि ध्यायो, गोविंद को गुन कबहुँ न गायी ॥ (पृ० ६)

रामानन्द का निम्नलिखित पद गुरुग्रन्थसे उद्धृत किया जाता है—

राग वसन्त

कत जाइये रे घर लागो रग मेरा चितु न चलै मन भइउ पगु ।

एक दिवस मन भई उमरा घसि चौभा चन्दन बहु सुगंध ।

पूजन चाली ब्रह्म टाइ, सो ब्रह्म बताइउ गुरु मन हा माहि ॥१॥

जहाँ जाइये तँह जल पथान, तू परि रहिउ है सम समान ।

वेद पुरान सब वेपे जोह उहाँ तउ जाइयोँ जउ इहाँ न होइ ॥२॥

सतगुर में बलिहारी सोर जिनि सकल निकल भ्रम कोटे मोर ।

रामानन्द सुभामी रमत वरम, गुरु का सवद काटे कोटि करम ॥३॥

रामानन्द की भाषा अत्यन्त सहज और पुष्ट है। भाषा की प्राचीनता का पता क्रिया पदों को देखने से विदित होता है। भूत निष्ठा के रूप लागो > लाग्यो (ब्रज) ओकारान्त है

मगध अर्थ लेकर बाबू साहब ने कबीर की भाषा में 'मैथिली' और विहारी बोलियों का प्रभाव हूँदने की कोशिश की। यदि पूरबी का अर्थ वे 'अवधी' मानते हैं तो फिर भोजपुरी क्यों नहीं? भोजपुरी तो विहारी भाषाओं में रखी भी जा सकती थी। वस्तुतः यह भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देने का बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है, हम उनके मत से सहमत हैं कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि यह खिचड़ी है।' डा० उदयनारायण तिवारी, डा० श्यामसुन्दर के इस निष्कर्ष को अत्यन्त महत्वहीन बताते हुए कबीर की 'पञ्चमेल' भाषा के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करते हैं। उनके मत से कबीर की मूल भोजपुरी में लिखी वाणी बुद्ध वचनों की तरह कई भाषाओं में अनूदित हो गई थी, इसीलिए उसमें इतने प्रकार की विविधता पाई जाती है। कबीर की भाषा की प्रासंगिक चर्चा करते हुए भोजपुरी भाषा के विवरण के सिलसिले में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि 'कबीर यद्यपि भोजपुरी इलाके के निवासी थे, किन्तु तत्कालीन हिन्दुस्तानी (हिन्दी) कवियों की तरह उन्होंने प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग किया, कभी-कभी अवधी का भी। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप भी झलक आता है किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में लिखते हैं तो ब्रजभाषा के तथा अन्य पश्चिमी भाषिक तत्व प्रायः दिखाई पड़ते हैं।' कबीर मत्तावलम्बी बीजक को बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। बीजक, उस ग्रन्थ को कहते हैं जो अतरालरहित परम सत्यसे भक्तजन का साक्षात्कार कराये। बीजक में आदि मंगल, रमैनी, शब्द, विप्रमतीसी, कहरा, बसन्त, चाचर, बेलि, त्रिरहुली, हिंडोला, साखी और 'सायर बीजक को पद' आदि रचनाएँ सम्मिलित हैं। बीजक सम्बन्धी विभिन्न जन-श्रुतियों और सम्प्रदाय प्रचलित कथाओं आदि का उचित विवेचन करने के बाद डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक तथ्य जान पड़ता है कि भगवानदास के शिष्य प्रशिष्यों ने कबीरदास की मृत्यु के दीर्घकाल के बाद उसे (बीजक को) प्रचारित किया। उसमें कुछ परवर्ती बातों का मिल जाना नितान्त असंभव नहीं है।^१ इस बीजक में कई प्रकार की भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव कम है जैसा कि कबीर ग्रन्थावली की रचनाओं में मिलता है, यह संभवतः बीजक के पूरब में सुरक्षित रहने अथवा लिखे जाने के कारण हुआ।

§ २१०. उपर्युक्त मतों के आधार पर कोई भी पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कबीर की भाषा वाकई 'पञ्चमेल' खिचड़ी है और तब यह भी सम्भव है कि इनके बीच

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६

२. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, तथा हिन्दी अनुसूचन वर्ष २ अंक २ में कबीर की भाषा शीर्षक निबन्ध

३. Kabir was an inhabitant of the Bhojpuria tract but following the practice of the Hindustani poets of the time he generally used Brajbhakha and occasionally Awadhi. His Brajbhakha at times betrays an eastern (Bhojpuria form) form here and there and when he employs his own Bhojpuria dialect, Brajbhakha and other western forms frequently show themselves. Origin and Development of the Bengali Language p. 99

४. कबीर के मूल वचन, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ६ अंक २, पृ० ११३

मगध अर्थ लेकर बाबू साहब ने कबीर की भाषा में 'मैथिली' और विहारी बोलियों का प्रभाव डूँटने की कोशिश की। यदि पूरबी का अर्थ वे 'अवधी' मानते हैं तो फिर भोजपुरी क्यों नहीं? भोजपुरी तो विहारी भाषाओं में रखी भी जा सकती थी। वस्तुतः यह भाषा सम्बन्धी निष्कर्ष देने का बहुत उपयुक्त तरीका नहीं है, हम उनके मत से सहमत हैं कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि यह खिचड़ी है।' डा० उदयनारायण तिवारी, डा० श्यामसुन्दर के इस निष्कर्ष को अत्यन्त महत्वहीन बताते हुए कबीर की 'पञ्चमेल' भाषा के लिए उत्तरदायी कारणों की खोज करते हैं। उनके मत से कबीर की मूल भोजपुरी में लिखी वाणी बुद्ध वचनों की तरह कई भाषाओं में अनूदित हो गई थी, इसीलिए उसमें इतने प्रकार की विविधता पाई जाती है।^१ कबीर की भाषा की प्रासंगिक चर्चा करते हुए भोजपुरी भाषा के विवरण के सिलसिले में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने लिखा कि 'कबीर यद्यपि भोजपुरी इलाके के निवासी थे, किन्तु तत्कालीन हिन्दुस्तानी (हिन्दी) कवियों की तरह उन्होंने प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग किया, कभी-कभी अवधी का भी। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप भी झलक आता है किन्तु जब वे अपनी बोली भोजपुरी में लिखते हैं तो ब्रजभाषा के तथा अन्य पश्चिमी भाषिक तत्व प्रायः दिखाई पड़ते हैं।^२ कबीर मलावलम्बी बीजक को बहुत प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। बीजक, उस ग्रन्थ को कहते हैं जो अतरालस्थित परम सत्यसे भक्तजन का साक्षात्कार कराये। बीजक में आदि मंगल, रमैनी, शब्द, विप्रमतीसी, कन्हारा, बसन्त, चाचर, बेलि, त्रिहुली, हिंडोला, साली और 'सागर बीजक को पद' आदि रचनाएँ सम्मिलित हैं। बीजक सम्बन्धी विभिन्न जन-श्रुतियों और सम्प्रदाय प्रचलित कथाओं आदि का उचित निवेचन करने के बाद डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह ऐतिहासिक तथ्य जान पड़ता है कि भगवानदास के शिष्य प्रशिष्यों ने कबीरदास की मृत्यु के दीर्घकाल के बाद उसे (बीजक को) प्रचारित किया। उसमें कुछ परवर्ती बातों का मिल जाना नितान्त असंभव नहीं है।^३ इस बीजक में कई प्रकार की भाषाएँ दिखाई पड़ती हैं। रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव कम है जैसा कि कबीर ग्रन्थावली की रचनाओं में मिलता है, यह संभवतः बीजक के पूर्व में सुरक्षित रहने अथवा लिखे जाने के कारण हुआ।

§ २१०. उपर्युक्त मतों के आधार पर कोई भी पाठक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि कबीर की भाषा वाकई 'पञ्चमेल' खिचड़ी है और तब यह भी सम्भव है कि इनके बीच

१. कबीर ग्रन्थावली, पृ० ६६

२. डा० उदयनारायण तिवारी, भोजपुरी भाषा और साहित्य, तथा हिन्दी अनुशीलन वर्ष २ अंक २ में कबीर की भाषा शोधक निबन्ध

३ Kabir was an inhabitant of the Bhojpuria tract but following the practice of the Hindu-stani poets of the time he generally used Brajbhakha and occasionally Awadhi His Brajbhakha at times betrays an eastern (Bhojpuria form) form here and there and when he employes his own Bhojpuria dialect, Brajbhakha and other western forms frequently show themselves Origin and Development of the Bengali Language p 99

४. कबीर के मूल वचन, विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ६ अंक २, पृ० ११३

ग्राहि ग्राहि कर हरी पुकारा, साथ संगति मिलि करहु विचारा ।
 रे रे जीवन नहिं विश्रामा, सब दुख मंडन राम को नामा ।
 राम नाम संसार में सारा, राम नाम भौ तारन हारा ।
 मुद्रित वेद सब सुनै नहीं आवै कृत काज
 नहीं जैसे कुंडिल बनिल दुख सोमित बिन राज
 भव गहि राम नाम अविनायो हरि तजि जनि अंतइ वै जासौ
 जहाँ जाइ तहाँ पतंगा, भव जनि जरसि समझ विष संगी

हरि चरति से-^१

भोंडु महंथ जे लागे काना, काज, छांदि भकाजै जाना
 कपटी लोग सब भे घरमार्थी, पोठ वहदि नहि चीन्हे वियाघी
 कुजर बाँधे भूपन मरई, भादर सो पर सेइ चराई ॥
 चन्दन काटि कराले जे लावा, भौं वि काटि ववूर योभावा ।
 कोकिल हंस मजारहि मारी, बहुत जतन कागहि प्रतिपाली ॥
 सारीक पंथ उपारि पालै तमचुर जग संसार ।
 लखन सेनि ताह न वसै कादि जो खौं हि उधार ॥

कबीर को रमैनी की भाषा की श्रुपेक्षा लखनसेनी की भाषा अधिक शुद्ध अवधो है ।
 फिर भी कबीर के उपर्युक्त पद्यांश में जरसि, वर्तमान मध्यम पुरुष, करहु (आशयक मध्यम
 पुरुष) जनि (अय्यय) लागि (परसर्ग, चतुर्थी) पुकार (सामान्य वर्तमान, अन्य पुरुष)
 आदि रूप स्पष्टतः अवधी का सन्नेत देने हैं वैसे भी बाकी पूरा व्याकरणिक ढाँचा अवधी का
 ही है किन्तु भौ (त्रियाभूत) में (सप्तमी परसर्ग) को (पष्ठी, पर०) ब्रज प्रभाव की सूचना
 देते हैं । कबीर ग्रन्थावली की रमैणी पर ब्रज का प्रभाव वैसे ज्यादा है भी ।

§ २१२. कबीर की भाषा का दूसरा रूप उनकी साखियों में दिखाई पड़ता है । साखियों
 की भाषा की परम्परा भी कबीर को पूर्ववर्ती सन्तों से ही मिली । अनभ्रंश में दोहों की परम्परा
 पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच चुकी थी, परवर्ती अपभ्रंश में ये दोहे दो शैली में लिखे जाते
 थे । एक तो शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित शुद्ध पिगल की शैली और दूसरी राजस्थानी की
 पूर्ववर्ती शैली । हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों की इन दो भिन्न शैलियों का उल्लेख पहले
 ही चुका है । (देखिये § १६०) कबीर में राजस्थानी शैली का प्राधान्य है, किन्तु ब्रजशैली के
 दोहे भी कम नहीं हैं । नीचे कुछ दोहे दिये जाते हैं ।

यह तन जालों मसि करौं लिखौं राम को नाम ।
 लेखणि करुं करुं की लिखि लिखि राम पठाई ॥७६॥
 कबीर पीर परावनी पंजर पीर न जाइ ।
 एक जु पीर पिरीति को रही कलेजा झाइ ॥८०॥
 हौंसी खेलौं हरि मिलै तो कोण सहै परसान ।
 काम क्रोध तिष्णां तजै ताहि मिले भगवान ॥८७॥

१. हरिचरितत्र, अप्रकाशित, देखिये सर्च रिपोर्ट १६४४-४८

त्राहि त्राहि कर हरी पुकारा, साथ संगति मिलि करहु विचारा ।
 रे रे जीवन नहि विश्रामा, सच दुख मंडन राम को नामा ।
 राम नाम संसार में सारा, राम नाम भी तारन हारा ।
 सुश्रित वेद सब सुनै नहीं भावै कृत काज
 नहीं जैसे कुंडिल बनिल दुख सोमित विन राज
 भव गहि राम नाम अविनायो हरि तजि अनि अंतह वै जासो
 जहाँ जाइ तहाँ पतंगा, भव जनि जरसि समझ विप संगी
 हरि चरति से-^१

भोंदु महंथ जे लागे काना, काज, छांड़ि भकाजै जाना
 कपटी लोग सब भे धरमार्थी, पोट बहदि नहि चीन्हे वियाधो
 कुजर बोधे भूपन भरई, भादर सो पर सेइ चराई ॥
 घन्दन काटि कराले जे लावा, भौंवि काटि बचूर बोभावा ।
 कोकिल हंस मजारहि सारी, बहुत जतन कागहि प्रतिपाली ॥
 सारीक पंथ उपारि पालै तमचुर जग संसार ।
 लखन सेनि ताह न वसे कादि जो खौंहि उधार ॥

कबीर की रमैनी की भाषा की अपेक्षा लखनसेनी की भाषा अधिक शुद्ध अवधी है ।
 फिर भी कबीर के उपर्युक्त पद्यांश में जरसि, वर्तमान मध्यम पुरुष, करहु (आशार्थक मध्यम
 पुरुष) अनि (अन्य) लागि (परसर्ग, चतुर्था) पुकार (सामान्य वर्तमान, अन्य पुरुष)
 आदि रूप स्पष्टतः अवधी का सचेत देने हैं वैसे भी बाकी पूरा व्याकरणिक ढाँचा अवधी का
 ही है किन्तु भी (त्रियाभूत) में (सतमी परसर्ग) को (पष्ठी, पर०) ब्रज प्रभाव की सूचना
 देते हैं । कबीर ग्रन्थावली की रमैणी पर ब्रज का प्रभाव वैसे ज्यादा है भी ।

§ २१२. कबीर की भाषा का दूसरा रूप उनकी साखियों में दिखाई पड़ता है । साखियों
 की भाषा की परम्परा भी कबीर को पूर्ववर्ती सन्तों से ही मिली । अनग्रंथ में दोहों की परम्परा
 पूर्ण विकसित अवस्था को पहुँच चुकी थी, परवर्ती अपग्रंथ में ये दोहे दो शैली में लिखे जाते
 थे । एक तो शौरसेनी अपग्रंथ से विकसित शुद्ध पिंगल की शैली और दूसरी राजस्थानी की
 पूर्ववर्ती शैली । हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के दोहों की इन दो भिन्न शैलियों का उल्लेख पहले
 हो चुका है । (देखिये § १६०) कबीर में राजस्थानी शैली का प्राधान्य है, किन्तु ब्रजशैली के
 दोहे भी कम नहीं हैं । नीचे कुछ दोहे दिये जाते हैं ।

यह तन जालों मसि करौं लिखौं राम को नाम ।
 लेखणि करुं करं कौ लिखि लिखि राम पठाउँ ॥७६॥
 कथार पौर परावनी पंजर पौर न जाइ ।
 एक जु पौर पिराति को रही कलेजा छाइ ॥८०॥
 हौंसी खेलों हरि मिलै तो कोण सहै परसान ।
 काम क्रोध तिष्णां तजै ताहि मिले भगवान ॥८७॥

१. हरिचरितत्र, अप्रकाशित, देखिये सर्च रिपोर्ट १९४४-४८

का यह अपना छन्द है। चन्द ने रासों में इस छन्द को जो पूर्णता मिली वह अद्वितीय है। कबीर की साखियों (दोहों) के बीच दो छप्पय छन्द भी उपलब्ध होते हैं ।^१

मन नहिं छाड़ै विपै विपै न छाड़ै मन कौ ।
इनकौं इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन कौ ॥
खडित मूल विनास कही किम विगतह कौजै ।
ज्यूँ जल में प्रतिप्यब त्यूँ सकल रामहिं जागौजै ॥
सो मन सो तन सो विपै सो त्रिसुवन पति कहूँ कस ।
कहै कबीर चन्दहुनरा ज्यों जल पुण्या सकल रस ॥५४१॥

दूसरा छप्पय 'बैसास कौ अग' में दिया हुआ है।

जिन नरहरि जठराहँ उदकि कै पढ प्रकट कियो ।
सिरजे ध्रुवण कर चरन जीव जीम मुख तास दियो ॥
उरथ पाँव भरथ साँस बीच पपा इम रपियो ।
अन पान जहाँ जरै तहाँ तैं अनल न चपियो ॥
इहि माति भयानक उद्र में उद्र न कबहूँ छुड़रै ।
कृसन कृपाल क्यार कहि इम प्रतिपालन क्यों करै ॥५६०॥

छप्पय छन्द की यह विशेषता रही है कि उसमें ओजस्विता लाने के लिए पुराने शब्दों खास तौर से परबतों अपभ्रंश के रूपों का बहुत साद तक व्यवहार होता रहा। चन्द के छप्पयों की विचित्र शब्दमैत्री तुलसीदास को भी आकृष्ट किये बिना न रही और उन्हें भी 'करकलत वरकलत' का प्रयोग करना ही पडा। कबीर के इन छप्पयों में भाषा कापी पुराने तत्वों को सुरक्षित किये हुए है। जागौजै < जागिजह, कीजै < किजह, विगतह ('हैं' अपभ्रंश पठो) रामहिं (राम की) जठराहँ (आहँ, पठो) रपियो > राख्यो (रथउ) आदि रूप भाषा की प्राचीनता सूचित करते हैं तथा प्रतिबिंब > प्रति यब, उदर > उद्र उदकतैं > उदिकयै, बदहु > बदहु में शब्दों को तोड़मरोड़ कर चारण शैली की नकल भी की गई है।

कबीर की भाषा के इस सक्षित विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि पदों में अधिकांश ब्रजभाषा में लिखे गए। कबीर ने ब्रजभाषा में नहीं लिखा ऐसा प्रमाणित करने के लिए यह कहना कि 'जिस समय कबीर साहब (मृ० स० १५७५) का आविर्भाव हुआ था उस समय ब्रजभाषा का अमी आधिपत्य नहीं जम सका था ।^२ और साथ ही यह भी कहना कि ब्रजभाषा इन दिनों पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान से लेकर ब्रजमंडल तक था परस्पर विरोधी भातें तो हा जाती हैं क्योंकि 'जा ब्रजभाषा पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी' उसका प्रभाव क्षेत्र गुजरात से लेकर पंगल तक था। दूसरे यह भी कहना ठीक नहीं कि ब्रजभाषा का उन दिनों आधिपत्य या प्रभाव नहीं था क्योंकि इसका प्रमाण नामदेव से लेकर कबीर तक के सन्तों की रचनाएँ हैं जिनका बहुत बड़ा अंश ब्रजभाषा में लिखा गया। खुसरो से लेकर बैजू (१५वीं शती) तक के संगीतकारों की राग रागिनियाँ

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६-५७

२ परशुराम चतुर्वेदी कबीर साहित्य की परख, पृ० २१७

का यह अपना छन्द है। चन्द ने रासों में इस छन्द को जो पूर्णता मिली वह अद्वितीय है। कबीर की साखियों (दोहों) के बीच दो छप्पय छन्द भी उपलब्ध होते हैं^१।

मन नहिं छाड़ै विषै विषै न छाड़ै मन की ।
इनकों इहै सुभाव पूरि लागी जुग जन की ॥
खडित मूल विनास कहौ किम विगतह कौजै ।
ज्यूँ जल में प्रतिप्यष त्यूँ सकल रामहिं जाणौजै ॥
सो मन सो तन सो विषै सो त्रिभुवन पति कहुँ कस ।
कहै कबीर चन्दहुनरा ज्यों जल पुण्या सकल रस ॥५४१॥

दूसरा छप्पय 'बैसास कौ अग' में दिया हुआ है।

जिन नरहरि जठराहँ उदकि कैं पढ प्रकट कियो ।
सिरजे ध्रुवण कर चरन जीव जीम मुख तास दियो ॥
उरध पाँव भरध साँस बीच पया इम रपियो ।
अन पान जहाँ जरै तहाँ तैं अनल न चपियो ॥
इहि माति भयानक उद्र में उद्र न कबहुँ छुड़ौ ।
कृसन कृपाल कबीर कहि इम प्रतिपालन क्यों करै ॥५६०॥

छप्पय छन्द की यह विशेषता रही है कि उसमें ओजस्रिता लाने के लिए पुराने शब्दों खास तौर से परवर्तों अपभ्रंश के रूपों का बहुत माद तक व्यवहार होता रहा। चन्द के छप्पयों की विचित्र शब्दमैत्री तुलसीदास को भी आकृष्ट किये बिना न रही और उन्हें भी 'करकलत वरकलत' का प्रयोग करना ही पडा। कबीर के इन छप्पयों में भाषा कापी पुराने तत्वों को सुरक्षित किये हुए है। जाणौजै <जाणिजइ, कीजै <किजइ, विगतह ('हँ' अपभ्रंश पद्यो) रामहिं (राम को) जठराहँ (आहँ, पद्यो) रपियो > राख्यो (रप्यउ) आदि रूप भाषा की प्राचीनता सूचित करते हैं तथा प्रतिबिंब > प्रतिप्यष, उदर > उद्र उदकतैं > उदिकथै, बदहु > व्यदहु में शब्दों को तोड़मरोड कर चारण शैली की नकल भी की गई है।

कबीर की भाषा के इस सक्षित विवरण के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि पदों में अधिकांश ब्रजभाषा में लिखे गए। कबीर ने ब्रजभाषा में नहीं लिखा ऐसा प्रमाणित करने के लिए यह कहना कि 'जिस समय कबीर साहब (मृ० स० १५७५) का आविर्भाव हुआ या उस समय ब्रजभाषा का अभी आधिपत्य नहीं जम सका था ।^१ और साथ ही यह भी कहना कि ब्रजभाषा इन दिनों पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी और उसका क्षेत्र पूर्वी राजस्थान से लेकर ब्रजमंडल तक था परस्पर विरोधी शक्तें तो दृष्टा जाती हैं क्योंकि 'जा ब्रजभाषा पिंगल कहलाकर प्रसिद्ध थी' उसका प्रभाव क्षेत्र गुजरात से लेकर पगल तक था। दूसरे यह भी कहना ठीक नहीं कि ब्रजभाषा का उन दिनों आधिपत्य या प्रभाव नहीं था क्योंकि इसका प्रमाण नामदेव से लेकर कबीर तक के सन्तों की रचनाएँ हैं जिनका बहुत बड़ा अंश ब्रजभाषा में लिखा गया। खुसरो से लेकर बैजू (१५वीं शती) तक के संगीतकारों की राग रागिनियों

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० ५६-१७

२ परशुराम चतुर्वेदी कबीर साहित्य की परब, पृ० २१७

मीराबाई की पदावली के भी कुछ पदों में रैदास का नाम आता है ।^१

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दोन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्ही ग्यान की गुटकी

एक तरफ मीरा-साहित्य के अन्तरंग साक्ष्यों पर मातृम होता है कि रैदास मीरा के गुरु थे । दूतरी छोर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की टीका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी भाली राणी का उल्लेख हुआ है ।^२ कुछ लोग भाली रानी का मतलब मीरा ही समझते हैं ।^३ मीरा के जन्मकाल के विषय में वैसे ही विवाद है । कुछ लोग उन्हें (१४३०-१५०० सवत्) १५वीं शती का मानते हैं कुछ १६वीं १७वीं (१५५५-१६३० सवत्) का बताते हैं ।^४ अतः रैदास और मीरा वाले प्रसंगों से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नहीं हो पाता । अनुमानतः हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं ।

रविदास ने अपने को जात का चमार या डेट कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है । अपने को बार-बार चमार और नीची-जाति का कहा है ।

ऐसी भेरी जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥

जाति भी ओझी करम भी ओझी कसब हमारा ।

नाँचे से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥

(रैदास जी की बानी पृ० २१, ४३)

इस प्रकार से अपनी जाति श्रीर बंश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करने वाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी । उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदास जी की वाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है ।^५ गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं । श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं के विषय में लिखते हैं कि 'दोनों सग्रहों (वाणी और गुरुग्रन्थ) में आई हुई रचनाओं की भाषा में कहीं-कहीं बहुत अन्तर है जो संग्रहकर्ता की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव समझा जा सकता है ।'^६ चतुर्वेदी जी का मतलब सम्भवतः लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था । मुझे रविदास की कविताओं में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ देखता और ब्रज दिखाई पड़ती हैं । इनके बारे में आगे विचार करेंगे ।

§ २१४. रैदास की रचनाओं के सिलसिले में 'प्रह्लाद चरित्र' का भी निष्कर्ष होना चाहिए । खोज रिपोर्ट सन् १९२६-३१ में रैदासके दो ग्रन्थों की सूचना प्रकाशित हुई है

१. मीराबाई की पदावली हि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५१

२. भक्तमाल, नामादास, पृ० ४८३-८५

३. ऐन भाउडलाइन भाव दी रिलीजस लिटरैचर भाव इंडिया, पृ० ३०६

४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६५-५८२

५. रैदास की वाणी, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

६. उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २४१

मीराबाई की पदावली के भी कुछ पदों में रैदास का नाम आता है ।^१

(१) रैदास सन्त मिले मोहि सतगुरु दीन्हा सुरत सहदानी

(२) गुरु मिलिया रैदास जी दीन्हीं ग्यान की गुटकी

एक तरफ मीरा-साहित्य के अन्तरग साक्ष्यों पर मादूम होता है कि रैदास मीरा के गुरु थे । दूसरी ओर प्रियादास सन्त रैदास के जीवन का जो चित्र अपने भक्तमाल की टीका में उपस्थित करते हैं, उसमें भी किसी झगली राणी का उल्लेख हुआ है ।^२ कुछ लोग झगली राणी का मतलब मीरा ही समझते हैं ।^३ मीरा के जन्मकाल के विषय में ऐसे ही विवाद है । कुछ लोग उन्हें (१४३०-१५०० सवत्) १५वीं शती का मानते हैं कुछ १६वीं १७वीं (१५५५-१६३० सवत्) का बताते हैं ।^४ अतः रैदास और मीरा वाले प्रसंगों से भी रैदास के जीवनकाल के बारे में कुछ ठीक निर्णय नहीं हो पाता । अनुमानतः हम इन्हें १५५० के पहले का ही मान सकते हैं ।

रविदास ने अपने को जात का चमार या टेट कहा है तथा अपने को बनारस का निवासी बताया है । अपने को शर-शार चमार और नीची-जाति का कहा है ।

ऐसी मेरो जाति विख्यात चमार, हृदय राम गोविन्द गुन सार ॥१॥

जाति भी ओझी करम भी ओझी कसब हमारा ।

नीचै से प्रभु ऊँच कीयो है कह रैदास चमारा ॥२॥

(रैदास जी की बानी पृ० २१, ४३)

इस प्रकार से अपनी जाति और वंश के बारे में स्पष्ट उल्लेख करने वाले रैदास की आत्मा कितनी विशाल थी । उनकी रचनाओं का एक सङ्कलन रैदास जी की वाणी के नाम से बहुत पहले प्रकाशित हो चुका है ।^५ गुरुग्रन्थ साहब में इनके बहुत से पद सङ्कलित हैं । श्री परशुराम चतुर्वेदी गुरुग्रन्थ साहब की रचनाओं के विषय में लिखते हैं कि 'दोनों समूहों (वाणी और गुरुग्रन्थ) में आई हुई रचनाओं की भाषा में कहीं-कहीं बहुत अन्तर है जो संभवतः की अपनी भाषा के कारण भी सम्भव समझा जा सकता है ।'^६ चतुर्वेदी जी का मतलब सम्भवतः लिपिकर्ता की अनुलेखन-पद्धति के प्रभाव से है तो यह स्वाभाविक दोष कहा जा सकता है, किन्तु यदि उनका मतलब भाषा-भेद से है, तो इसे स्पष्ट करना चाहिए था । मुझे रविदास की कविताओं में भाषा की वही दो पुरानी शैलियाँ रेखता और ब्रज दिखाई पड़ती हैं । इनके बारे में आगे विचार करेंगे ।

§ २१४. रैदास की रचनाओं के सिलसिले में 'ग्रहलाद चरित्र' का भी जिक्र होना चाहिए । खोज रिपोर्ट सन् १९२६-२१ में रैदासके दो ग्रन्थों की सूचना प्रकाशित हुई है

१. मीराबाई की पदावली दि० सा० सम्मेलन प्रयाग, पृ० १० और पृ० १५६
२. भक्तमाल, नामादास, पृ० ४८३-८५
३. ऐन आडटलाइन भाव दी रिलीजस लिटरेचर भाव इंडिया, पृ० ३०६
४. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ५६५-५८२
५. रैदास की वाणी, वेलेब्रेडियर प्रेस, प्रयाग
६. उत्तरभारत की सन्त परम्परा, पृ० २४१

अति अपार संसार भवसागर जामे जनम मरना सदेह भारी ।
 काम भ्रम क्रोध भ्रम लीन भ्रम मोह भ्रम अनत भ्रम छेदि मम करसि भारी ॥२॥
 पंच सर्गा मिलि पीडियो प्रान यो जाय न सक्यो वैराग भागा ।
 पुत्र वरग कुल वधु ते भारजा भरवै दसो दिप सिरकाल लागा ॥३॥
 परम प्रकाश भविनाशो अघमोचना निरखि निज रूप विसराम पाया ।
 वद रैदास वैराग पद चितना जपौ जगदीस गोविंद रामा ॥६॥

इस पद की भाषा मूलतः खड़ी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामे (सर्व० अधि०)
 श्रीर पीडियों, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव की सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्म
 निवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही
 दिखाई पड़ती है । नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते हैं । ये तीनों पद गुरु
 ग्रन्थ से हैं ।

दुधु चढ़रै यनहु विदारिउ फूल, वभैर अल मीनि विगारउ ॥१॥
 माई गोविंद पूजा कहा लै चर्हावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउ ।
 मैलागिरि वैरहे हैं भुइजगा, विपु अत्रिनु वसहिं इक सगा ॥२॥
 धूप दीप नहुवेदहि वासा, कैसे पूज करहिं तेरो दासा ॥३॥
 मनु भरपउं पूज चरावउ, गुरु परसादि निरजन पावउ ॥४॥
 पूजा भरचा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ॥५॥

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बाधे मोह फास हम प्रेम बधनि तुम बाँधे ।
 अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम आराधे ॥१॥
 माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अय कहा करहुगे ऐसी ।
 मीन पकरि फाकिउ अरु काटिउ, राधि कीउ बहुवानी ।
 पड पड करि भोजन कीनो, सउ न विसारिउ पानी ॥२॥
 आपन बापै नाहि कियो को भावन को हरि राजा ।
 मोहु पटलु सब जगत विद्यापिउ भगत नहीं संतापा ॥३॥
 कहि रविदास भगति इक बादी अत्र इह का सिउ कहिअै ।
 जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुप भजहुँ सहिअै ॥४॥

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कटूअ न जानउ मनु माइया कै हाथि विकानउ,
 तुम कहोयत है जगतगुर सुभामी, हम कहींअत कलिजुग के कामी ।
 इन पचन मेरो मन जु विगारिउ, पल पल हरि जी ते अन्तर पारिउ ॥२॥
 जत देपउ तत दुप की रासी, अजै न पत्याइ निगम भए साखी ॥३॥
 गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ॥४॥
 इन दूतन पनु वधु करि मारिउ, बजो निलाज अजह नहि हारिउ ॥५॥
 कहि रविदास कहा कैसे कीजै, विनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ॥६॥

अति अपार संसार भवसागर जामे जनम मरना सदेह भारी ।
 काम भ्रम मोघ भ्रम लीन भ्रम मोह भ्रम भवत भ्रम छेदि मम करसि भारी ॥२॥
 पंच सर्गी मिलि पांडियो प्राण यो जाप न सक्यो वैराग भागा ।
 पुत्र वरग कुल वधु ते भारजा भवै दसो दिप सिरकाल लागा ॥३॥
 परम प्रकाश भविनाशो भघमोचना निरखि निज रूप विसराम पाया ।
 वद रैदास वैराग पद चिंतना जयी जगदीस गोविंद रामा ॥६॥

इस पद की भाषा मूलतः खड़ी बोली ही है किन्तु इनमें भी जामे (सर्व० अधि०)
 और पीडियों, सक्यो आदि क्रिया रूप ब्रजभाषा प्रभाव को सूचना देते हैं किन्तु जहाँ आत्म
 निवेदन आदि के पद आते हैं, वहाँ रैदास की भाषा अत्यन्त मार्मिक और शुद्ध ब्रजभाषा ही
 दिखाई पड़ती है। नीचे हम रैदास के तीन ब्रजभाषा-पद उद्धृत करते हैं। ये तीनों पद गुरु
 ग्रन्थ से हैं।

दूधु बद्धरै यनहु विदारिउ फूल, वभैर अल मोनि विगारउ ॥१॥
 माई गोविंद पूजा कहा लै चरहावउ, अवरु न फूल अनूप न पावउ ।
 मैलागिरि चैरहे हैं भुइजागा, विपु अत्रिपु वसहिं इक सगा ॥२॥
 धूप दीप नइवेदहि वासा, कैसे पूज करहिं तेरो दासा ॥३॥
 मनु भरपडं पूज चरावउ, गुरु परसादि निरजन पावउ ॥४॥
 पूजा भरघा आहि न तोरी, कहि रविदास कवन गति मोरी ॥५॥

आत्मनिवेदन सम्बन्धी दूसरा पद—

जउ हम बाधे मोह फास हम प्रेम बधनि तुम बाँधे ।
 अपने छूटन को जतन करहु हम छूटे तुम भाराधे ॥१॥
 माधवे जानत हहु जैसी तैसी, अघ कहा करहुगे ऐसी ।
 मोन पकरि फाकिउ अरु काटिउ, राधि कीउ बहुवानी ।
 पट पट करि भोजन कीनो, तउ न विसारिउ पानी ॥२॥
 आपन बापै नाहि किमो को भावन को हरि राजा ।
 मोहु पटलु सब जगत विषापिउ भगत नहीं संतापा ॥३॥
 कहि रविदास भगति इक बानी अघ इह का सिउ कहिअै ।
 जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुप अजहूँ सहिअै ॥४॥

दैन्यभाव का चित्रण करनेवाला तीसरा पद—

नाथ कटुअ न जानउँ मनु माइया के हाथि विकानउ,
 तुम कहीयत हैं जगतगुर सुभामो, हम कहीअत कलिजुग के कामो ।
 इन पचन मेरो मन जु विगारिउ, पल पल हरि जी ते अन्तर पारिउ ॥२॥
 जत देपउ तत दुप की रासी, अजै न पत्याइ नियम भए साखी ॥३॥
 गोतम नारि उमापति स्वामी, सीसु धरनि सहस भगगामी ॥४॥
 इन दूतन पनु वधु करि मारिउ, चढो निलाज अजह नहि हारिउ ॥५॥
 कहि रविदास कहा कैसे कीजै, विनु रघुनाथ सरन काकी लीजै ॥६॥

§ २१७. धन्ना भगत—धन्ना जाति के जाट और राजपूताना के निवासी थे। अपने एक पद में उन्होंने अपने को जाट कहा है और कवीर, नामदेव, सेन, आदि नीच जातियों में उत्पन्न लोगों की भक्ति से आकृष्ट होकर स्वयं भक्त हो जाने की बात लिखी है।

इहि त्रिधि सुनकै जादरो उडि भगती लागी
मिले प्रतपि गुसाइयां धनां बड़ भागा

श्री मेकालिफ ने इनका जन्मकाल सन् १४१५ ईस्वी अर्थात् सवत् १४७२ अनुमानित किया है।^१ मेकालिफ का यह अनुमान मुख्यतः धन्ना और रामानन्द के शिष्य गुरु-सम्बन्ध की अनश्रुति पर ही आधारित है। नामादास ने भक्तमाल में धन्ना के बारे में एक छुप्यय लिखा है। नामादास ने इस छुप्यय में लिखा है कि खेत में बोने का बीज धन्ना ने भक्तों को बाँट दिया और माता पिता के डर से झूठे हराई खींचते रहे, किन्तु उनकी भक्ति के प्रताप से बिना बीज बोये ही अंकुर उदित हो गए। धन्ना के हृदय में अचानक उत्पन्न होनेवाली भक्ति के लिए इससे सुन्दर कथोपमा और क्या हो सकती है।

घर भाए हरिदास तिनहि गोधूम खवाए ।
तात मात डर खेत थोथ लागलहि चलाए ॥
आसपास कृपकार खेत कां करत बढाई ।
भक्त भजे कां रीति प्रकट परतीति जु पाई ॥
अचरित्र मानत जगत में कहुँ निपगयो कहुँ वै वयो ।
धन्य धना के भजन की तिनहिं योज अंकुर भयो ॥

—भक्तमाल, पृ० ५०४

धना के कुल चार पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं। इन पदों की भाषा पर खंडो बोली और राजस्थानी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। नीचे एक पद दिया जाता है जो गुरु-ग्रन्थ साहब में आसा राग में दिया हुआ है।^२

रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर विवहित जानसि कोई ।
जे धावहि पढ ग्रहिमड कउ करता करै सु कोई ॥ रहाउ ॥
जननि बेरे उदर उदक महि पिडु कीया दस दुआरा ।
देइ अहारु अगिनि महि रापै ऐसा पसमु हमार ॥१॥
कुभो जल माहि तब तिसु चाहरि ५५ भीरु तिन्ह नाहीं ।
पूरन परमानन्द मनोहर समकि देसु मन माही ॥२॥
पापणि कौटु गुपतु होइ रहता ताको मारत नाहीं ।
कहे धना पूरन साहू की मत रै जोअ डराहो ॥३॥

§ २१८ नानक—नानक का रचनाकाल हमारी निश्चित काल सीमा के अन्तर्गत आता है। इसका जन्म संवत् १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर तलवडी नामक ग्राम में

१. मेकालिफ—दि सिख रिर्लाजन भाग ५ पृ० १०६

२. राग आसा पद १ और ३ पृ० ४८७, राग आसा पद ३ पृ० ४८८,

धनाचरी पद १ पृ० ६१५

§ २१७. धन्ना भगत—धन्ना जाति के जाट और राजपूताना के निवासी थे। अपने एक पद में उन्होंने अपने को जाट कहा है और कबीर, नामदेव, सेन, आदि नीच जातियों में उत्पन्न लोगों की भक्ति से आकृष्ट होकर स्वयं भक्त हो जाने की बात लिखी है।

इहि विधि सुनकै जाटरो उठि भगती लागी

मिले प्रतापि गुसाइयां धनां बड़ भागा

श्री मेकालिफ ने इनका जन्मकाल सन् १४१५ ईस्वी अर्थात् सवत् १४७२ अनुमानित किया है।^१ मेकालिफ का यह अनुमान मुख्यतः धन्ना और रामानन्द के शिष्य गुरु-सम्बन्ध की अनश्रुति पर ही आधारित है। नाभादास ने भक्तमाल में धन्ना के बारे में एक छुप्य लिखा है। नाभादास ने इस छुप्य में लिखा है कि खेत में बोने का बीज धन्ना ने भक्तों को बाँट दिया और माता पिता के डर से भूटे हरई लौंचते रहे, किन्तु उनकी भक्ति के प्रताप से बिना बीज बोये ही अकुर उदित हो गए। धन्ना के हृदय में अचानक उत्पन्न होनेवाली भक्ति के लिए इससे सुन्दर कथोपमा और क्या हो सकती है।

धर भाए हरिदास तिनहि गोधूम खवाए ।

तात मात डर खेत धोय लागलहि चलाए ॥

भासपास कृपकार ऐत की करत बदाई ।

भक्त भजे की रीति प्रकट परतीति जु पाई ॥

अचरज मानत जगत में कहूँ निपज्यो कहूँ वै वयो ।

धन्य धना के भजन की विनिहिं बीज अंकुर भयो ॥

—भक्तमाल, पृ० ५०४

धना के कुल चार पद गुरुग्रन्थ साहब में मिलते हैं। इन पदों की भाषा पर खड़ी बोली और राजस्थानी का घोर प्रभाव दिखाई पड़ता है। नीचे एक पद दिया जाता है जो गुरु-ग्रन्थ साहब में आसा राग में दिया हुआ है।^२

रे चित चेतसि की न दयाल दमोदर विवहित जानसि कोई ।

जे धावहि पढ ग्रहिमड कउ करता करै सु कोई ॥ रहाउ ॥

जननि बरे उदर उदक महि पिहु कीया दस दुभारा ।

देइ अहार अगिनि महि रापै ऐसा पसमु हमारा ॥१॥

कुभो जल माहि तन तिसु घाहिरि १५ भीरु तिन्ह नाहीं ।

पूरन परमानन्द मनोहर समकि देपु मन माही ॥२॥

पापनि कीहु गुपतु होइ रहता ताको मारत नाहीं ।

कहे धना पूरन ताहु की मत रे जीअ दराही ॥३॥

§ २१८ नानक—नानक का रचनाकाल हमारी निश्चित काल सीमा के अन्तर्गत आता है। इसका जन्म संवत् १५२६ में लाहौर से ३० मील दूर तलवडी नामक ग्राम में

१. मेकालिफ—दि सिल रिर्लाजन भाग ५ पृ० १०६

२. राग आसा पद १ और ३ पृ० ४८७, राग आसा पद ३ पृ० ४८८,

धनाधरी पद १ पृ० ६१५

तुम्ह विसु अवर न कोउ मेरे पियारे तुम्ह विसु अवर न कोई हरे
 सखी रंगी रूप तू है तिसु वरवसै तिसु नदिर करे
 सासु बुरी घर वासुन देवै पिउ मिठं मिलन न देह बुरी
 मर्खा माजनी के हउं चरन सरेवउं, हरि गुरु छिरपा तैं नदिर धरी ॥२॥
 आप निचारि मारि मनु देखियां तुम सौ मात न अवर कोई ।
 जिवं तू राखहिं तिवं ही रहणा मुसु दुप देवहि करहि सोई ॥३॥
 आसा मनसा दोउ विनासा त्रिहु गुण आम निरास भई
 तुरिआ बसधा गुरु सुपि पाइगै संत सभा की उतलही ॥४॥
 गिधान ध्यान सगले सुभि जप छप तिसु हरि हिरदै अलख अमेवा ।
 नानक राम नाम मनु राता गुर मति पाये सहज सेवा ॥५॥
 जो नर दुप में दुप नहि मानै ।
 सुख सनेह अरु भय नहि जाके कञ्चन माटो जानै ॥
 नहिं निन्दा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाना ।
 इरष सोक ते रहै बियारी नाहि मान अपमाना ॥
 आसा मनसा सक त्यागि कै जग तें रहे निरासा ।
 काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥
 गुरु कृपा जेहि नर पर कौन्ही तिन्ह यद जुपति विद्यानी ।
 नानक लीन भयो गोविंद सो ज्यों पानी संग पानी ॥

ऊपर का पद मूलतः ब्रज का है जैसा कि हउं (वर्णनाम) भिउँ, सउं, कउ, तैं (परसर्ग) सरेवउं > सरेवौं क्रिया, जिवं > जिवि, तिवं > तिमि (अय्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यज्ञ-तज्ञ खड्डो बांधे की भी छाप अवश्य है, मिच्छिया, राता, देपिया, रहणा, आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं । किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध ब्रज का है और सूर के निमी भी पद से तुलनीय हो सकता है ।

गुरु ग्रन्थ में नानक की कुछ सात्वियों भी संकलित हैं । दोहों की भाषा पर पंजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे ब्रज के ही हैं । क्रिया कहीं-कहीं आकारान्त अवश्य हैं ।

सभ काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोइ ।
 मरि तराजू तीलिये निवै सो गउरा होइ ॥१॥
 जिनी न पाइउ प्रेम रसु कंत न पाइउ साउ ।
 सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ॥२॥
 धनवंता इन ही कहै अवरौ धन कउ भाउ ।
 • नानक निरधन तितु दिन जितु दिन बिसरै नाउ ॥३॥
 जिनकै परै धनु बसै तिनको नाउ फकार ।
 जिनकै हिरदै तू बसै तै नर गुणो गहोर ॥४॥
 वेदु बुलाइया वैदगी पकड़ि ढढोले वांइ ।
 मोला वैद न जागई करक बलेजै मांइ ॥५॥

तुम्ह विनु भवर न कोउ मेरे पियारे तुम्ह विनु अचर न कोई हरे
 सखी रंगी रूप तूं है तिसु वरवसै जिसु नदिर करे
 सामु बुरी घर वामुन देवै पिउ मिउं मिलन न देह बुरी
 मखी मात्रनी के हउं चरन सरेवउं, हरि गुरु किरपा तैं नदिर धरी ॥२॥
 आप विचारि मारि मनु देखियां तुम सौ मात न अवर कोई ।
 जिवं तू राखहिं तिवं ही रहणा सुस्तु दुप देवहिं करहिं सोई ॥३॥
 भासा मनसा दोउ विनासा त्रिहु गुण आम निरासा भई
 तुरिआ वसधा गुरु सुपि पाइगै संत सभा की उतलही ॥४॥
 गियान ध्यान सगले सुभि जप सप जिसु हरि हिरदै अलख अभैवा ।
 नानक राम नाम मनु राता गुर मति पाये सहज सेवा ॥५॥
 जो नर दुप में दुप नहि मानै ।
 सुख सनेह अरु भय नहि जाके कञ्चन मायो जानै ॥
 नहिं निन्दा नहि अस्तुति जाके लोभ मोह अभिमाया ।
 डरप सोक ते रहै निचारी नाहि मान अपमाना ॥
 भासा मनसा सक्त त्यागि कै जग तें रहे निरासा ।
 काम क्रोध जेहि परसै नाहिन तेहि घट ब्रह्म निवासा ॥
 गुरु कृपा जेहि नर पर कीन्ही तिन्ह यह शुगति पिछानी ।
 नानक लीन भयो गोविंद सो ज्यों पानी संग पानी ॥

ऊपर का पद मूलतः ब्रज का है जैसा कि हउं (सर्वनाम) मिउं, सउं, कउ, तैं (परमर्ग) सरेवउं > सरेवीं क्रिया, जिरं > जिरि, तिवं > तिमि (अज्यय) आदि से प्रकट है, किन्तु इस पद पर यत्र-तत्र खडो बोन्धी की भी छाप अवश्य है, मिचिया, राता, देपिया, रहणा, आदि आकारान्त क्रियापद इसकी सूचना देते हैं । किन्तु दूसरा पद एकदम शुद्ध ब्रज का है और सू के निम्नी भी पद से तुलनीय हो सकता है ।

गुरु ग्रन्थ में नानक की कुछ सावियों भी संकलित हैं । दोहों की भाषा पर पंजाबी की छाप अवश्य है, किन्तु दोहे ब्रज के ही हैं । क्रिया कहीं-कहीं आकारान्त अवश्य हैं ।

सभ काउ निवै आप कउ पर कउ निवै न कोइ ।
 मरि तराजू तौलिये निवै सो गउरा होइ ॥१॥
 जिनै न पाइउ प्रेम रसु कंत न पाइउ साउ ।
 सूने घर का पाहुना जिउ आइया तिउ जाउ ॥२॥
 धनवंसा इन ही कहै अवरो धन कउ आउ ।
 नानक निरधन तितु दिन जितु दिन विसरै नाउ ॥३॥
 जिनकै परै धनु वसै तिनको नाउ फकार ।
 जिनकै हिरदै तू वसै तै नर गुणो गहोर ॥४॥
 वेदु बुलाइया बैदगी पकड़ि दबोले बाह ।
 भोला वैद न जागई करक बलेजै मांह ॥५॥

अन्य कवि

हरिदास निरंजनी

§ २१९. हरिदास निरंजनी के जन्म-काल आदि के विषय में अब तक कोई सुनिश्चित निर्णय नहीं हो सका है। ये निरंजन संप्रदाय के आदि गुरु प्रतीत होते हैं। निरंजन संप्रदाय के धार्मिक परंपराओं और सैदान्तिक मान्यताओं का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यह संप्रदाय नाय संप्रदाय से प्रभावित था। इस संप्रदाय के अवशिष्ट रूपों की मीमांसा करते हुए श्री द्वितिमोहन सेन ने लिखा है कि उड़ीसा ही संभवतः इस संप्रदाय की जन्मभूमि या, और वहाँ से यह संप्रदाय बंगाल आदि में प्रसारित हुआ होगा। उड़ीसा में पैले हुए इस संप्रदाय से उत्तर भारत खास तौर से पश्चिमी प्रदेशों में फैले हुए निरंजनी संप्रदाय का क्या संबंध है, यह बताना कठिन है। पश्चिमी भारत में पैले हुई निरंजनी परंपरा का कुछ परिचय दादू पंथी राघोदास के भक्तमाल से (१७७० संवत्) मिलता है। इस ग्रंथ में बारह निरंजनी महत्तो. का. वर्णन दिग्ग. हुआ है जिनमें हरिदास, तुसीदास, खेमजी, कान्दरुणस और फोहल-दास आदि सम्मिलित किए गए हैं। राघोदास निरंजनी संप्रदाय का आदि प्रवर्तक निरंजन भगवान् को बताते हैं, यही नहीं उन्हेंने कवीर, नानक, दादू, जगन राघो ! के चार निर्गुण संप्रदायों को भी निरंजन से प्रेरित बताया।

रामानुज की पधित चली तन्मी सँ भाई ।
विष्णुस्वामि की पधित सुती संकर ते आई ॥
मधवाचार्य पधित ज्ञान ब्रह्मा सुविचारा हैं ।
नीवादिन की पधित प्यारि सनकादि कुमारा ।

अन्य कवि

हरिदास निरंजनी

§ २१९. हरिदास निरंजनी के जन्म-काल आदि के विषय में अब तक कोई सुनिश्चित निर्णय नहीं हो सका है। ये निरंजन संप्रदाय के आदि गुरु प्रतीत होते हैं। निरंजन संप्रदाय के धार्मिक परंपराओं और सैद्धान्तिक मान्यताओं का निरीक्षण करने पर पता चलता है कि यह संप्रदाय नाथ संप्रदाय से प्रभावित था। इस संप्रदाय के अवशिष्ट रूपों की मीमांसा करते हुए श्री विलिमोहन सेन ने लिखा है कि उड़ीसा ही संभवतः इस संप्रदाय की जन्मभूमि था, और वहीं से यह संप्रदाय बंगाल आदि में प्रसारित हुआ होगा। उड़ीसा में फैले हुए इस संप्रदाय से उत्तर भारत खास तौर से पश्चिमी प्रदेशों में फैले हुए निरंजनी संप्रदाय का क्या संबंध है, यह बताना कठिन है। पश्चिमी भारत में फैले हुई निरंजनी परंपरा का कुछ परिचय दादू पंथी राघोदास के भक्तमाल से (१७७० संवत्) मिलता है। इस ग्रंथ में चारह निरंजनी महन्तों का वर्णन दिया हुआ है जिनमें हरिदास, तुलसीदास, खेमजी, कान्हडदास और मोहनदास आदि सम्मिलित किए गए हैं। राघोदास निरंजनी संप्रदाय का आदि प्रवर्तक निरंजन भगवान् को बताते हैं, यही नहीं उन्होंने कवीर, नानक, दादू, जगन राघो ! के चार निर्गुण संप्रदायों को भी निरंजन से प्रेरित बताया।

रामानुज को पथित जलों तक्षमों सँ आई ।
विष्णुस्वामि को पथित सुती संकर से आई ॥
मधवाचार्य पथित ज्यों ब्रह्मा सुविचारा ॥
गोवादिता को पथित प्यारि सनकादि बुभारा ।

पन्द्रसे वारोत्तरे फागुन सुदि छठसार
 वैराग्य ज्ञान भगति कृ लीयो हरि अवतार
 पन्द्रह सै का बारह गयो हरि धारयो अवतार
 ज्ञान भक्ति वैराग्य से भाप कियो भवपार
 पन्द्रह सै छप्पन सर्म वसन्त पञ्चमी जान
 तब हरि गोरप रूप धरि भाप दियो मल्ल ज्ञान
 सोलह सौ को छठि सुदि फागुन मास
 परम धाम भै प्रापतो नगर डौंड हरिदास

इस उल्लेख के मुताबिक हरिदास का काल १५१२-१६०० संवत् मान्दम पडता है जो सुन्दरदास के उल्लेख से जिनमें हरिदास को दादू का पूर्ववर्ती बताया गया है, मेल खाता है। मगलदास जी के पास एक हस्तलिखित गुटके में तिथिकाल सम्बन्धी एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यह गुटका बहुत परवर्ती मान्दम होता है, इसे किमी पूर्णदास ने नवलगढ़ में लिखा था।

चवदेमे चोहत्तरे जन्म लियो हरिदास
 सांखळ से घर अबतरे छतरा वंश निवास
 छतरा वंश निवास तेज सो मुरति विराजे
 छतरि भेष सो सूरमाय को दूध न लाजै
 मिलियो गोरप रूप हरि दियो ज्ञान परकास
 चवदह सै चोहोत्तरे जन्म लियो हरिदास

पन्द्रसौ पिचागवे कियो जोति में वास
 फागुन सुदि की छठ को परम जोति परकास

इसो से मिथ्या जुता दूसरा उल्लेख मजराज प्रभाकर ग्रन्थ के १२ वें उद्घात में इस प्रकार आता है :

चवदासत संवत् ससचार, प्रकटे सुदेस सुरधर मन्कार ।
 पचासौ पञ्चमवे शुद्ध फागुन छठि जाग ।
 विरा सो वपुराखि कै पहुँचै पद निर्वांग ॥

इन सभी उल्लेखों में हरिदास का काल १५वीं १६वीं विजयी के बीच पडता है। नीचे के दोनों उल्लेखों में तो १५७५-१५८५ संवत् पर मतैक्य भी दिखाई पडता है। इन उल्लेखों में व्यक्त रचनाकाल को देखते हुए श्री जगद्धर शर्मा गुलेरी का मत भी उपयुक्त ही मान्दम होता है। श्री गुलेरी हरिदास का रचनाकाल १५२० और १५४० ईस्वी (अर्थात् १५७७-१५८७ विजयी) मानते हैं।^१ इन प्रसंगों के आधार पर यह कहना शायद अनुचित न होगा कि हरिदास निरञ्जनी विजयी १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे।

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संवत् ३६६७ वर्ष ४५, पृ० ७७

पन्द्रसे वारोत्तरे फागुन सुदि छठसार
 वैराग्य ज्ञान भगति कृ लीगो हरि अवतार
 पन्द्रह सै का बारह गयो हरि धारयो अवतार
 ज्ञान भक्ति वैराग्य से आप कियो भवपार
 पन्द्रह सै छप्यन समँ वसन्त पद्ममी जात
 तब हरि गोरप रूप परि आप दियो मल ज्ञान
 सोलह सौ को छुट्टि सुदि फागुन भास
 परम धाम भै प्रापता नगर डौंड हरिदास

इस उल्लेख के मुताबिक हरिदास का काल १५१२-१६०० संवत् मान्य पडता है जो सुन्दरदास के उल्लेख से जिनमें हरिदास को दादू का पूर्ववर्ती बताया गया है, मेल खाता है। मगलदास जी के पास एक हस्तलिखित गुटके में तिथिकाल सम्बन्धी एक दूसरा उल्लेख मिलता है, यह गुटका बहुत परवर्ती माध्यम होता है, इसे किमी पूर्णदास ने नवलगाड में लिखा था।

चवदेमे चोइतरे जन्म लियो हरिदास
 सांख्य से घर अवतरे छतरा वंश निवास
 छतरा वंश निवास तेज सो सुरति विराजे
 छतरि भेष सो सुरमाय को दूध न लाजै
 मिलियो गोरप रूप हरि दियो ज्ञान परकास
 चवदइ सै चोइोत्तरे जन्म लियो हरिदास

पन्द्रसौ विद्यागचे कियो जोति में वास
 फागुन सुदि को छठ को परम जोति परकास

इसो से मिश्रा ज्योतिषी दूसरा उल्लेख मयराज प्रभाकर ग्रन्थ के १३ वें उल्लास में इस प्रकार आता है :

चवदारात संवत् सप्तचार, प्रक्ये सुदेस सुरधर मभार ।
 पचासौ पद्मानचे शुद्ध फागुन छुट्टि जाग ।
 विद्या सो वपुराखि कै पहुँचै पद निर्वाग ॥

इन सभी उल्लेखों में हरिदास का काल १५वीं १६वीं विक्रमी के बीच पडता है। नीचे के दोनों उल्लेखों में तो १४७५-१५६५ संवत् पर मतैक्य भी दिखाई पडता है। इन उल्लेखों में व्यक्त रचनाकाल की देवते हुए श्री बगदर शर्मा गुलेरी का मत भी उपयुक्त ही माध्यम होता है। श्री गुलेरी हरिदास का रचनाकाल १५२० और १५४० ईस्वी (अर्थात् १५७७-१५६७ विक्रमी) मानते हैं।^१ इन प्रसंगों के आधार पर यह कहना शायद अनुचित न होगा कि हरिदास निरञ्जनी विक्रमी १६०० के पहले अवश्य विद्यमान थे।

भाषा पर कहीं कहीं राजस्थानी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। सत शैली ने रूढ़ प्रयोगों के बावजूद, जो प्रायः कई भाषाओं से ग्रहित हुए हैं, इनकी भाषा पुष्ट ब्रजभाषा कही जा सकती है। हरिदास के विचार अत्यंत सहज और भावमय है अतः भाषा बड़ी ही साफ और व्यञ्जनापूर्ण है।

निम्बार्क संप्रदाय के कवि

§ २२१. वैष्णव संप्रदायों में निम्बार्क संप्रदाय काफी प्रतिष्ठित और पुराना माना जाता है। निम्बार्क के जन्म-काल आदि के विषय में कोई मुनिश्चित धारणा नहीं है। संप्रदायी भक्त लोग निम्बार्काचार्य के आरिभाष का काल आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। उनके मत से २०१३ वा विक्रमी वर्ष निम्बार्क का ५०५१ वा वर्ष है। ऐतिहासिक रीति पर विचार करने पर हम इस संप्रदाय का आरंभ १२वीं से पूर्व नहीं मान सकते। १२वीं शती में निम्बार्क का जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। उन्होंने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया, वे बाद में वृन्दावन में आकर रहने लगे थे। अन्य वैष्णव संप्रदायों की तरह इस संप्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीभट्ट इस संप्रदाय के आदि ब्रजभाषा-कवि माने जाते हैं। श्रीभट्ट, हरिव्यासदेवाचार्य, परशुरामाचार्य ये तीन इस संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुह शिष्य परंपरा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में समझ माने जाते हैं। इन तीनों ही आचार्य-कवियों के जीवन वृत्त का यथातथ्य पता नहीं लग पाया है। श्रीभट्ट का परिचय देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'इनका जन्म सवत् १५६५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता काल सवत् १६२५ या इससे कुछ आगे तक माना जाता है। युगल शतक के अतिरिक्त इनकी एक छोटी सी रचना आदि बानी भी मिलती है।' शुक्ल जी ने जन्म-काल को जिष्ठ तरह अनुमान रूप में १५६५ विक्रमी बताया वैसे ही 'युगल शत' के साथ ही 'आदि बानी' का भी अनुमान कर लिया। आदिबानी और युगलशतक दोनों एक ही चार्जे हैं। ब्रजभाषा की निम्बार्क संप्रदाय गत पहली रचना होनेके कारण यह आदिबानी कहलाई। शुक्ल जी ने हरिव्यासदेवाचार्य और परशुराम के बारे में कुछ नहीं लिखा। डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्ण भक्ति काव्य की परम्परा का स्थान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारोत्तरण की 'निम्बार्कमाधुरी' में उपर्युक्त कवियों पर लिखे हुए जीवन-वृत्त की अप्रामाणिक बताया है।^१ बिहारोत्तरण जी ने श्रीभट्ट का सवत् १३५२ विक्रमी और उनके शिष्य हरिव्यास जी का १३२० विक्रमी दिया था। डा० गुप्त लिखते हैं 'वस्तुतः ब्रह्मचारी जी ने इन दोनों भक्तों की विद्यमानता का सबत् गलत दिया है। निम्बार्क संप्रदायी तथा युगल शतक के रचयिता श्रीभट्ट केशव कश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका (श्रीभट्ट का) रचना काल संवत् १६१० विक्रमी है। श्री हरिव्यास देव का रचना काल भी सुरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क संप्रदायी हरिव्यास देव जी आमु में सर से बने थे।' डा० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए कोई आधार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००७, काशी, पृ० १८८

२. अष्टछाप और ब्रह्म संप्रदाय, प्रयाग, २००४ विक्रमी, पृ० २५

३. वही, पृ० २५

भाषा पर कहीं कहीं राजस्थानी प्रभाव भी दिखाई पड़ता है। सत शैली ने रूढ़ प्रयोगों के बावजूद, जो प्रायः कई भाषाओं से ग्रहित हुए हैं, इनकी भाषा पुष्ट ब्रजभाषा कही जा सकती है। हरिदास के विचार अत्यंत सहज और भावमय है अतः भाषा बड़ी ही साफ और व्यञ्जनापूर्ण है।

निम्बार्क संप्रदाय के कवि

§ २२१. वैष्णव संप्रदायों में निम्बार्क संप्रदाय काफी प्रतिष्ठित और पुराना माना जाता है। निम्बार्क के जन्म-काल आदि के विषय में कोई मुनिश्चित धारणा नहीं है। संप्रदायी भक्त लोग निम्बार्काचार्य के आरिर्भाव का काल आज से पांच हजार वर्ष पूर्व मानते हैं। उनके मत से २०१३ वा विक्रमी वर्ष निम्बार्क का ५०५१ वा वर्ष है। ऐतिहासिक रीति पर विचार करने पर हम इस संप्रदाय का आरंभ १२वीं से पूर्व नहीं मान सकते। १२वीं शती में निम्बार्क का जन्म आन्ध्र प्रदेश में हुआ था। उन्होंने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त पर आधारित वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया, वे बाद में बृन्दावन में आकर रहने भी लगे थे। अन्य वैष्णव संप्रदायों की तरह इस संप्रदाय के भक्तों ने भी भक्ति-साहित्य का निर्माण किया। श्रीमद्, हरिव्यासदेवाचार्य, परशुरामाचार्य ये तीन इस संप्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य और गुरु शिष्य परंपरा से क्रमिक उत्तराधिकारी के रूप में समझे माने जाते हैं। इन तीनों ही आचार्य-कवियों के जीवन वृत्त का यथातथ्य पता नहीं लग पाया है। श्रीमद् का परिचय देते हुए शुक्ल जी लिखते हैं 'इनका जन्म संवत् १५६५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता काल संवत् १६२५ या इससे कुछ आगे तक माना जाता है। युगल शतक के अतिरिक्त इनकी एक छोटी सी रचना आदि बानी भी मिलती है।'^१ शुक्ल जी ने जन्म-काल को जिस तरह अनुमान रूप में १५६५ विक्रमी बताया वैसे ही 'युगल शत' के साथ ही 'आदि बानी' का भी अनुमान कर लिया। आदिबानी और युगलशतक दोनों एक ही चार्जे हैं। ब्रजभाषा की निम्बार्क संप्रदाय गत पहली रचना होनेके कारण यह आदिबानी कहलाई। शुक्ल जी ने हरिव्यासदेवाचार्य और परशुराम के बारे में कुछ नहीं लिखा। डा० दीनदयाल गुप्त ने अष्टछाप से पहले हिन्दी में कृष्णभक्ति काव्य की परम्परा का सन्धान करते हुए ब्रह्मचारी बिहारीशरण की 'निम्बार्कमाधुरी' में उपर्युक्त कवियों पर लिखे हुए जीवन-वृत्त को अप्रामाणिक बताया है।^१ बिहारीशरण जी ने श्रीमद् का समय १३५२ विक्रमी और उनके शिष्य हरिव्यास जी का १३२० विक्रमी दिया था। डा० गुप्त लिखते हैं 'वस्तुतः ब्रह्मचारी जी ने इन दोनों भक्तों की विद्यमानता का संकट गलत दिया है। निम्बार्क संप्रदायी तथा युगल शतक के रचयिता श्रीमद् केशव कश्मीरी के शिष्य माने जाते हैं। इनका (श्रीमद् का) रचना काल संवत् १६१० विक्रमी है। श्री हरिव्यास देव का रचना काल भी दरदास के समय का ही है। वैसे निम्बार्क संप्रदायी हरिव्यास देव जी आयु में सूर से बड़े थे।'^१ डा० गुप्त ने अपनी स्थापना के मण्डन के लिए कोई आधार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संवत् २००७, काशी, पृ० १८८

२. अष्टछाप और ब्रह्म संप्रदाय, प्रयाग, २००४ विक्रमी, पृ० ३५

३. वही, पृ० २५

गोविंद भक्ति गद्द रोग गति तिलक दास सद् वैद हद्द
जंगली देस के लोग सब परशुराम किय पारपद

नाभादास के इस छप्पय में श्रीभट्ट के बाद हरिव्यास और परशुराम को क्रमशः शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है। परशुराम के विषय में नाभादास ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्घाटन भी किया है। परशुराम ने 'जंगली देस' के लोगों को वैष्णव बनाया। यह 'जंगली देस के लोग' पद कुछ उलझा हुआ प्रतीत होता है। 'जंगली' शब्द लोगों के अस्तम्भ, घर्ष और अतस्कृत होने का आभास तो देता ही है किन्तु मूलतः यह देशभेद सूचित करता है जागल देश राजस्थान के एक हिस्से का नाम था। संभवतः दिल्ली मेरठ के क्षेत्र के, जिसे कुरुदेश कहते थे, दक्षिणी भाग को जागल कहते थे। कुरु के पूरब का देश पाचाल या इसी से 'कुरुपाचाल' और 'कुरुजागल' दोनों पदों का उल्लेख मिलता है। वैसे जागल किसी भी ऐसे हिस्से को कहा जाता था जो अल्लोदक, तुंगहीन, सूखा देश हो तथा जहाँ हना और गर्मी तेज रहती हो। भावप्रकाश में जागल देश का परिचय देते हुए कहा गया है कि शुभ्र आकाश वाला तथा थोड़े जल से पैदा होनेवाले पौधों शमी, करीर, बिल्व, अर्क, पीरु, कर्कशु आदि से भरा हुआ देश जागल कहा जाता है।^१ इन विशेषताओं से युक्त राजस्थान के किसी हिस्से को जागल कहना उचित ही है। महाभारत में मद्र और जागल का नाम साथ आता है।^२ मद्र रावी और कैलम के बीच का देश था, इस प्रकार जागल उसके दक्षिण का प्रदेश (राजस्थान) कहा जा सकता है। इस प्रकार परशुराम सबन्धी छप्पय में 'जंगली देस' का अर्थ जागल देश अर्थात् राजपूताना का भूभाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगों को 'पारपद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्य-क्षेत्र का एकदम ठीक-उल्लेख किया है। क्योंकि परशुराम देव राजस्थान के सलेभासाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति प्रचार का कार्य करते थे। आज भी उक्त नगर में निम्गार्क पीठ स्थापित है। वहाँ परशुराम की इहलौकिक लीला भी सनात हुई थी। इस प्रकार नाभादास को यह मादम् या कि परशुराम ने जागल देश के जंगली लोगों को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक कानन बड़े भूभाग को अस्तम्भ से सभ्य या भक्त बनाना कुछ सनय सापेक्ष व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास (१६४३ संवत्) से पूर्व तो ये ही, भक्ति प्रचार का कार्य तो उन्होंने और भी बहुत परले से किया होगा। इस तरह परशुराम विक्रमी १६०० के आस पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।

§ २२३. परशुराम रागरमें विप्रमती गन्ध की पुणिका से भी कुछ लोगों को भ्रम हुआ है। उक्त पुणिका इस प्रकार है :

१. अहरोदकनृगो अस्तु प्रवातः प्रचुरातपः
संज्ञेयो जांगलो देशो बहुधान्यादिसंपुतः (रत्नावली)
२. आकाशः शुभ्र उच्चरथ स्वल्पपानीयपादपः
शमी-करीर बिल्वार्क पालुकर्कशुसंकुलः (भावप्रकाशम्) ।
३. सत्यैने कुरपांचालः शल्वा माद्रेय जांगलाः । (महाभारत, भीष्म पर्व, अ० ६)

शिविंद भक्ति गद रोग गति तिलक दास सद वैद हद
जंगली देस के लोग सब परशुराम किय पारपद

नाभादास के इस छुप्य में श्रीभट्ट के दाद हरिव्यास और परशुराम को क्रमशः शिष्य परम्परा में स्थापित किया गया है। परशुराम के विषय में नाभादास ने एक ऐतिहासिक तथ्य का उद्धाटन भी किया है। परशुराम ने 'जंगली देस' के लोगों को वैष्णव बनाया। यह 'जंगली देस के लोग' पद कुछ उलझा हुआ प्रतीत होता है। 'जंगली' शब्द लोगों के असम्भ, बर्बर और अवसक्त होने का आभास तो देता ही है किन्तु मूलतः यह देशभेद सूचित करता है जागल देश राजस्थान के एक हिस्से का नाम था। संभवतः दिल्ली मेरठ के क्षेत्र के, जिसे कुरुदेश कहते थे, दक्षिणी भाग को जागल कहते थे। कुरु के पूरव का देश पांचाल या हसी से 'कुरुपांचाल' और 'कुरुजागल' दोनों पदों का उल्लेख मिलता है। जैसे जागल किसी भी ऐसे हिस्से को कहा जाता था जो अजोध्या, वृणहीन, सूना देश हो तथा जहाँ हना और गर्मी तेज रहती हो। भावप्रकाश में जागल देश का परिचय देते हुए कहा गया है कि शुभ्र आनाथ वाला तथा थोड़े जल से पैदा होनेवाले पौधों शमी, करीर, विल्व, अर्क, पीरु, कर्कशु आदि से भरा हुआ देश जागल कहा जाता है।^१ इन विशेषताओं से युक्त राजस्थान के किसी हिस्से को जागल कहना उचित ही है। महाभारत में मद्र और जागल का नाम साथ आता है।^२ मद्र रावी और जेलम के बीच का देश था, इस प्रकार जागल उसके दक्षिण का प्रदेश (राजस्थान) कहा जा सकता है। इस प्रकार परशुराम सबन्धी छुप्य में 'जंगली देस' का अर्थ जागल देश अर्थात् राजपूताना का भूभाग है। नाभादास के मत से परशुराम ने राजस्थान के लोगों को 'पारपद' यानी वैष्णव भक्त बनाया। नाभादास ने परशुराम के कार्य-क्षेत्र का एकदम ठीक-उल्लेख किया है। क्योंकि परशुराम देव राजस्थान के सलेमादाद (परशुरामपुरी) को केन्द्र बनाकर भक्ति प्रचार का कार्य करते थे। आज भी उक्त नगर में निम्नार्क पीठ स्थापित है। वहाँ परशुराम की इहलौकिक लीला भी स्मरित हुई थी। इस प्रकार नाभादास को यह मादूम था कि परशुराम ने जागल देश के जंगली लोगों को भक्त बनाया। परशुराम के इस विशेष कार्य का उल्लेख भी ध्यान देने की वस्तु है। एक कानो बड़े भूभाग को असम्भ से सम्भ या भक्त बनाना कुछ समय सापेक्ष व्यापार है। मेरे कहने का मतलब यह कि परशुराम नाभादास (१६४३ संवत्) से पूर्व तो ये ही, भक्ति प्रचार का कार्य तो उन्होंने और भी बहुत पहले से किया होगा। इस तरह परशुराम विक्रमी १६०० के आस पास या उसके पूर्व वर्तमान थे।

§ २२३. परशुराम आगरमें निरमती गन्य की पुधिका से भी कुछ लोगों को भ्रम हुआ है। उक्त पुधिका इस प्रकार है :

१. अजोध्याकृष्णो अस्तु प्रवातः प्रचुरातपः
संगेयो जांगली देशो बहुधान्यादिसंयुतः (रत्नावली)
२. आकाशः शुभ्र उच्चरच स्वहयपानीयपादपः
शमी-करीर विल्वार्क पौलुकर्कशुसंजुलः (भावप्रकाशम्) ।
३. तल्लैने कुरुपांचालाः शरत्वा माद्वेय जांगलाः । (महाभारत, भाष्य पर्व, अ० ६)

१३ ग्रथों की यह सूची नागरीप्रचारिणी सभा खोज रिपोर्ट (१६३२-३४) में प्रस्तुत की गई। डा० मोतीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रथों की खोज में परशुराम के २२ ग्रथों की सूची दी है।^१

(१) साखी का जोडा (२) छुद का जोडा (३) सवैया दम अत्रतार का (४) खुनाथ चरित (५) श्रीकृष्ण चरित (६) सिंगार मुदामा चरित (७) द्रौपदी का जोडा (८) छुप्यप राज प्राह कौ (९) प्रह्लाद-चरित (१०) अमरगोच-लीला (११) नामनिधि-लीला (१२) शौच निषेध लीला (१३) नाथ लीला (१४) निज रूप लीला (१५) श्री हरिलीला (१६) श्री निर्वाण लीला (१७) समझणी लीला (१८) तिथि लीला (१९) नद-लीला (२०) नक्षत्र-लीला (२१) श्री बावनी लीला (२२) विप्रमती तथा ७५० के लगभग कुत्रकल पद।

ऊपर की १३ रचनाओं में पदावली और वार लीला को छोड़कर बाकी ११ ग्रथ दूसरी सूची में भी शामिल हैं। पहली सूची रागरथ नाम लीला निधि (न० ७) दूसरी सूची नामनिधि लीला (न० ११) से मिलती जुलती है किन्तु 'रागरथ' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। सौच निषेध लीला ही दूसरी में शौच निषेध लीला है।

दोनों सूचियाँ में तिथि लीला, वार लीला (दूसरी में नहीं) बावनी लीला और विप्रमती शामिल हैं जो विषय और नाम दोनों ही दृष्टियों से कबीर की कही जाने वाली इन्हीं नाम की रचनाओं से साम्य रखती हैं। तिथि लीला में परशुराम और कबीर दोनों ही अभावस्था से पूर्णिमा तक का वर्णन सन्तोषित दग से किया है। कबीर कहते हैं 'कबीर नाचस मन में राख न करना, गुरु प्रनाथ इमि दूतर तरना। पडिवा प्रीन पीव सँ लागी, मसा मिथ्या तव सकया भागी।' इसी को परशुराम इन शब्दों में कहते हैं 'मानस में तै दोऊ डारी, मन मगल अतर लै सारी। पडिवा परमतत ल्यौ लाई। मन कूँ पकरि प्रेम रस पाई।' कबीर मानस में गर्व न करने को कहते हैं परशुराम 'मैं तैं' की अहमन्यता को छोड़ने की सलाह देते हैं। प्रतिपदा में कबीर मन को अनुशासित करके प्रिय से प्रीति करते हैं जबकि परशुराम मन को पकड़कर प्रियतम लवलीन करने की बात करते हैं।

वारलीला ग्रन्थ में कबीर लिखते हैं

कबीर वार-वार हरि का गुन गाऊँ, गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ
सोय वार ससि अमृत भरै, पाँवत वेगि तवै निस्तारै
परशुराम की वारलीला में इसी को इस दग से कहा गया है -

वार-वार निज राम सभाहँ,
रतन जनम भ्रम बाद न हाहँ
सोम सुरति करि साँतल वारा,
देप सकल व्यापक व्योहारा
सोन विसरि जाको निस्तारा,
समदष्टि होइ सुमरि अपारा।

१. प्रथम भाग, संपादक मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १४२

१३ ग्रंथों की यह सूची नागरीप्रचारिणी सभा खोज रिपोर्ट (१९३२-३४) में प्रस्तुत की गई। डा० मातीलाल मेनारिया ने राजस्थान में हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों की खोज में परशुराम के २२ ग्रंथों की सूची दी है।^१

(१) साखी का जोड़ा (२) छद्म का जोड़ा (३) सवैया दम अन्तार का (४) खुनाथ चरित (५) श्रीकृष्ण चरित (६) सिंगार सुदामा चरित (७) द्रौपदी का जोड़ा (८) छुप्यप राज ग्राह कौ (९) प्रह्लाद-चरित (१०) अमरजोध-लीला (११) नामनिधि-लीला (१२) शौच निषेध लीला (१३) नाथ लीला (१४) निज रूप लीला (१५) श्री हरिलीला (१६) श्री निर्वाण लीला (१७) समभङ्गी लीला (१८) तिथि लीला (१९) नद-लीला (२०) नङ्ग-लीला (२१) श्री बावनी लीला (२२) विप्रमती तथा ७५० के लगभग कुटुंबल पद।

ऊपर की १३ रचनाओं में पदावली और वार लीला को छोड़कर बाकी ११ ग्रंथ दूसरी सूची में भी शामिल हैं। पहली सूची रागरथ नाम लीला निधि (न० ७) दूसरी सूची नामनिधि लीला (न० ११) से मिलती जुलती है किन्तु 'रागरथ' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। शौच निषेध लीला ही दूसरी में शौच निषेध लीला है।

दोनों सूचियाँ में तिथि लीला, वार लीला (दूसरी में नहीं) बावनी लीला और विप्रमती शामिल हैं जो विषय और नाम दोनों ही दृष्टियों से कबीर की कही जाने वाली इन्हीं नाम की रचनाओं से साम्य रखती हैं। तिथि लीला में परशुराम और कबीर दोनों ही अभावस्था से पूर्णतया तक का वर्णन सन्तोचित ढंग से किया है। कबीर कहते हैं 'कबीर भावस मन में गरब न करना, गुरु प्रनाप इमि दूतर तरना। पडिवा प्रीत पीव सँ लागी, मसा मिथ्या तव सव्या भागी।' इसी को परशुराम इन शब्दों में कहते हैं 'मानस में तैं दोज़ जारी, मन मगल अतर लै सारी। पडिवा परमतत ल्यौ लाई। मन कूँ पकरि प्रेम रस पाई।' कबीर मानस में गर्व न करने को कहते हैं परशुराम 'मैं तैं' की अहमन्यता को छोड़ने की सलाह देते हैं। प्रतिपदा में कबीर मन को अनुशासित करके प्रिय से प्रीति करते हैं जबकि परशुराम मन को पकड़कर प्रियतम लवलीन करने की बात करते हैं।

वारलीला ग्रन्थ में कबीर लिखते हैं

कबीर वार-वार हरि का गुन गाऊँ, गुरु गमि भेद सहर का पाऊँ
सोम वार ससि अमृत ऋरै, पाँवत वेगि तवै निस्तारै
परशुराम की बारलीला में इसी को, इस ढंग से कहा गया है -

वार-वार निज राम सभारूँ,
रतन जनम भ्रम वाद न हारूँ
सोम सुरति करि साँतल वारा,
देप सकल व्यापक व्यौहारा
सोन बिसरि जाओ निस्तारा,
समदष्टि होइ सुमरि अपारा।

१. प्रथम भाग, सपादक मोतीलाल मेनारिया, उदयपुर। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य', पृ० १४२

स्व० डा० पीताम्बर दत्त उड्डवाल ने उचित ही लिखा 'परशुराम का रचनामाल शत नहीं है वे कबीर से पहले के हैं या पीछे के यह भी ज्ञात नहीं। इसलिए पूर्ववत्ता संन्ध से भी इस विषय में कोई निर्णय नहीं हो सक्ता। परंतु इतना निश्चय है कि औरों की भी कुछ रचनायें कबीर के नाम से चल पड़ी हैं। कबीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनायें स्वामी सुप्तानन्द और वज्रना जी के नाम से मिलती हैं। कबीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरों के नाम से चल पड़ेगी यह कम संभव है। अधिक संभव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगों की रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हों। और उनके कर्ताओं को लोग भूल गए हों।'

§ २२६ नीचे श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुराम और तत्पुत्रों की कविताओं ने कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। श्रीभट्ट का कविता नाम 'हिरू', हरिव्यास देव का 'हरिप्रिया' और परशुराम का 'परमा' था। निम्बार्क संप्रदायी आचार्य कवियों के उभयनामों की सूची सर्वेश्वर में प्रकाशित की गई है।^१ इसमें प्रायः ४५ आचार्यों के अन्तरग नामों का विवरण दिया हुआ है।

श्रीभट्ट जी के मुगलसत^२ का एक पद—

सुकर मुखर निरखत दोऊ सुख ससि नैन चकोर ।
गोर स्याम अभिराम अति छत्रां फवां कहु धोर ॥
गोर स्याम अभिराम विराजै ।
अति उमंग अंग अंग भरे रंग सुकर मुखर निरखत नहि ल्याजै ।
कठ सो कठ बाहु घोवा मिलि प्रतिवितित तन उपमा लाजै ॥
नैन चकोरि विलोक पदन ससि आनद सिंधु मगन भए आजै ।
नील निचोल पीत पटके तट मोहन मुकुट मनोहर राजै ॥
घटा छटा भांख डल कोदउ दोउ तन एक देस छवि छाजै ।
गावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन मुख सुर नीसुर बाजै ॥
अमित अटक परे दपति हग मूरति मनहु एक हों साजै ॥

श्री हरिव्यास देव की महावाणी^३ से—

हौं कहा कहीं सुख फूल भई ।
फूले फूल फवें सब वन में तन मन कां सब सूल गई ॥
फूल दिसन विदसन में फूलै छिति भम्बर में फूल छई ।
फूलां रता द्रुम सरित सरब में रग गृग सब ठां फूल छई ॥
फूल निकुन निलय निकरनि में वरन वरन में फूल नई ।
ओ 'हरिप्रिया' निरख नैन छवि फूलन के उर फूल भई ॥

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, सवन् १९६७, पृ० ३३४

२. सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक ७, वृन्दावन पृ० २८

३. वृन्दावन से प्रकाशित। दूसरा काशी नागरीप्रचारिणी सभा, शीघ्र प्रकाशित करने वाली है।

४. निम्बार्क—माधुरी में सकलित

स्व० डा० पीताम्बर दत्त उड्डवाल ने उचित ही लिखा 'परशुराम का रचनामाल ज्ञात नहीं है वे कबीर से पहले के हैं या पीछे के यह भी ज्ञात नहीं। इसलिए पूर्ववत्ता संस्य से भी इस नियम में कोई निर्णय नहीं हो सकता। परंतु इतना निश्चय है कि औरों की भी कुछ रचनायें कबीर के नाम से चल पड़ी हैं। कबीर के नाम से प्रसिद्ध कुछ रचनायें दत्तामी सुजानन्द और वरदाना जी के नाम से मिलती हैं। कबीर जैसे प्रसिद्ध व्यक्ति की रचना दूसरों के नाम से चल पड़ेगी यह कम सम्यक है। अधिक संभव यही है कि कम प्रसिद्ध लोगों की रचनाएँ कबीर के नाम से चल पड़ी हों। और उनके कर्ताओं को लोग भूल गए हों।'^१

§ २२६ नीचे श्रीभट्ट, हरिव्यासदेव, परशुराम और तत्ववेत्ता की कविताओं ने कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। श्रीभट्ट का कविता नाम 'द्वि', हरिव्यास देव का 'हरिप्रिया' और परशुराम का 'परमा' था। निम्नार्क संप्रदायी आचार्य कवियों के उभयनामों की सूची सर्वेश्वर में प्रकाशित की गई है।^२ इसमें प्रायः ४५ आचार्यों के अन्तरग नामों का विवरण दिया हुआ है।

श्रीभट्ट जी के युगलसत^३ का एक पद—

सुकर मुखर निरखत दोऊ सुख ससि नैन चकोर ।

गोर स्याम अभिराम अति छत्रां फवां कहु घोर ॥

गोर स्याम अभिराम विराजै ।

अति उमंग अंग अग भरे रंग सुकर मुखर निरखत नहि ल्याजै ।

कठ सो कठ बाहु घोवा मिलि प्रतिबिम्बित तन उपमा लाजै ॥

नैन चकोरि विलोक वदन ससि आनद सिंधु मगन भए भाजै ।

गोल निचोल पीत पटके तट मोहन मुकुट मनोहर राजै ॥

घटा छटा आँख डल कोदउ दोड तन एक देस छवि छाजै ।

गावत सहित मिलत गति प्यारी मोहन सुख सुर नीसुर वाजै ॥

अमिद भटक परे दपति दग मूरति मनहु एक हो साजै ॥

श्री हरिव्यास देव की महावाणी^४ से—

हौं कहा कहीं सुख फूल भई ।

फूले फूल फवें सब वन में तन मन की सब मूल गई ॥

फूल दिसन विदसन में फूलै छिति अम्बर में फूल छई ।

फूली रता द्रुग सरित सरब में खग मृग सब ठां फूल दई ॥

फूल निकुज निलय निकरनि में वरन वरन में फूल नई ।

ओ 'हरिप्रिया' निरख नैन छवि फूलन के उर फूल भई ॥

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, सवत् १९९७, पृ० ३३४

२. सर्वेश्वर, वर्ष ४ अंक ७, वृन्दावन पृ० २८

३. वृन्दावन से प्रकाशित। दूसरा काशी नागरीप्रचारिणी सभा, शीघ्र प्रकाशित करने वाली है।

४. निम्नार्क—माधुरी में मकलित

धरम मार्ग खड़ धार करम मारग कतु नाहीं ।
साध मार्ग सिर ताज सिद्ध मारग मन माहीं ॥
जोग मार्ग जोगेन्द्र जोगि जोगेश्वर जानै
हरिमारग हरिराइ वेद भागवत बखाने ।
सतवेत्ता तिहुँ लोक में विविध मार्ग विस्तरि रखा ।
सब मारग को सुमिरतां परम मार्ग परचै भया ॥

नरहरि भट्ट

§ २२७. नरहरि भट्ट उन्न में सूरदास के समवयस्क थे । उनके रचनाकाल को देखते हुए हम उन्हें सूरदास से कुछ पहले का या सम-सामयिक कवि मान सकते हैं, फिर भी नरहरि भट्ट की रचनायें कई दृष्टियों से सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य को समझने में सहायक हो सकती हैं । भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इसकी अन्तः प्रवृत्तियाँ अष्टछापी कवियों की भाषा से उतना साम्य नहीं रखती जितना अपनी पूर्ववर्ती चारण शैली की पिगल भाषा से । उसी प्रकार काव्य और उसके रूप-उपादान भी सूर कालीन काव्य चेतना से उतना प्रभावित नहीं है जितना अपभ्रंश और पिगल काव्य रूपों और उनकी शैली से ।

नरहरि की जन्म तिथि का निर्णय करने के लिये कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है । उनके वंशजों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि उनका जन्म संवत् १५६२ में हुआ था । पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म-काल संवत् १५६२ ही मानते हैं ।^१ नरहरि की रचनाओं के श्रंतर्गत्य से प्रमाणित होता है कि हुमायूँ के दरबार में उनका आना-जाना था । उन्होंने हुमायूँ और शेरशाह के युद्ध का बड़ा विशद् और चित्रात्मक वर्णन किया है । इस प्रकार के विम्बपूर्ण वर्णन रिपति के सूक्ष्म निरीक्षण के बिना संभव नहीं है । डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल इसी आधार पर यह अनुमानित करते हैं कि नरहरि हुमायूँ के संपर्क में संवत् १५६० के आस-पास आये होंगे क्योंकि शेरशाह और हुमायूँ का युद्ध विक्रमी संवत् १५६७ के बैराल में हुआ था और यदि इस दृष्टि से देखें तो नरहरि का हुमायूँ के दरबार में प्रवेश कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ होगा और तदर्थ पाँच-सात वर्ष की मैत्री भी आवश्यक है । 'ऐसा लगता है कि नरहरि किसी एक नरेश के निश्चित सभा-कवि नहीं थे और उनका कई दरबारों के साथ संबन्ध था क्योंकि उनकी रचनाओं में बाबर, हुमायूँ, अकबर, शेरशाह और उसके पुत्र सलीम शाह की प्रशस्तियाँ मिलती हैं । बाबर के विषय में नरहरि का यह पद्य काफी महत्व का है ।'^२

मेक बरत दिल पाक सखी जवां मर्द शेर नर
अम्बलं भलो खुदाय दिया तिरिपार भल्क जर

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०३

२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ, पृ० ६६ । इस छुपप्य को और भी कई लोगो ने उद्धृत किया है । देखिए महाकवि नरहरि महापात्र, पृ० २२८ विशाल भारत, मार्च, १९४६ तथा नरहरि महापात्र और उनका घराना-संमेलन पत्रिका, पौष संवत् १९६६ । हिन्दुस्तानी, भाग २७, पृ० सं० ५

धरम मार्ग खड़ धार करम मारग कहु नाहीं ।
साथ मार्ग सिर ताज सिद्ध मारग मन माहीं ॥
जोग मार्ग जोगेन्द्र जोगि जोगेश्वर जायें
हरिमारग हरिराह वेद भागवत बखाने ।
तत्तवेत्ता तिहूँ लोक में विविध मार्ग विस्तरि रद्या ।
सब मारग को सुमिरतां परम मार्ग परचै भया ॥

नरहरि भट्ट

§ २२७. नरहरि भट्ट उद्य में सूरदास के समवयस्क थे । उनके रचना काल को देखते हुए हम उन्हें सूरदास से कुछ पहले का या सम-सामयिक कवि मान सकते हैं, फिर भी नरहरि भट्ट की रचनायें कड़े दृष्टियों से सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसके साहित्य को समझने में सहायक हो सकती हैं । भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट मालूम होगा कि इसकी अन्तः प्रवृत्तियाँ अष्टछापी कवियों की भाषा से उतना साम्य नहीं रखती जितना अरनी पूर्ववर्ती चारण शैली की पिगल भाषा से । उसी प्रकार काव्य और उसके रूप-उपादान भी सूर कालीन काव्य चेतना से उतना प्रभावित नहीं है जितना अपभ्रंश और पिगल काव्य रूपों और उनकी शैली से ।

नरहरि की जन्म तिथि का निर्णय करने के लिये कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है । उनके वंशजों में ऐसा विश्वास प्रचलित है कि उनका जन्म संवत् १५६२ में हुआ था । पं० रामचन्द्र शुक्ल इनका जन्म-काल संवत् १५६२ ही मानते हैं ।^१ नरहरि की रचनाओं के श्रंतसौक्ष्म्य से प्रमाणित होता है कि हुमायूँ के दरबार में उनका आना-जाना था । उन्होंने हुमायूँ और शेरशाह के युद्ध का बड़ा विशद और चित्रात्मक वर्णन किया है । इस प्रकार के विम्बपूर्ण वर्णन स्थिति के सूक्ष्म निरीक्षण के बिना संभव नहीं है । डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल इसी आधार पर यह अनुमानित करते हैं कि नरहरि हुमायूँ के संपर्क में संवत् १५६० के आस-पास आये होंगे क्योंकि शेरशाह और हुमायूँ का युद्ध विक्रमी संवत् १५६७ के बैशाख में हुआ था और यदि इस दृष्टि से देखें तो नरहरि का हुमायूँ के दरबार में प्रवेश कुछ वर्ष पूर्व ही हुआ होगा और तदर्थ पाँच-सात वर्ष की मैत्री भी आवश्यक है । 'ऐसा लगता है कि नरहरि किसी एक नरेश के निश्चित सभा-कवि नहीं थे और उनका कई दरबारों के साथ संबन्ध था क्योंकि उनकी रचनाओं में बाबर, हुमायूँ, अकबर, शेरशाह और उसके पुत्र सलीम शाह की प्रशस्तियों मिलती हैं । बाबर के विषय में नरहरि का यह पद्य काफी महत्व का है ।^२

नेक बरत दिल पाक सखी जवां मर्द शेर नर
अबलं अली खुदाय दिया तिरिपार भल्ल कर

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १०३
२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ, पृ० ६६ । हम छप्पय को और भी कई लोगों ने उद्धृत किया है । देखिए महाकवि नरहरि महापात्र, पृ० २२२ विशाल भारत, मार्च, १९४६ तथा नरहरि महापात्र और उनका घराना-संमेलन पत्रिका, पौष संवत् १९१६ । हिन्दुस्तानी, भाग २७, पृ० सं० ५

अपेक्षाकृत इस प्रकार के व्यंजन द्वित्व की सुरक्षा की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है, फिर भी एक दम अभाव नहीं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल छुप्य छुन्दों में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। सच तो यह है कि भाषा में विकास तभी आता है जब कवि सामाजिक विकास की चेतना को ग्रहण करता है। नरहरि भट्ट चारण शैली के कवि थे इसलिए उनकी भाषा में पुरानी परंपरा का पालन ही दिखाई पड़ता है।

§ २२२. उद्बृत्त स्वरों की विवृत्ति भी सुरक्षित है। परवर्ता अपभ्रंश से उद्बृत्त स्वरों को सधि प्रक्रिया से सयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। ब्रजभाषा में उद्बृत्त स्वरों का नितान्त अभाव पाया जाता है किन्तु नरहरि की भाषा में अपभ्रंश की पुरानी प्रवृत्ति यानी उद्बृत्त स्वरों की सुरक्षा पूर्णतः वर्तमान है।

करउ (वादु १ > करौ), गहइ (वादु ११ > ब्रज० गहै), रण्यउ (वादु ११ > ब्रज० राखौ), कइइ (वादु १२ > ब्रज० कहै), लहइ (वादु > ब्रज लहै), रुक्मिणी मगल में इस प्रकार के प्रयोग कम हैं। किन्तु क्रिया रूपों में वहाँ भी विकास नहीं दिखाई पड़ता। जैसे—

पठाएउ > पठावौ, बुलाएउ > बुलावौ, बनाएउ > बनावौ, कीन्हेउ > कीन्हों, दीन्हेउ > दीहों, रोवइ > रोवै, जोवइ > जोवै, शाधेउ > साथ्यौ, अवरधेउ > अवरध्यौ, कलइ > कलवै, तलइ > तलवै।

यहाँ भूत निष्ठा के कृदन्तब्र रूपों की ध्वनि प्रक्रिया काफी महत्वपूर्ण और विचारणीय है। अपभ्रंश में कइउ, सुनिउ आदि रूप पाये जाते हैं। ब्रज में इन्हीं के कइौ, सुन्यौ आदि हो जाते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में जो रूप मिलते हैं वे इन दोनों की मध्यवर्ता अवस्था की सूचना देते हैं। जैसे—

अर० साधिउ > नर० साधेउ > ब्रज साथ्यौ, अर० अवरधिउ > नर० अवरधेउ > ब्रज अवरध्यौ।

§ २३०. कारक विभक्तियों की दृष्टि से भी नरहरि की भाषा में पुराने तत्त्व मिलते हैं। जगदीस कह (वादु १ > जगदीस कौ), अप्पु मह (वादु २ > आपु मैं), मोहिं लगि (वादु १०), तिन्ह के (वादु १६ > तिनकैं), इत्यह (वादु १७, पद्यी विभक्ति युक्त), जुगह (वादु ३७२ सविभक्तिक पद्यी), चित्तह गुनिय (वादु ३७३ सविभक्तिक सतमी)। इस प्रकार की विभक्तियों के प्रयोग ब्रजभाषा में सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ते।

§ २३१ परसगों के प्रयोग भी काफी पुराने हैं। चतुर्थीं लगि रूप आरम्भिक ब्रज में मिलता है (देखिये § २१७) किन्तु परवर्ता ब्रज में धीरे धीरे लौं की प्रधानता हो गई है। नरहरि में इस तरह के रूप मिलते हैं। केहि काज लगि (वादु ४) केसव भट्ट पह (वादु ३७७) अनाथ नाथ कउ (वा० मासा ११३, ब्रज कौ) एकह (वारह मासा ११३ इस कौ) परसगों की दृष्टि से 'न्हे' का प्रयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। १४ शताब्दी के पूर्व किसी भी अवहट्ट ग्रंथ में 'ने' का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कीर्तिन्ता में ही 'न्हे' का प्रयोग मिलते हैं। प्रद्युम्न चरित, हरिचन्द्र पुराण जैसे पन्द्रहवीं शती के ब्रजभाषा ग्रंथ में भी 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। नरहरि भट्ट की भाषा में ने के प्रयोग कोई आश्चर्यजनक नहीं कहे जायेंगे क्योंकि उस काल में सूर आदि की भाषा में भी ये प्रयोग मिलते हैं। प्रयोग का महत्त्व

अपेक्षाकृत इस प्रकार के व्यंजन द्वित्व की सुरक्षा की प्रवृत्ति कम दिखाई पड़ती है, फिर भी एक दम अभाव नहीं। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि केवल छुप्य छन्दों में ही इस प्रकार की प्रवृत्ति मिलती है। सच तो यह है कि भाषा में विकास तभी आता है जब कवि सामाजिक विकास की चेतना को ग्रहण करता है। नरहरि भट्ट चारण शैली के कवि थे इसलिए उनकी भाषा में पुरानी परंपरा का पालन ही दिखाई पड़ता है।

§ २२९ उद्धृत स्वरों की विवृति भी सुरक्षित है। परवर्ती अपभ्रंश से उद्धृत स्वरों को सधि प्रक्रिया से सयुक्त स्वर बनाने की प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। ब्रजभाषा में उद्धृत स्वरों का नितान्त अभाव पाया जाता है किन्तु नरहरि की भाषा में अपभ्रंश की पुरानी प्रवृत्ति यानी उद्धृत स्वरों की सुरक्षा पूर्णतः वर्तमान है।

करउ (वाहु १ > मज करौं), गइइ (वाहु ११ > मज० गइ), रण्यउ (वाहु ११ > मज० राखौ), कइइ (वाहु १२ > मज० कइ), लइइ (वाहु > मज लइ), रविमणी मगल में इन प्रकार के प्रयोग कम हैं। किन्तु क्रिया रूपों में वहाँ भी विकास नहीं दिखाई पड़ता। जैसे—

पढाएउ > पढायौ, बुलाएउ > बुलायौ, बनाएउ > बनायौ, कीन्हेउ > कीन्हों, दीन्हेउ > दीहों, रोवइ > रोवै, जोवइ > जोवै, शाधेउ > साध्यौ, अवरधेउ > अवरध्यौ, कलइ > कल्पै, तलइ > तल्पै।

यहाँ भूत निष्ठा के कृदन्तत्र रूपों की ध्वनि प्रक्रिया काफी महत्वपूर्ण और विचारणीय है। अपभ्रंश में कहिउ, सुनिउ आदि रूप पाये जाते हैं। ब्रज में इन्हीं के कइौ, सुन्यौ आदि हो जाते हैं। नरहरि भट्ट की भाषा में जो रूप मिलते हैं वे इन दोनों की मध्यवर्ती अवस्था की सूचना देते हैं। जैसे—

अप० साधिउ > नर० साधेउ > मज साध्यौ, अ० अवरधिउ > नर० अवरधेउ > मज अवरध्यौ।

§ २३०. कारक विभक्तियों की दृष्टि से भी नरहरि की भाषा में पुराने तत्व मिलते हैं। जगदीस कह (वाहु १ > जगदीस कौं), अ०पु मह (वाहु २ > आपु मैं), मोहिं लगि (वाहु १०), तिन्ह के (वाहु १६ > तिनकैं), इत्थइ (वाहु १७, पद्यी विभक्ति युक्त), जुगह (वाहु ३१०२ सविभक्तिक पद्यी), चित्तह गुनिय (वाहु ३१०३ सविक्तिक सतमी)। इस प्रकार की विभक्तियों के प्रयोग ब्रजभाषा में सुरक्षित नहीं दिखाई पड़ते।

§ २३१ परसगों के प्रयोग भी काफी पुराने हैं। चतुर्थी लगि रूप आरम्भिक ब्रज में मिलता है (देखिये § ११७) किन्तु परवर्ती ब्रज में धीरे धीरे लौं की प्रधानता हो गई है। नरहरि में इस तरह के रूप मिलते हैं। केहि काज लगि (वाहु ४) केसव भट्ट पह (वाहु ३१७७) अनाथ नाथ कउ (वा० मासा ११३, मज कौ) एकइ (वारह मासा ११३ इस कौ) परसगों की दृष्टि से 'न्हे' का प्रयोग अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। १४ शताब्दी के पूर्व किसी भी अवदृष्ट ग्रंथ में नें का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल कीर्तिन्ता में ही 'न्हे' का प्रयोग मिलते हैं। प्रद्युम्न चरित, हरिचन्द पुराण जैसे पन्द्रहवीं शती के ब्रजभाषा ग्रंथ में भी 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। नरहरि भट्ट की भाषा में ने के प्रयोग कोई आश्चर्यजनक नहीं कहे जायेंगे क्योंकि उस काल में सूर आदि की भाषा में भी ये प्रयोग मिलते हैं। प्रयोग का महत्व

कुम को सबद मान लिया। यद्य के इस निष्कर्ष ने काशी भ्रान्ति पैदाई और बहुत से विद्वानों ने कई प्रकार के साक्ष्यों के आधार पर मीरा को उक्त काल से संबद्ध बताया। गुजराती विद्वान् श्री गोवर्धन राय माधोराय त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक 'कैसिकुल पौपट्म आव गुजरात' में मीरा का समय १५वीं शताब्दी निर्धारित किया।^१ उसी प्रकार श्री कृष्णलाल मोहन लाल भवेरी ने भी मीरा का जन्म १४०३ ईस्वी के आस-पास तथा उनकी मृत्यु का समय, ६७ वर्ष की उम्र में, १४७० ईस्वी में बताया है।^२ श्री हर्षविनायक सारदा ने अपनी पुस्तक 'महाराणा सांगा' में मीरा को राव दूदा (सन् १४६१-६२) के चौथे पुत्र खत सिंह की पुत्री बताया है।^३ विलियम कुक ने एनरिस आव राजस्थान में जेम्स यद्य के मीरा-विषयक मत के साथ सारदा का मत भी टिप्पणी में दिया है। इस प्रकार एक पक्ष के लोग मीरा को १५वीं शताब्दी का मानते हैं। दूसरी ओर डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओम्ब और श्री देवीप्रसाद जैसे इतिहासकार विलकुल भिन्न धारणा रखते हैं। डा० ओम्ब ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजपूताने के इतिहास में लिखा कि 'लंगों में यह प्रतिदि हो गई है कि बड़ा मन्दिर महाराणा कुम्भ ने और छोटा उसकी रानी मीराबाई ने बनवाया था। इसी जनश्रुति के आधार पर कर्नाड यद्य ने मीराबाई को महाराणा कुम्भा की रानी विश्व दिया। जो मानने योग्य नहीं है। मीराबाई महाराणा सप्रान सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज की स्त्री थी।^४ जो मन्दिर मीराबाई का बनवाया हुआ कहा जाता है वह वास्तव में राणा कुम्भ के द्वारा ही सन् १५०७ में बनवाया गया था। कुम्भ स्वामी और आदि बाबाद दोनों ही मन्दिरों की प्रशस्तिवाँ इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।^५ मुर्शी देवीप्रसाद ने 'मीराबाई जीवनचरित्र' में एक दूसरे पक्ष से यद्य वाली मान्यता का प्रतिपाद किया। उन्होंने लिखा कि 'यह निरन्तर गद्य है क्योंकि राणा कुम्भा तो मीराबाई के पति कुँवर भोजराज के परदादा थे। और मीराबाई के पैदा होने के २५ या ३० वर्ष पहले मर चुके थे। मरान नहीं कि यह भूत राजपूताने के ऐसे बड़े ताराजन्म लियने वाले से क्याकर हो गई। राणा कुम्भा जी का इतकाल सन् १५२५ में हुआ था उस वक्त तक मीराबाई के दादा दूदा जी को मेड़ता भिन्न ही नहीं था। इसलिए मीराबाई राणा कुम्भ की रानी नहीं हो सकती। मुर्शी देवीप्रसाद ने मीराबाई का जन्म काल सन् १५५५ के लगभग माना है।^६ ओम्ब के अनुसार मीरा का विवाह १२ वर्ष की उम्र में राणा सप्रान सिंह के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ। विवाह के बाद सन् १५२० में भोजराज का देहान्त हो गया। मुर्शी देवीप्रसाद ने मीरा का मृत्युकाल सन् १६०३ माना है।

ऊपर के सख्त विवरण से मीरा के जीवन-तथा रचना काल के विषय में इतना पता चलता है कि वे १६०० के पहले वर्तमान थीं और उन्होंने १५२० सन् के आस-पास मक्ति सन्धी कविताओं की रचना शुरू की थी। इस प्रकार यद्यनि मीरा मूर की पूर्ववर्ती नहीं थीं,

१. जी० पुन० त्रिपाठी, कैसिकुल पौपट्म आव गुजरात, पृ० १०
२. के० एम० भावेरी, माइलस्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, पृ० ३०
३. महाराणा सांगा, अजमेर, १९१८, पृ० १५-१६
४. राजपूताने का इतिहास, दूसरा खंड पृ० ६००
५. वही, पृ० ६२२
६. मीराबाई का जीवन चरित्र, पृ० ३१-३२

उसमें खड़ी बोली या पंजाबी का भी कम प्रभाव नहीं दिखाई पड़ेगा, क्योंकि पुरानी हिन्दी की दोनों प्रकार की शैलियों—ब्रज और खड़ी—में लिपि संतवाणी का उनके ऊपर प्रभाव अवश्य पडा था ।

§ २३७, मीराँ की कही जानेवाले निम्नलिखित रचनाओं की सूचना मिलती है ।

- (१) नरसी बी रो माहेरो ।
- (२) गीत गोविन्द को टीका ।
- (३) सोरठ के पद ।
- (४) मीरा बाई का मल्लार ।
- (५) राग गोविन्द ।
- (६) गर्वा गीत ।
- (७) कुटकल पद ।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता काफी सदिग्ध है । 'नरसी बी रो माहेरो' एक प्रकार का मंगल काव्य है जिसमें प्रसिद्ध भक्त नरसी के माहेरा (लडकी या बहन के घर उसके पुत्र या पुत्री की शादी में भाई या बाप की ओर से भेजे गये उपहार) का वर्णन किया गया है । नरसी ने अपनी पुत्री नाना बाई को यह माहेरा भेजा था । इस ग्रंथ की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं होती । गुजराती विद्वानों ने इस ग्रंथ को गुजराती का बताया है किन्तु भाषा त्रिलकुल ही गुजराती नहीं बल्कि स्पष्ट ब्रजभाषा है । इस पुस्तक का आरम्भिक अंश नीचे दिया जाता है :

गणपति कृपा करो गुणसागर जन को जस सुभ गा सुनाऊँ ।

पचिनुम दिसा प्रसिद्ध धाय सुख श्री रणछोद निवासी ।

नरसी को माहेरो मंगल गावे मीराँ दासी ॥१॥

धुत्रो बंस जनम भय जानो नगर भेइते धासी ।

नरसी को जस वरण सुनाऊँ नाना विधि इनिदासी ॥२॥

सखा आपने संग तु लान्हें हरि मन्दिर ये भाये ।

भक्ति कथा आरंभी सुन्दर हरिगुण सीस नवाये ॥३॥

को मडल को देस बखानूँ संतन के जस धारो ।

को नरसी को भयो कौन विध कदो महिराज कुँवारो ॥४॥

भये प्रसङ्ग मीराँ तब भाएयो सुनि सखि मिथिला नामां ।

नरसी की विध गाय सुनाऊँ सामे सब हाँ कामां ॥

धीच में एक जैयवन्ती राग का पद इस प्रकार है ।

सोवत ही पलका में में तो पल लागी थल में पिउ भाये ।

में तु उठी प्रभु आदर देन कूं जाग परी विण हूँ न पाये ॥

और सखी पिब सोय गमाए में तु सखी पिउ जागि गमाए ॥१॥

भाज की बात कहीं कहीं सजनी सपना में हरि लेत छुलाये ।

वस्तु एक जय भ्रम की चकरी भाज भये सखि मन के भाये ॥२॥

उसमें खड़ी बोली या पंजाबी का भी कम प्रभाव नहीं दिखाई पड़ेगा, क्योंकि पुरानी हिन्दी की दोनों प्रकार की शैलियों—ब्रज और खड़ी—में लिपि संतवाणी का उनके ऊपर प्रभाव अवश्य पड़ा था ।

§ २३७. मीराँ की कही जानेवाली निम्नलिखित रचनाओं की रचना मिलती है ।

- (१) नरसी बी रो माहेरो ।
- (२) गीत गोविन्द को टीका ।
- (३) सोरठ के पद ।
- (४) मीरा बाई का मलार ।
- (५) राग गोविन्द ।
- (६) गर्वा गीत ।
- (७) फुटकल पद ।

इन रचनाओं की प्रामाणिकता काफी सदिग्ध है । 'नरसी बी रो माहेरो' एक प्रकार का मंगल काव्य है जिसमें प्रसिद्ध मत्त नरसी के माहेरा (लडकी या बहन के घर उसके पुत्र या पुत्री की शादी में माई या बाप की ओर से भेजे गये उपहार) का वर्णन किया गया है । नरसी ने अपनी पुत्री नाना बाई को यद् माहेरा भेजा था । इस ग्रंथ की कोई प्रामाणिक प्रति उपलब्ध नहीं होती । गुजराती विद्वानों ने इस ग्रंथ को गुजराती का बताया है किन्तु भाषा विद्वज्जुल ही गुजराती नहीं बल्कि स्पष्ट ब्रजभाषा है । इस पुस्तक का आरम्भिक अंश नीचे दिया जाता है :

गणपति कृपा करो गुणसागर जन को जस सुभ गा सुनाऊँ ।

पच्छिम दिसा प्रसिद्ध धाय सुख श्री रणछोड़ निवासी ।

नरसी को माहेरो मंगल गावे मीरां दासी ॥१॥

छत्रो धंस जनम भय जानो नगर भेदते धासी ।

नरसी को जस वरण सुनाऊँ नाना विधि हूतिहासी ॥२॥

सखा आपने संग जु लीन्हें हरि मन्दिर ये भाये ।

भक्ति कथा आरंभी सुन्दर हरिगुण सीस नवाये ॥३॥

को मडल को देस बलानू संतन के जस धारी ।

को नरसी को भयो कौन विध कहो महिराज कुंवारी ॥४॥

भये प्रसङ्ग मीरां तब भाएयो मुनि सखि मिथिला नामां ।

नरसी की विध गाय सुनाऊँ सामे सब हँ कायां ॥

धीच में एक शैजैवन्ती राग का पद इस प्रकार है ।

सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी यल में पिड भाये ।

मैं जु उठी प्रभु भादर देन कूं जाग परी विण हूँ न पाये ॥

और सखी पिब सोय गमाए मैं जु सखी पिड जागि गमाए ॥१॥

भाज की बात कहीं कहीं सजनी सपना में हरि लेत बुलाये ।

वस्तु एक जय प्रेम की चररी भाज भये सखि मन के भाये ॥२॥

यहाँ भी पड़ने लगा था। राजपूत राजाओं के शासन काल में संगीत की चरम उन्नति हुई। कैप्टन डे का विश्वास है कि मुसलमानों के आक्रमण के पहले, देशी नरेशों का शासन-काल संगीत के विकास का सुनहला युग था। वे तो मुसलमानों के आक्रमण को संगीत के हाथ का कारण भी मानते हैं।^१ यह सत्य है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की ध्वसनीति के कारण संगीत और कला को बड़ा आघात पहुँचा किन्तु सभी मुसलमान विनाशकारी स्वभाव के ही नहीं थे। मुसलमानों के भीतर भी बहुत से कलाप्रिय व्यक्ति थे बिनकी उदारता और साधना ने एक नई मिश्रित कला-शैली को जन्म दिया जिसका परिणाम म्यान्मर में ताबनहल, साहित्य में सूरी प्रेमास्वनायक तथा संगीत में हिन्दुस्तानी पद्धति का सूजन था। भीमावन्डे ने हिन्दुस्तानी संगीत की विशिष्टताओं की श्रौं सकेत करते हुए लिखा है कि कम से कम में व्यक्ति गत रूप से यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि विदेशी संस्कृति हमारे लिए अभाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ है। क्या हमारे दक्षिण के बन्धु अपने अनुभवों के आधार पर यह नहीं कहते कि छत्रपती शास्त्रीय कम्पोजरियों के नाचनूद हिन्दुस्तानी संगीत इतना मध्य और आह्लादकारी है कि वे प्रसन्नतापूर्वक अपने पेशेवर संगीतकारों को इत्त सीखने और अनुकरण करने की सलाह देते हैं।^२

राजपूत नरेशों के दरबार में संगीत का बहुत समान था तथा इनमें से कई नरेशों ने भारतीय संगीत के विकास में सक्रिय योग दिया था। इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं (दिल्लि § २२) वहीं पर हमने यह भी निवेदन कर दिया है कि ब्रजभाषा के विगत-नामकरण के पीछे एक कारण यह संगीत भी था जिसके रागों के बीच प्रायः ब्रजभाषा में ही रचित हुए थे।

सुसरो

§ २३२ भारतीय और ईरानी संगीत में समन्वय स्थापित करके उसे एक नई पद्धति का रूप देने में अनिर सुसरो का बहुत बड़ा हाथ है। अनिर सुसरो दोनों संगीत पद्धतियों के मर्मज्ञ विद्वान् थे इसीलिए उन्होंने दोनों के मिश्रण से कुछ ऐसे नये रागों का निर्माण किया जो हिन्दुस्तानी संगीत की अनूल्य निधि हैं। मझीर, साङ्गरी, इमन, उरुगाक, मुगाफिक, गुनन, गिरन, परगबा, सरपया, बरहगर, निरदेन्त, मननू जैसे रागों को उन्होंने सृष्टि की। यही नहीं वाद्य-यंत्रों के परिष्कार तथा नये रागों के उपयुक्त वाद्य-यंत्रों के निर्माण में भी सुसरो ने विश्वव्य प्रतिभा का परिचय दिया।

सुसरो का जन्म एम बिले के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। नाम पनुहुदीन मुहम्मद इस्तन था। सात वर्ष की उम्र में निता का देहान्त हुआ। पालन-पोषण उनकी माँ और इनके मामा एमादुल्लुल्कने किया। बचपन में इन्हें अपने पुत्र मुहम्मद सुख्तान के मनोरंजनार्थ नौकर रखा। बाद में वे मुहम्मद सुख्तान के राज कवि हुए और सन् १२८४

1 The most flourishing age of Indian music was during the period of the native princes, a little before the Mohammedan conquest, with the advent of the Mohammedans it declined. Indeed it is wonderful that it survived at all

Capr Day, Music of Southern, India PP 3

२. धी० एन० मातवन्डे, ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे आफ दि म्यूजिक आफ अपर इण्डिया, पृ० २०-२१

वहीं भी पडने लगा था। राजपूत राजाओं के शासन काल में संगीत की चरम उन्नति हुई। कैप्टन डे का निर्यास है कि मुसलमानों के आक्रमण के पहले, देशी नरेशों का शासन-काल संगीत के विकास का सुनहटा युग था। वे तो मुसलमानों के आक्रमण को संगीत के हास का कारण भी मानते हैं।^१ यह सत्य है कि मुसलमान आक्रमणकारियों की ध्वसनीति के कारण संगीत और कला को बड़ा आघात पहुँचा किन्तु सभी मुसलमान विनाशकारी स्वभाव के ही नहीं थे। मुसलमानों के भीतर भी बहुत से कलाप्रिय व्यक्ति थे जिनकी उदारता और साधना ने एक नई निहित कला-शैली को जन्म दिया जिसका परिणाम स्यायतः में ताजमहल, साहित्य में सूरी प्रेनाप्लानक तथा संगीत में हिन्दुस्तानी पद्धति का सूजन था। भीमावन्डे ने हिन्दुस्तानी संगीत की विशिष्टताओं की श्रौंर सञ्चेत करते हुए लिखा है कि कन से कन में व्यक्ति गत रूप से यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि विदेशी संस्कृति हमारे लिए अभाग्यपूर्ण सिद्ध हुआ है। क्या हमारे दक्षिण के बन्धु अपने अनुभवों के आधार पर यह नहीं कहते कि अरबी शास्त्रीय कमबोरियों के बावजूद हिन्दुस्तानी संगीत इतना मय और आह्लादकारी है कि वे प्रसन्नतापूर्वक अपने पेशेवर संगीतकारों को इसे सीखने और अनुकरण करने की सजा देते हैं।^२

राजपूत नरेशों के दरबार में संगीत का बहुत समान या तथा इनमें से कई नरेशों ने भारतीय संगीत के विकास में सक्रिय योग दिया था। इस विषय पर हम पीछे विचार कर चुके हैं (देखिए § २२) वहीं पर हमने यह भी निवेदन कर दिया है कि ब्रजभाषा के सिंगल-नामकरण के पीछे एक कारण यह संगीत भी या बितके रागों के बोध प्रायः ब्रजभाषा में ही रचित हुए थे।

सुसरो

§ २३१. भारतीय और ईरानी संगीत में समन्वय स्थापित करके उसे एक नई पद्धति का रूप देने में अमीर सुसरो का बहुत बड़ा हाथ है। अमीर सुसरो दोनों संगीत पद्धतियों के मर्मज्ञ विद्वान् थे इसीलिए उन्होंने दोनों के निम्न से कुछ ऐसे नये रागों का निर्माण किया जो हिन्दुस्तानी संगीत की अनूल्प निधि हैं। मज़ौर, साज़गरी, इमन, उर्याक, मुजाफिक, ग्रनन, जिरन, परणबा, सरपदा, बरहरार, निरदेन्त, मननू जैसे रागों को उन्होंने सृष्टि की। यही नहीं बाद्य-यंत्रों के परिष्कार तथा नये रागों के उपयुक्त वाद्य-यंत्रों के निर्माण में भी सुसरो ने विशद्वग प्रतिभा का परिचय दिया।

सुसरो का जन्म एय जिले के पटियाली ग्राम में संवत् १३१० में हुआ था। नाम यजुर्वेदीन मुहम्मद हसन था। सात वर्ष की उम्र में तिता का देहान्त हुआ। पालन-पोषण उनकी माँ और इनके नाना एमादुल्लुल्कने किया। बचपन में इन्हें अपने पुत्र मुहम्मद सुल्तान के मनोरंजनार्थ नौकर रखा। बाद में वे मुहम्मद सुल्तान के राज कवि हुए और सन् १२८४

1 The most flourishing age of Indian music was during the period of the native princes, a little before the Mohamedan conquest, with the advent of the Mohamedans it declined. Indeed it is wonderful that it survived at all

Cap. Davy, Music of Southern India PP 3

२. वी० एन० मातवन्डे, ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे आफ दि म्यूजिक आफ अपर इन्डिया, पृ० २०-२१

क्रिया और कारक चिह्नादि खड़ी बोली के हैं ।^१ डा० वर्मा का कथन मिल्कुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दों से नहीं व्याकरणिक तत्त्वों यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए ।

§ २४०. नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं -

१—मेरा मोसे सिंगार करावत भागे वैठ के मान बडावत

बासे चिक्कन ना कोउ दोसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा

—हि० अलोचना० इति, पृ० १३१

२—खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के रग ।

तन मेरो मन पीठ को दोउ भयो एक रग ॥

गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारै केस ।

चल खुसरो घर भागने रैन मह चहुँ देस ॥

३—मोरा जोवना नवेलरा भयो है गुलाल ।

कैसे गर दाना बकस मोरी लाल ॥

सुनी सेज दरावन लागै, बिरहा भगिनि मोहि दस दस जाय ।

४—हजरत निजामदीन चिस्ता जरजरी बपरा पीर ।

जोइ जोइ ध्यावै तेइ तेइ फल पावै

मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर

५—री मैं घाउँ पाउँ हजरत रत्वाजदीन

शकराज सुलतान मशायर महबूद इलाही

निजामदीन औलिया के अमीर खुसरो बल बल जाही

ये पांच पद्यांश, जो खुसरो की रचनाओं में प्रायः प्रामाणिक माने जाते हैं । भाषा सवधो विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खड़ी बोली और ब्रज का निर्णय करने के लिए अत्यन्त नहीं कहे जा सकते । अन्य रचनाओं के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक विषय देला जा सकता है ।^२

सर्वनाम के साधित विकारी रूप मो, वा, तथा मोगे, मोरी (पड़ी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीठ को) से (वा से) तथा सविभक्तिक सर्वनाम रूप माहि (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक काउ (खड़ी बोली का कोई नहीं) नित्य सन्धी जाइ जोइ तथा दूरवर्ती सङ्गतवाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बडावत आदि प्रेरणार्थक वृद्धन्तज रूप जो वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए हैं, (खड़ी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुल्लिङ्ग) दीनी, आगी (स्त्रीलिङ्ग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सोवै, डारै, लागै, ध्यावै आदि वर्तमान के तिङन्त रूप (वा केवल ब्रज में चलते हैं, खड़ी बोली में नहीं) क्रियार्थक सखा डरावन (रा प्रत्यय निर्मित खड़ी बोली का डरावना नहीं) दोउ, चहुँ जैसे उपलानाचक विशेषण, (दानों, चारों नहीं) आदि तत्त्व इस भाषा को ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं ।

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, मृत्वीय संस्करण पृ० १२७

२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सवत् १९७८, पृ० २६६ ।

क्रिया और कारक चिह्नादि खड़ी बोली के हैं ।^१ डा० यमां का कथन विल्कुल सही है कि भाषा का निर्णय शब्दों से नहीं व्याकरणिक तत्त्वों यानी क्रियापद, कारक चिह्नादि से होना चाहिए ।

§ २४०. नीचे हम खुसरो के कुछ पद्य उद्धृत करते हैं -

१—मेरा मोसे त्रिगार करावत भागे वैठ के मान बढावत
वासे चिह्नन ना कोउ दोसा, ए सखि साजन ना सखि सीसा
—हि० अलोचना० इति, पृ० १३१

२—खुसरो रैन सुहाग की जागी पी के रग ।
तन मेरो मन पीउ को दोउ भयो एक रग ॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारै केस ।
चल खुसरो घर भारने रैन मह चहुँ देस ॥

३—मोरा जोबना नवेलरा भयो है गुलाल ।
कैसे गर दाना बकस मोरी लाल ॥
सुगी सेज बरावन लागै, बिरहा भगिनि मोहि दस दस जाय ।

४—हजरत निजामदीन चिस्ता जरजरी वररा पीर ।
जोइ जोइ प्यावै तेइ तेइ फल पावै
मेरे मन की मुराद भर दीजै अमीर

५—री में घाउँ पाउँ हजरत रत्नाजदीन
शकरगज मुलतान मशायर महबूब इलाही
निजामदीन औलिया के अमीर खुसरो बल बल जाही

ये पांच पद्यांश, जो खुसरो की रचनाओं में प्रायः प्रामाणिक माने जाते हैं । माया सवधो विवेचन के लिए पर्याप्त न होते हुए भी, खड़ी बोली और ब्रज का निर्णय करने के लिए अप्रसक्त नहीं कहे जा सकते । अन्य रचनाओं के लिए 'खुसरो की हिन्दी कविता' शीर्षक निबंध देखा जा सकता है ।^१

सर्वनाम के साधित विकारी रूप मो, वा, तथा मोरो, मोरी (पट्टी, उत्तम पुरुष) परसर्ग को (पीउ को) से (वा से) तथा सविभक्ति सर्वनाम रूप महि (कर्म कारक) अनिश्चयवाचक काउ (खड़ी बोली का कोई नहीं) नित्य समधी जाइ जोइ तथा दूरवर्ती सक्तवाची तेइ तेइ आदि सर्वनाम, करावत, बढावत आदि प्रेरणार्थक वृद्धन्तज रूप जो वर्तमान की तरह प्रयुक्त हुए हैं, (खड़ी बोली में इनके साथ सहायक क्रिया का होना अनिवार्य है) भयो (पुल्लिंग) दीनी, जागी (स्त्रीलिंग) आदि भूतनिष्ठा के रूप सोवै, डारै, लागै, घ्यावै आदि वर्तमान के तिङन्त रूप (जा केवल ब्रज में चल्ते हैं, खड़ी बोली में नहीं) त्रिप्राथक सज्ञा बरावन (रा प्रत्यय निर्मित खड़ी बोली का बरावना नहीं) दोउ, चहुँ जैसे सख्यावाचक विशेषण, (दानों, चारों नहीं) आदि तत्त्व इस भाषा को ब्रज प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं ।

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण पृ० १२७

२ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सवत् १६७८, पृ० २६१ ।

दिल्लोपति नरेन्द्र अकबर साह जाकों दर दर धरती पुटुप माल हलायो
दल साजि चतुरग सेना अगाध जहाँ गुन ठपौ चतु विद्याधर भाप
भाय राग भेद गायो ।

ऐसी रचनायें गोपाल नायक की नहीं गोपाललाल की मानी जानी चाहिए जो अकबर के दरबारी गायक थे। हालांकि यह निर्णय करने का कोई आधार प्राप्त नहीं है कि किसे गोपाल नायक की रचना कहे और किसे गोपाललाल की।

§ २४२. गोपाल नायक के गीत, जो राग-रत्नमयों मिलते हैं, सभी ब्रजभाषा में हैं। रचना काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि की नहीं है किन्तु उनकी लयमयता और मधुरता अत्यन्त परिष्कृत शब्द सौष्ठव का परिचायक है। कहीं-कहीं प्रयोग प्राकृत वैंगलम् की भाषा का स्मरण मिलते हैं। नीचे तीन पद उद्धृत किये जाते हैं।

१—अत गत मत्र गम् नम गम् मग मम गम मग ममग अत गत मत्र गाइया
लै लोक भू में कमल रे हरि कौ लरै सन्तो लरै महरन्द आइया

उदध चन्द्र धरौ मन में अत गत मत्र गाइया

तब तक भुयण जुग लरे हत काल बिरत भपार रे अधार दे धरु गायत
नायक गोपाल रे राजा राम चतुर भये ऊइयां, रे अत गत मत्र गाइया

२—कहावै गुनी ज्यों साथै नाद सबद जाल कर धोक गावै ।

मार्ग देसी कर मूर्च्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साथ चावै ॥

सो पचन मध दर पावै,

उक्ति बुक्ति भक्ति युक्ति गुप्त होवै ध्यान लगावै ।

तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध जगल मध पावै ॥

३—जय सरस्वती गनेश महादेव शक्ति सूर्य सब देव ।

देहो मोय विद्या कर कठ पाठ ॥

भैरव मालकोस हिडाल दीपक श्रामेघ मूर्तिवत ।

हृदय रहे ठाठ ॥

सस स्वर तीन प्राम भकईस मूर्च्छना चाहस सुर्त,

उनचास कोट ताल लाग दाट ।

गोपाल नायक हो सब लायक आइत भनाहत शब्द,

सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे मो घाट ॥

बैजू बावरा

§ २४३ बैजू बावरा का जीवन-वृत्त भी गोपालनायक की ही भाँति जन श्रुतियों एवं निबन्धनी कथाओं से आच्छादित है। गोपाल नायक के विषय में प्रसिद्ध जनश्रुति में बैजू बावरा को उनका गुण बताया जाता है। कहा जाता है कि बैजू बावरा से संगीत की शिक्षा प्राप्त करने पर गोपाल नायक की रियायत ज्यों ज्यों बढ़ने लगी उनमें अहभावना भी बढ़ने लगी और एक दिन किसी बात पर अपने गुण से सृष्ट होकर वे चले गए। बैजू बावरा अपने शिष्य को इधर उधर ढूँढ़ते रहे। अन्ततः दिन के दरवार में दोनों की भेंट हुई। अन्ततः दिन

दिल्लीपति नरेन्द्र अकबर साह जाकों दर डरे धरती पुहुपु माल हलायो
दल साजि चतुरग सेना अगाध जहाँ गुन ठपौ चतु विद्याधर भाप
भाप राम भेद गायो ।

ऐसी रचनायें गोपाल नायक की नहीं गोपाललाल की मानी जानी चाहिए जो अरुबर के दरबारी गायक थे । हालांकि यह निर्णय करने का कोई आधार प्राप्त नहीं है कि कितने गोपाल नायक की रचना कहे और कितने गोपाललाल की ।

§ २४२. गोपाल नायक के गीत, जो राग-रत्नमय में मिलते हैं, सभी ब्रजभाषा में हैं । रचना काल की दृष्टि से उच्च कोटि की नहीं है किन्तु उनकी लयमयता और मधुरता अत्यन्त परिष्कृत शब्द सौष्ठव का परिचायक है । कहीं-कहीं प्रयोग प्राकृत पैंगलम् की भाषा का स्मरण मिलते हैं । नीचे तीन पद उद्धृत किये जाते हैं ।

१—अत गत मत्र गम् नम गम् मग मम गम मग ममग अत गत मत्र गाइया

लै लोक भू में कमल रे हरि कौ लरै सन्तो लरै मकरन्द भाइया

उद्ध चन्द्र धरी मन में अत गत मत्र गाइया

उठ तक भुयण युग लरे हत काल विरत अपार रे अपार दे धरु गायत

नायक गोपाल रे राजा राम चतुर भये उइयां, रे अत गत मत्र गाइया

२—कदावै गुनी उषों साथै नाद सवद जाल कर थोक गावै ।

मार्ग देसों कर मूर्छना गुन उपजे मति सिद्ध गुरु साथ चावै ॥

मो पचन मध दर पावै,

उक्ति लुक्ति भक्ति युक्ति गुप्त होवै ध्यान लगावै ।

तब गोपाल नायक के अष्ट सिद्ध नव निद्ध जगत मध पावै ॥

३—अय सरस्वती गनेश महादेव शक्ति सूर्य सव देव ।

देही मोय विद्या कर कठ पाठ ॥

भैरव मालकोस द्विडाल दीपक श्रामेय मूर्तिवत ।

हृदय रहे ठाठ ॥

सस स्वर तीन प्राम भकईस मूर्छना वाइस सुत,

उनचास कोट ताल लाग दाट ।

गोपाल नायक हो सय लायक आहत अनाहत शब्द,

सो ध्यायो नाद ईश्वर बसे मो घाट ॥

बैजू बावरा

§ २४३ बैजू बावरा का जीवन-वृत्त भी गोपालनायक की ही भाँति जन श्रुतियों एवं निबन्धनी कथाओं से आवृत है । गोपाल नायक के विषय में प्रसिद्ध जनश्रुति में बैजू बावरा को उनका गुरु बताया जाता है । कहा जाता है कि बैजू बावरा से संगीत की शिक्षा प्राप्त करने पर गोपाल नायक की रपाति ज्यों ज्यों बढ़ने लगी उनमें अहभावना भी बढ़ने लगी और एक दिन किसी बात पर अपने गुरु से रुष्ट होकर वे चले गए । बैजू बावरा अपने शिष्य को इधर उधर हँदते रहे । अलाउद्दीन के दरबार में दोनों को मँट हुई । अलाउद्दीन

कही गई हैं इसका निर्णय करने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। नायक बख्शू, बैजू और वर्ण पर्वारल्ला के अनुसार मानसिंह के दरबार के प्रसिद्ध गायक थे। आईने अफ़वरी में लिखा है कि राजा मानसिंह ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा सग्रह तैयार कराया था जिसमें प्रलोक वर्ण के लोगों की रचि के अनुसार पद सग्रहीत थे।^१ हालांकि इन तीन गायकों के नामादि का पता नहीं चलता, किन्तु यह संकेत मिलता है कि ये गायक संगीत के आचार्य ही नहीं कवि और काव्य प्रेमी भी थे। मानसुनुहल से भी मालूम होता है कि संगीतकार को पद रचयिता होना चाहिए।^२

§ २४४. बैजू के बहुत से पद रागकल्पद्रुम में मिलते हैं। इस प्रकार के पदों को भी नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ' में एकत्र सकलित कर दिया है। नीचे हम बैजू शायर के तीन पद उद्धृत करते हैं।

१—भागन मीर भई ब्रजपति के आज नद महोत्सव भानन्द भयो

हरद दूब दधि अछत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मगल चार नयो
ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरपित विमानन पुष्प घरस रग ठयो
धन धन बैजू सतन हित प्रकृत नद जसोदा ये सुख जो दयो

२—कहाँ कहीं उन विन मन जरो जात है अगन बरतें कर मन कियो है बिगार

बह मूरत सूरत यिनु देखे भायै न मोहें घर द्वार
इत उत देखत कष्ट न सोहावत विरथा लगत ससार
पै करत है दुरजन सब बैजू न पावै मन विय के
भचरज भयो है व्यौहार।

३—बोलियो न डोलियो ले आउँ हूँ प्यारी को

सुन हो सुघर वर भवहाँपै जाउँ हूँ
मानिना मनाय के तिहारे पास लियाम के
मधुर तुलाय के तो चरण गहाउँ हूँ
सुन री मुन्दर नार काहे करत पूर्ता रार
मदन डारत पार चलत पततुभाउँ हूँ
मेरी सीख मान कर मान न करो तुम
बैजू प्रभु प्यारे सो बहियाँ गहाउँ हूँ

बैजू शायर की रचनायें केवल अपने संगीततत्त्व के लिए ही नहीं बल्कि काव्यत्व के लिए भी प्रशंसनीय हैं।

हकायके हिन्दी में प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्व

§ २४५. ईस्वी सन् १५६६ अर्थात् १६२३ सन्त में मीर अब्दुल वाहिद विलग्रामी ने पारसी भाषा में हकायके हिन्दी नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिन्दी के लौकिक शृङ्गार

१. ग्लेडविन . आईने अफ़वरी, पृ० ७३०

२. मानसिंह और मानसुनुहल, पृ० १२२

कही गई हैं इसका निर्णय करने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता। नायक बख्श, बैजू और कर्ण पकीरल्ला के अनुसार मानसिंह के दरवार के प्रतिष्ठित गायक थे। आईने अफ़वरी में लिखा है कि राजा मानसिंह ने अपने तीन गायकों से एक ऐसा सग्रह तैयार कराया था जिसमें प्रत्येक वर्ग के लोगों की रचि के अनुसार पद सग्रहीत थे।^१ हालांकि इन तीन गायकों के नामादि का पता नहीं चलता, किन्तु यह संकेत मिलता है कि ये गायक संगीत के आचार्य ही नहीं कवि और काव्य प्रेमी भी थे। मानसुनुहल से भी मालूम होता है कि संगीतकार को पद रचयिता होना चाहिए।^२

§ २४४. बैजू के बहुत से पद रागकल्पद्रुम में मिलते हैं। इस प्रकार के पदों को श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी ने अपनी पुस्तक 'संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनायें' में एकत्र संकलित कर दिया है। नीचे हम बैजू बावरा के तीन पद उद्धृत करते हैं।

- १—भागन भार भई ब्रजपति के भाज नद महोत्सव भानन्द भयो
हरद दूध दधि अछत रोरी ले छिरकत परस्पर गावत मगल चार नयो
ब्रह्मा ईस नारद सुर नर मुनि हरपित विमानन पुष्प बरस रग ठयो
धन धन बैजू सतन हित प्रकट नद जसोदा ये सुख जो दयो
- २—कहाँ कहीं उन विन मन जरो जात है अगन बरतें कर मन कियो है विगार
वह मूरत सुरत यिनु देखे भावै न मोहैं घर द्वार
इत उत देखत कट्ट न सोहावत विरथा लगत ससार
वैर करत है नुरजन सब बैजू न पावै मन विय के
अचरज भयो हैं ब्यौहार।
- ३—बोलियो न डोलियो ले आउँ हूँ प्यारी को
सुन हो सुघर वर भवहीं जाउँ हूँ
मानिना मनाय के तिहारे पास लियाय के
मधुर बुलाय के तो चरण गहाउँ हूँ
सुन री सुन्दर नार काहे करत पुती रार
मदन डारत पार चलत पततुभाउँ हूँ
मेरी सीख मान कर मान न करो तुम
बैजू प्रभु प्यारे सो बहियाँ गहाउँ हूँ

बैजू बावरा की रचनायें केवल अपने संगीततत्त्व के लिए ही नहीं बल्कि काव्यत्व के लिए भी प्रशंसनीय हैं।

हकायके हिन्दी में प्राचीन ब्रजभाषा के तत्त्व

§ २४५. ईस्वी सन् १५६६ अर्थात् १६२३ सवत् में मीर अब्दुल वाहिद विलग्रामी ने पारसी भाषा में हकायके हिन्दी नामक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने हिन्दी के लौकिक शृङ्गार

१. ग्लेडविन . आईने अफ़वरी, पृ० ७३०

२. मानसिंह और मानसुनुहल, पृ० १२२

- (१६) तुम कारन मै सेज सैवारी
तन मन जोवन मिउ बलिहारी (पृष्ठ ६४)
- (१७) नन्ह-नन्ह पात जो आबिलो सरहर पेड खजूर
तिन्ह चढ देखी बालमा निपरै बतै कि दूर (पृष्ठ ६५)
- (१८) उठ सुहागिनि मुख न बोहु छैल खडो गलवाहि
याल भरी गजमोतिन गोद भरी कलियाहि (पृष्ठ ६५)

इन पद्याशों का देखने से लगता है कि लेखक ने तत्कालीन बहुत प्रसिद्ध पदों से या स्फुट रचनाओं से इन्हें उद्धृत किया है। मुसलमान बादशाहों के दरबारा में हिन्दू और मुस्लिम सभी गायक प्रायः ब्रजभाषा के बोल ही कहते थे, इन गानों में राधाकृष्ण के प्रेम प्रसंगों का वर्णन रहता था। ऊपर की पंक्तियाँ ऐसे गीतों को ओर ही संकेत करती हैं।

'हकायके हिन्दी' कई दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमें प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाएँ संकलित हैं जो सूरदास से पहले की ब्रजभाषा का परिचय देती हैं। सूरदास के पहले के संगीतकार कवियों ने इस भाषा को पुष्ट और परिष्कृत बनाने का कितना महत्वपूर्ण कार्य किया है, इसका पता इन रचनाओं का देखने से चलता है। हकायके हिन्दी का साहित्यिक महत्व भी निर्विवाद है। इस रचना को देखने से सूफ़ी साधकों की उदार दृष्टि का भी पता चलता है जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के बाहरी विभेद और वैषम्य के मोतर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढने और प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। सूफ़ी कवि केवल अपनी भाषा के ही माध्यम से यह कार्य नहीं कर रहे थे बल्कि ब्रजभाषा के विकसित और प्रेम कथा मूलक काव्य को समझने समझाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। ब्रजभाषा की कोमलता और मृदुता ने सूफ़ियों पर भी अपना अभिष्ट प्रभाव डाल दिया था। एक बार कित्तौ ने १४ मई १४०० ईस्वी शुक्रवार के दिन ख्वाजा गेसू दराज सैयद मुहम्मद हुसेनी (मृत्यु १४२२ ईस्वी) से पूछा : 'क्या कारण है कि सूफ़ियों को हिन्दवी में जितना आनन्द आता है उतना राजल में नहीं आता।' गेसूदराज ने कहा: 'हिन्दवी बड़ी ही कोमल और स्वच्छ होती है। इसका संगीत बड़ा ही कोमल तथा मधुर होता है। इसमें मनुष्य की कष्टणा, नम्रता तथा वेदना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण होता है।' जाहिर है कि यहाँ हिन्दवी का मतलब ब्रजभाषा के पदों से है।

हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवि

§ २४६. मध्यदेश की बोलियों से उत्पन्न साहित्यिक भाषाएँ समय समय पर संपूर्ण उत्तर भारत की काव्य भाषा मानी जाती रहीं हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हम 'ब्रजभाषा का रिकय' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। दसवीं शताब्दी के बाद काव्य भाषा का स्थान शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ और अपने पुराने रिकय को संपूर्णतया संपादित करने वाली यह भाषा गुजरात से असम तक के साहित्यिक प्रेमियों के द्वारा परस्पर आदान प्रदान के सहज माध्यम के रूप में यशोत हुई। अष्टलुपी कवियों की कविता का

१. जमाने-उल किलम-ख्वाजा गेसूदराज के बचन, इन्तजामी प्रेस उस्मानगज—
हकायके हिन्दी, भूमिका पृष्ठ २२ पर उद्धृत

- (१६) तुम कारन मैं सेब सँवारी
तन मन जोवन जिय बलिहारी (पृष्ठ ६४)
- (१७) नन्द-नन्द पात जो आँवली सरहर पेड खजूर
तिन्ह चढ देखी बालमा नियरै बरै कि दूर (पृष्ठ ६५)
- (१८) उठ सुहागिनि मुख न जोहु छैल लडो गलवाहिं
याल भरी गजमोतिन गोद भरी कलिपाहि (पृष्ठ ६५)

इन पद्यांशों को देखने से लगता है कि लेखक ने तत्कालीन बहुत प्रसिद्ध पदों से या स्फुट रचनाओं से इन्हें उद्धृत किया है। मुसलमान बादशाहों के दरबारा में हिन्दू और मुस्लिम सभी गायक प्रायः ब्रजभाषा के शोल ही कहते थे, इन गानों में राधाकृष्ण के प्रेम प्रसंगों का वर्णन रहता था। ऊपर की पक्तियाँ ऐसे गीतों की ओर ही संकेत करती हैं।

'इकायके हिन्दी' कई दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण रचना है। इसमें प्राचीन ब्रजभाषा की रचनायें संकलित हैं जो सुरदास से पहले की ब्रजभाषा का परिचय देती हैं। सुरदास के पहले के संगीतकार कवियों ने इस भाषा को पुष्ट और परिष्कृत बनाने का कितना महत्वपूर्ण कार्य किया है, इसका पता इन रचनाओं को देखने से चलता है। इकायके हिन्दी का साहित्यिक महत्त्व भी निर्विवाद है। इस रचना को देखने से सूफ़ी साधकों की उदार दृष्टि का भी पता चलता है जिन्होंने हिन्दू धर्म और इस्लाम के बाहरी विभेद और वैषम्य के मोतर उनकी मूलभूत एकता को ढूँढने और प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया। सूफ़ी कवि केवल अपनी भाषा के ही माध्यम से यह कार्य नहीं कर रहे थे बल्कि ब्रजभाषा के विकसित और प्रेम कथा मूलक काव्य को समझने समझाने का भी प्रयत्न कर रहे थे। ब्रजभाषा की कोमलता और मृदुता ने सूफ़ियों पर भी अपना अभिष्ट प्रभाव डाल दिया था। एक बार किलो ने १४ मई १४०० ईस्वी शुक्रवार के दिन ख्वाजा गेसूदराज सैयद मुहम्मद हुसेनी (मृत्यु १४२२ ईस्वी) से पूछा: 'क्या कारण है कि सूफ़ियों को हिन्दवी में जितना आनन्द आता है उतना गजल में नहीं आता।' गेसूदराज ने कहा: हिन्दवी बही ही कोमल और स्वच्छ होती है। इसका संगीत बड़ा ही कोमल तथा मधुर होता है। इसमें मनुष्य की कषणा, नम्रता तथा वेदना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण होता है।' जाहिर है कि यहाँ हिन्दवी का मतलब ब्रजभाषा के पदों से है।

हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवि

§ २४६. मध्यदेश की शोलियों से उत्पन्न साहित्यिक भाषाएँ समय समय पर संपूर्ण उत्तर भारत की काव्य भाषा मानी जाती रही हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हम 'ब्रजभाषा का रिकथ' शीर्षक अध्याय में कर चुके हैं। दसवीं शताब्दी के बाद काव्य भाषा का स्थान शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी ब्रजभाषा को प्राप्त हुआ और अपने पुराने रिकथ को संपूर्णतया संपादित करने वाली यह भाषा गुजरात से असम तक के साहित्यिक प्रेमियों के द्वारा परस्पर आदान प्रदान के सहज माध्यम के रूप में गृहीत हुई। अष्टछापी कवियों की कविता का

१. जमाने-उल किलम-ख्वाजा गेसूदराज के बचन, इन्तजामी प्रेस उस्मानगज—
इकायके हिन्दी, भूमिका पृष्ठ २२ पर उद्धृत

शंकरदेव ने ब्रजभाषा में बरगीतों की रचना की। अपनी पहली यात्रा में वे वृन्दावन गए थे। ब्रजभाषा कानन की प्रेरणा उन्हें कृष्ण की जन्मभूमि से ही प्राप्त हुई। ब्रजभाषा में रचित ये बरगीत सन् १४८१-६३ के बीच लिखे गए जैसा डा० एम० नेयोग ने प्रस्तावित किया है।^१ डा० नेयोग का अनुमान है कि ब्रजभाषा में लिखा पहला बरगीत धर्मिकाश्रम में लिखा गया। डा० नेयोग ने शंकरदेव के बरगीतों को ब्रजबुक्ति का सबसे पुराना उदाहरण बताया है। डा० बरुआ ने लिखा है कि वृन्दावन में शंकरदेव ने ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य को देखा था। इसी समय उन्होंने इस भाषा को सोला और इसी की मिश्रित भाषा में बरगीतों की रचना की।^२

§ २५८. शंकरदेव के बरगीतों की भाषा मिश्रित अवश्य है क्योंकि उसने कहीं कहीं असमिया के प्रयोग भी आने हैं, किन्तु ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की आश्चर्यजनक रूप से सुरक्षा दिलाई पड़ती है। नीचे हम शंकरदेव के दो पद उद्धृत करते हैं। ये पद बट्टी हरिनामपद दत्त बरुआ द्वारा संगीत 'बरगीत' से उद्धृत किए गए हैं।

पद संख्या २१ राग धनश्री

०

१—धु० गोपिनी प्रातः काहेनो गयो रे गोविन्द ।

हामु पापिनी धुनु पेलवो नाहिं भार मोहि बदन भरविन्द ।

पद कवन भागवती, भयो रे सुपरभात आउ भेटन मुख चोदा ।

उगठ सूर दूर गयो रे गोविन्द भयो गोप बंधु भान्धा ॥

आनु मथुरा धुरे मिलन महोसव माधव माधव मान ।

गोकुल के मंगल दूर गयो नाहिं वाजत वेनु विपान ॥

आनु जत नागरी करत भयन भरि मुख पंकज मथुपान ।

हमारि बन्ध विधि हाते हरल निधि कृष्ण किंकर रस माना ॥

धनश्री पद १८

२—धु० मन भेरि रान चरनिं लागु ।

तइ देख ना अन्तक जागु ॥

पद मन आयू चने-चने टूटे ।

देखो प्रातः कौन दिन हूटे ॥

मन काल अजगर मिलै ।

जान तिले के मरन मिलै ॥

मन निश्रय पतन काया ।

तइ राम भज तेजि माया ॥

रे मन इ सब विषय धन्या ।

केने देवि न देखत अन्धा ॥

१. जनल आव दि यूनिवर्सिटी आव गुवाहाटी, भाग १ संख्या १, १९५०, नेयोग का लेख

२. असमीज़ लिटरेचर, पी० ई० पन्०, १९४१, पृ० २६ ।

शंकरदेव ने ब्रजभाषा में वरगीतों की रचना की। अग्नी पहली यात्रा में वे वृन्दावन गए थे। ब्रजभाषा कानन की प्रेरणा उन्हें कृष्ण की वनमन्थि से ही प्राप्त हुई। ब्रजभाषा में रचित ये वरगीत सन् १४८१-८३ के बीच लिखे गए जैसा डा० एम० नैयोग ने प्रस्तावित किया है।^१ डा० नैयोग का अनुमान है कि ब्रजभाषा में लिखा पद्य वरगीत वदिकाभ्रम में लिखा गया। डा० नैयोग ने शंकरदेव के वरगीतों को ब्रजबुक्ति का सबसे पुराना उदाहरण बताया है। डा० बरह्मा ने लिखा है कि वृन्दावन में शंकरदेव ने ब्रजभाषा के धार्मिक साहित्य को देखा था। इसी समय उन्होंने इस भाषा को सीखा और इसी की निम्नित भाषा में वरगीतों की रचना की।^२

§ २४८. शंकरदेव के वरगीतों की भाषा निम्नित अवश्य है क्योंकि उसमें कहीं कहीं अलमिया के प्रयोग भी आते हैं, किन्तु ब्रजभाषा की मूल प्रवृत्ति की आदर्शपर्यवहन रूप से सुरदा दिखाई पड़ती है। नीचे हम शंकरदेव के दो पद उद्धृत करते हैं। ये पद बन्नी हरिनायपन दत्त बरब्रा द्वारा संगीत 'वरगीत' से उद्धृत किए गए हैं।

पद संख्या २१ राग धनश्री

१—धु० गोपिनी प्राण काहेनो गयो रे गोविन्द ।

हास्य पापिनी धनु पेखवो नाहिं भार मोहि बदन भरविन्द ।

पद कवन मापवती, भयो रे सुपरमात आतु भेटन मुख चौदा ।

उगत सूर दूर गयो रे गोविन्द भयो गोप बंधु भान्या ॥

आतु मथुरा पुरे मिलन महो सब माधव माधव मान ।

गोकुल के मंगल दूर गयो नाहिं वाजत वेनु विपान ॥

सातु जत नागरी करत नयन मरि मुख पंकज मधुपाना ।

हमारि बन्ध विधि हाते हरल निधि कृष्ण किंकर रस माना ॥

धनश्री पद १८

२—धु० मन मेरि राम चरनहिं लागु ।

तइ देख ना भगतक जागु ॥

पद मन आगू चने-चने दूटे ।

देखो प्राण कौन दिन छूटे ॥

मन काल अजगर मिलै ।

जान तिले के मरन मिलै ॥

मन निश्चय पतन काया ।

तइ राम भज तेजि भाया ॥

रे मन इ सब विषय धन्या ।

केने देखि न देखत भन्या ॥

१. जगल भाव दि यूनिवर्सिटी भाव गुवाडाली, भाग १ संख्या १, १९५०, नैयोग का लेख

२. कसमई लिटरेचर, पी० ई० एन०, - १९११, पृ० २६ ।

पद—पापी अत्रामिल हरि को सुमरि नाम आभास ।
 अतये कर्म को बन्ध छौंदि पावल वैकुण्ठ वास ॥
 जानि आहे लोक हरि को नामे करु विसवास ।
 सकल वेद कों तत्व कहए पुरुष माधवदास ॥

माधवदेव के गीतो की भाषा में भी पूर्वी प्रभाव है। किन्तु मूलतः ब्रज भाषा की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखाई पड़ती है। इ का ए रूपान्तर पूर्वी प्रदेशों में होता था (देखिये कीर्ति० § ६) यहाँ भी कहइ > कहए, अतहिं > अतइ > अतए आदि में यही प्रभाव दिखाई पड़ता है। पानल का भूत 'ल' स्वप्न ही पूर्वी है। भाषा में कई स्थानों पर सवधी विभक्ति 'क' का भी प्रयोग है। किन्तु ब्रजभाषा 'की' 'को' का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

महाराष्ट्र के ब्रज-कवि

§ २५०. महाराष्ट्र और मध्यदेश का सांस्कृतिक सन्ध बहुत पुराना है। मध्य देशीय भाषाओं के विकास में महाराष्ट्र का महत्वपूर्ण योग रहा है। वर्तमान खड़ी बोली का बन्म मेरठ दिल्ली के प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका आरम्भिक विकास तो दक्षिण महाराष्ट्र यानी 'दकन' में ही हुआ। डा० मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताते हुए यह सिद्ध किया है कि मध्यदेश से खास तौर से मथुरा के प्रदेश से महाराष्ट्र को स्थानान्तरण करनेवाले राजपूतों तथा अन्य जातियों के साथ मध्यदेशीय भाषा यानी शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्र पहुँची और बाद में वहाँ की जनता द्वारा भी मान्य होकर उसे महाराष्ट्री नाम मिला। शाह जी भोसले तथा शिवाजी के दरबार में हिन्दी कवियों का सम्मान होता था। नामदेव और त्रिलोचन जैसे सत कवियों के ब्रजभाषा पदों का हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं। नीचे कुछ अल्पशत कवियों की ब्रजभाषा कविता का परिचय प्रस्तुत किया जाता है। ये कवि सूरदास के पहले के हैं।

महाराष्ट्र में लिखी ब्रजभाषा^१ रचना का किञ्चित् सकेत चालुक्य नरेश सोमेश्वर (११८४-१२०६) के भानसोद्धार अर्थात् चिंतामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में पन्द्रह विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छंद, हाथी घोड़े आदि के वर्णन के साथ ही साथ राग-तालियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पदों के उदाहरण भी दिए गए हैं। लाटी भाषा का उदाहरण प्राचीन ब्रजभाषा से मिलता-जुलता है। इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि १२वीं शताब्दी में अपभ्रंश प्रभावित देशी भाषा में काफी उच्चकोटि की रचनाएँ होने लगी थीं।

नन्द गोकुल आषो कान्हडो गोवी जणे ।

पडि हिलोरे नवणे जो विधाय दण भाओ ॥

१. महाराष्ट्र के हिन्दी कवियों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिशिष्ट, लेखक श्री भास्कर रामचंद्र भारेराव, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५७ ।

पद—पापी अजामिल हरि को सुमरि नाम आभास ।
 अतये कर्म को बन्ध छुँडि पावल बैकुण्ठ वास ॥
 जानि आहे लोक हरि को नामे कइ विसवास ।
 सकल वेद कौं तत्व कइए पुरुष माधवदास ॥

माधवदेव के गीतों की भाषा में भी पूर्वी प्रभाव है। किन्तु मूलतः ब्रज भाषा की प्रवृत्ति ही प्रधान दिखाई पड़ती है। इ का ए रूपान्तर पूर्वी प्रदेशों में होता था (देखिये क्रीति० § ६) यहाँ भी कइर > कहए, अतहिं > अतइ > अतए आदि में वही प्रभाव दिखाई पड़ता है। पावल का भूत 'ल' स्पष्ट ही पूर्वी है। भाषा में कई स्थानों पर सबंधी विभक्ति 'क' का भी प्रयोग है। किन्तु ब्रजभाषा 'की' 'को' का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

महाराष्ट्र के ब्रज-कवि

§ २५०. महाराष्ट्र और मध्यदेश का सांस्कृतिक संबंध बहुत पुराना है। मध्य देशीय भाषाओं के विकास में महाराष्ट्र का महत्वपूर्ण योग रहा है। वर्तमान खड़ी बोली का जन्म मेरठ दिल्ली के प्रदेश में हुआ था, किन्तु उसका आरम्भिक विकास तो दक्षिण महाराष्ट्र यानी 'दकन' में ही हुआ। डा० मनमोहन घोष ने महाराष्ट्री प्राकृत को शौरसेनी का कनिष्ठ रूप बताते हुए यह सिद्ध किया है कि मध्यदेश से खास तौर से मथुरा के प्रदेश से महाराष्ट्र को स्थानान्तरण करनेवाले राजपूतों तथा अन्य जातियों के साथ मध्यदेशीय भाषा यानी शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्र पहुँची और बाद में वहाँ की जनता द्वारा भी मान्य होकर उसे महाराष्ट्री नाम मिला। शाह बी भोसले तथा शिवाजी के दरबार में हिन्दी कवियों का सम्मान होता था। नामदेव और त्रिगुणन जैसे सत कवियों के ब्रजभाषा पदों का हम पहले ही विवेचन कर चुके हैं। नीचे कुछ अल्पज्ञात कवियों की ब्रजभाषा कविता का परिचय प्रस्तुत किया जाता है। ये कवि सूरदास के पहले के हैं।

महाराष्ट्र में लिखी ब्रजभाषा रचना का किञ्चित् सचेत चाणक्य नरेश सोमेश्वर (११८४ विक्रमी) के भानसोलास अर्थात् चिंतामणि नामक ग्रन्थ में मिलता है। इस ग्रन्थ में पन्द्रह विभिन्न विषयों पर विचार किया गया है। भूगोल, सेना, वाद्य, ज्योतिष, छंद, हाथी पोंदे आदि के वर्णन के साथ ही साथ राग-रागिनियों के वर्णन में कई देशी भाषाओं के पदों के उदाहरण भी दिए गए हैं। लाटी भाषा का उदाहरण प्राचीन ब्रजभाषा से मिलता-जुलता है। इस पद्य को देखने से मालूम होता है कि १२वीं शताब्दी में अपभ्रंश प्रभावित देशी भाषा में काफी उच्चकोष्ठी की रचनाएँ होने लगी थीं।

नन्द गोकुल आधो कान्हडो गोवी जणे ।
 पडि हिलोरे नयणे जो विधाय दण भरभो ॥

1. महाराष्ट्र के हिन्दी कवियों की जानकारी के लिए द्रष्टव्य हिन्दी साहित्य के इतिहास के अप्रकाशित परिचयेद, लेखक र्थी भास्कर रामचंद्र भास्कराव, ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५० ।

जिनपद्मसूरि, विजयचन्द्र सूरि तथा अन्य बहुत से कवियों ने परवता विकसित अपभ्रंश के पागु, रास आदि जनप्रिय काव्यरूपों में बहुत सी मार्मिक कृतियाँ प्रस्तुत कीं। कुछ अथ कवियों की रचनाओं में गुजराती मिश्रित शौरसेनी का प्रयोग हुआ है और भाषा की दृष्टि से शुद्ध ब्रज से भिन्नता रखते हुए भी इन रचनाओं की अन्तरात्मा मध्यदेशीय संस्कृति और काव्यरसिता से भिन्न नहीं है। चौदहवीं शती के बाद भी गुजरात के कई कवियों ने ब्रजभाषा में कवितार्यें लिखीं। श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी लिखते हैं 'गुजराती केवल बोलचाल की भाषा थी। यह इतनी प्रौढ़ नहीं थी कि इसने द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को भलीभाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती भाषा के प्रथम कवि भूनागढ वासी भक्त प्रवर नरसी मेहता हैं जिनका कविताकाल संवत् १५१२ विक्रमी माना जाता है। इस समय तथा उसके बाद भी गुर्जर देशवासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त ब्रजभाषा साहित्य को ही उलटा पुल्ला करते थे।'^१ श्री चतुर्वेदी का यह कथन न केवल भ्रान्तिपूर्ण है बल्कि ब्रजभाषा के अनुचित मोह से ग्रस्त भी। नरसी मेहता के पहले भी गुजराती में रचनाएँ होती थीं, इसके लिए जैन गुर्जर कविया के प्रथम और तृतीय भाग, तथा आपणा कवियों राज १ (नरसिंह सुगनी पहेला) देखना चाहिए। यह सही है कि नरसी मेहता के पहले (१०००-१४००) गुजराती काय जिस भाषा में लिखा गया, वह शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत प्रभावित थी। यद्यपि इसमें प्राचीन गुजराती के तत्त्व प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं और कई दृष्टियों से यह साहित्य पश्चिमी भाषाओं (ब्रज, राजस्थानी, गुजराती आदि) की सम्मिलित निधि कहा जा सकता है, फिर भी इस भाषा का परवर्ती विकास गुर्जर अपभ्रंश के सम्मिश्रण के साथ गुजराती भाषा के रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। इसलिए बाद के गुजराती कवियों द्वारा ब्रजभाषा में काव्य लिखने का कारण गुजराती भाषा की अनुगुचता कदापि नहीं है। इसका मुख्य कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन को व्यापकता के कारण उत्पन्न पारस्परिक सन्निकेरा है। कृष्ण और राधा की जन्मभूमि ब्रजप्रदेश की भाषा 'इष्टदेव की भाषा या पुरुषोत्तम भाषा'^२ के रूप में समानित हुई, इसका विस्तार पश्चिमात के गुजरात में ही नहीं सुदूर पूरव के असम और बंगाल में भी दिखाई पड़ता है। संवत् १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना के पहले श्री बल्लभाचार्य ने गुजरात के द्वारका, जूनागढ, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि तीर्थ स्थानों का पर्यटन किया था और जनता में शुद्धाद्वैत प्रतिपादित भक्ति का प्रचार भी किया। यही नहीं पुष्टिमार्ग के स्थापक श्री विष्णुनाथ ने संवत् १६१० से १६२८ के बीच गुजरात को लड़ कर यात्रायें कीं। इन यात्राओं से गुजरात में बल्लभ मत की स्थापना हुई और श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री के शब्दों में गुजरात बल्लभ मत का 'धाम' बन गया।^३ किन्तु गुजरात में भक्ति का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। भागवत के श्लोक के अनुसार

१ जवाहरलाल चतुर्वेदी गुजरात के ब्रजभाषी शुक पिक, पोदार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११४

२ महाप्रभु बल्लभाचार्य ब्रजभाषा को इसी नाम से संबोधित करते थे।

३ श्री दु० के० शास्त्री कृत 'वैष्णव धर्मनो सचिप्त इतिहास', पृ० १८४
दुर्गा मा बल्लभ मत नु धाम ज गुजरात पद गणु

जिनपद्यसूरि, विजयचन्द्र सूरि तथा अन्य बहुत से कवियों ने परवता विकसित अपभ्रंश के पागु, रास आदि जनप्रिय काव्यरूपा में बहुत सी मार्मिक कृतियों प्रस्तुत कीं। कुछ अन्य कवियों की रचनाओं में गुजराती मिश्रित शौरसेनी का प्रयोग हुआ है और भाषा की दृष्टि से शुद्ध ब्रज से भिन्नता रखते हुए भी इन रचनाओं की अन्तरात्मा मध्यदेशीय संस्कृति और काव्यप्रकृति से भिन्न नहीं है। चौदहवीं शती के बाद भी गुजरात के कई कवियों ने ब्रजभाषा में कवितायें लिखीं। श्री जवाहर लाल चतुर्वेदी लिखते हैं 'गुजराती केवल बोलचाल की भाषा थी। यह इतनी मौढ़ नहीं थी कि इसने द्वारा कोई कवि मनोगत भावों को भलीभाँति व्यक्त कर सकता। गुजराती भाषा के प्रथम कवि भूनागढ घासी भक्त प्रवर नरसी मेहता हैं जिनका कविताकाल सवत् १५१२ विक्रमी माना जाता है। इस समय तथा उसके बाद भी गुर्जर देशवासी सभी शिक्षित वर्ग संस्कृत या उस समय के प्राप्त ब्रजभाषा साहित्य को ही उलटा पुलंग करते थे।'^१ श्री चतुर्वेदी का यह कथन न केवल भ्रान्तिपूर्ण है बल्कि ब्रजभाषा के अनुचित मोह से प्रस्त भी। नरसी मेहता के पहले भी गुजराती में रचनायें होती थीं, इसके लिए जैन गुर्जर कवियों के प्रथम और तृतीय भाग, तथा आपणा कवियों राठ १ (नरसिंह युगनी पहेला) देखना चाहिए। यह सही है कि नरसी मेहता के पहले (१०००-१४००) गुजराती काय जिस भाषा में लिखा गया, वह शौरसेनी अपभ्रंश से बहुत प्रभावित थी। यद्यपि इसमें प्राचीन गुजराती के उत्तम प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं होते हैं और कई दृष्टियों से यह साहित्य पश्चिमी भाषाओं (ब्रज, राजस्थानी, गुजराती आदि) की सम्मिलित निधि कहा जा सकता है, फिर भी इस भाषा का परवर्ती विकास गुर्जर अपभ्रंश के सम्मिश्रण के साथ गुजराती भाषा के रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक पूर्ण रूप से हो चुका था। इसलिए बाद के गुजराती कवियों द्वारा ब्रजभाषा में काव्य लिखने का कारण गुजराती भाषा की अनुपयुक्तता कदापि नहीं है। इसका मुख्य कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन की व्यापकता के कारण उत्तम पारस्परिक सम्बन्ध है। कृष्ण और राधा की जन्मभूमि ब्रजप्रदेश की भाषा 'इष्टदेव की भाषा या पुरुषोत्तम भाषा'^२ के रूप में समानित हुई, इसका विस्तार पश्चिमांत के गुजरात में ही नहीं सुदूर पूरब के असम और बंगाल में भी दिखाई पड़ता है। सवत् १५५६ में श्रीनाथ जी की स्थापना के पहले श्री वल्लभाचार्य ने गुजरात के द्वारका, जूनागढ, प्रभास, नरोडा, गोधरा आदि तीर्थ स्थानों का पर्यटन किया था और जनता में शुद्धाद्वैत प्रतिपादित भक्ति का प्रचार भी किया। यही नहीं गुण्टिमार्ग के स्थापक श्री विह्वलनाथ ने सवत् १६१० से १६२८ के बीच गुजरात की छह बार यात्रायें कीं। इन यात्राओं से गुजरात में वल्लभ मत की स्थापना हुई और श्री दुर्गाशंकर केवल राम शास्त्री के शब्दों में गुजरात वल्लभ मत का 'धाम' बन गया।^३ किन्तु गुजरात में भक्ति का आविर्भाव बहुत पहले हो चुका था। भागवत के श्लोक के अनुसार

१ जवाहरलाल चतुर्वेदी गुजरात के ब्रजभाषी शुक पिठ, पोहार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ११४

२ महाप्रभु वल्लभाचार्य ब्रजभाषा को इमी नाम से संबोधित करते थे।

३ श्री दु० के० शास्त्री कृत 'वैष्णव धर्मनो सचिप्त इतिहास', पृ० १८४

दुग्ध मा बल्लभ मत तु धाम ज गुजरात थद् गयु

भान्दोल

नाचइ गोपिय घृद, बाजइ मधुर मृदग
 मोडइ भग सुरंग, सारगधर वाइति महभरि ए ॥
 कुलवण महभरि ए ॥
 करलिय पकज नाल, सिरवारि फेरइ बाल ।
 छुदिहि-बाजइ ताल, सारग धर वाइइ महभरि ए ॥
 वारा महि जिमि चन्द, गोपिय माहि मुकुन्द ॥
 पणमइ सुर नर इद, सारगधर वाइति महभरि ए ।
 कुलवण महभरि ए ॥
 गोपी गोपति फागु कौटिल हींदल वनह मभारि ।
 मारुन प्रेरित वन भर नमइ सुरारि ॥

§ २५२ सन् १६४६ में श्री केशवराय कारीराम शास्त्री ने गुजराती हिन्दुस्तान में 'भालण : ब्रजभाषा जो आदि कवि' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया ।^१ सूरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने वालों की स्थापना को तथ्यपूर्ण मानते हुए इन्होंने भालण को सूर का पूर्ववर्ती सिद्ध करके ब्रज का आदि कवि बताया है । भालण का तिथिकाल निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा '१४६५ १५६५ जो श्री क्यों नो समय एना पूर्वार्ध ना अस्तित्व में पुरवार करी सकवानी स्थित मान होइ । उत्तरकाल में भाटे झेले के सं० १५५० १५६५ अथवा विनमनी १६ वीं सदी ना उत्तरार्ध मा परिणत यह सकै लै खरो ।'^२ इस निष्कर्ष में स्पष्ट भालण के पूर्व निर्धारित समय को सदेहास्पद मानकर उन्हें १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बताया गया है, फिर भी शास्त्री जो भालण को सूर पूर्व ही रखना चाहते हैं जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है । भालण के प्रसिद्ध काव्य 'दशमस्कन्द' के सम्पादक श्री इ० ६० काँगवाला ने भूमिका में लिखा है कि श्री रा० नारायण भाषां को भालण के मकान से एक खडित बन्म-कुण्डली प्राप्त हुई थी जिसमें 'सवत् १४७२ वर्ष भाद्रवा, वरी दिने शनी दशोत्तीर्णा एव जमतो गत वर्ष ११ मास २ दिन ८ तदनु सवत् भाद्रवावदी ने बुध दशा प्रवेश' आदि लिखा है ।^३ काँगवाला का अनुमान है कि १४६१ सवत् जिस पुरुष का जन्म वर्ष है, वह भालण का न हाकर उनके पुत्र का हो सकता है क्योंकि भालण के पुत्र विष्णुदास ने रामायण का उत्तरकांड रचा था जो सवत् १५७५ में पूर्ण हुआ था । इस अनुमान को यदि सही माने तो भालण सूर के काफी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं । श्री भाषां ने दिशावाल जगति के एक ब्राह्मण से यह भी सुना था, कि उसके पूर्वज भीठाराम और भालण सवत् १४५१ में दक्षिण हैदराबाद गये थे । भालण हैदराबाद और औरंगाबाद में रहे थे, वहाँ किसी रत्नादित्य राजा के दीवान ने पूजा के लिए चामुडा देवी की एक मूर्ति भेंट की थी जो भालण के घर में मौजूद है । इस मूर्ति के प्रष्ठ-भाग पर लिखा है 'सवत् १५२० वर्ष ठाकुर रत्नादित्य भाउ ही चामुडा पूजनार्थ राजादित्य पूर्वी

१. हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बवई, ११ नवंबर, १९४६ का अंक

२ वहाँ, पृ० ८ ।

३ भालण कृत दशमस्कन्द-कविचरित्र, पृ० २, सन् १९१४, बवईदा

आन्दोल

नाचइ गोपिय बृद, वाजइ मधुर मृदग
 मोडइ अग सुरंग, सारगधर वाइति महभरि ए ॥
 कुलवण महभरि ए ॥
 करलिय पकज नाल, सिरवरि फेरइ याल ।
 छुदिहि-वाजइ ताल, सारग धर वाइइ महभरि ए ॥
 सारा महि जिमि चन्द, गोपिय माहि मुकुन्द ॥
 पणमइ सुर नर इद, सारगधर वाइति महभरि ए ।
 कुलवण महभरि ए ॥
 गोपी गोपति फागु कीडत हौडत वनइ मम्भारि ।
 मारुत प्रेरित वन भर नमइ मुरारि ॥

§ २५२ सन् १६४८ में श्री केशवराम काशीराम शास्त्री ने गुजराती हिन्दुस्तान में 'भालण : ब्रजभाषा नो आदि कवि' शीर्षक लेख प्रकाशित कराया ।^१ सुरदास को ब्रजभाषा का आदि कवि मानने वालों की स्थापना को तत्पुर्ण मानते हुए इन्होंने भालण को सुर का पूर्ववर्ती सिद्ध करके ब्रज का आदि कवि बताया है । भालण का तिथिकाल निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा '१४६५ १५६५ नो सौ वर्षों नो समय एना पूर्वार्ध ना अस्तित्व में पुरवार करी सकवानी स्थित मान होइ । उत्तरकाल में भाटे अट्टले के सं० १५५० १५६५ अथवा विनमनी १६ वीं सदी ना उत्तरार्ध मा परिगत यह सकै छै खरो ।'^२ इस निष्कर्ष में स्पष्टतः भालण के पूर्व निर्धारित समय को सदेहास्पद मानकर उन्हें १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का बताया गया है, फिर भी शास्त्री जो भालण को एर पूर्व ही रखना चाहते हैं जैसा कि शीर्षक से ध्वनित है । भालण के प्रसिद्ध काव्य 'दशमस्कन्द' के सम्पादक श्री इ० द० काँगवाल ने भूमिका में लिखा है कि श्री रा० नायायण भायों को भालण के मकान से एक खडित बन्न-कुण्डली प्राप्त हुई थी जिसमें 'सवत् १४७२ वर्ष भाद्रवा, बदी दिने शनी दशोत्तीर्णा एव जमती गत वर्ष ११ मास २ दिन ८ तदनु सवत् भाद्रवावदी ने बुध दशा प्रवेश' आदि लिखा है ।^३ काँगवाल का अनुमान है कि १४६१ सवत् जिस पुरुष का जन्म वर्ष है, वह भालण का न होकर उनके पुत्र का हो सकता है क्योंकि भालण के पुत्र विष्णुदास ने रामायण का उत्तरकाण्ड रचा था जो सवत् १५७५ में पूर्ण हुआ था । इस अनुमान को यदि सही माने तो भालण सुर के काफी पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं । श्री भायों ने दिशावाल काति के एक ब्राह्मण से यह भी सुना था कि उसके पूर्वज मीठाराम और भालण सवत् १४५१ में दक्षिण हैदराबाद गये थे । भालण हैदराबाद और औरंगाबाद में रहे थे, वहाँ किसी रत्नादित्य राजा के दीवान ने पूजा के लिए चामुडा देवी की एक मूर्ति भेंट की थी जो भालण के घर में मौजूद है । इस मूर्ति के पृष्ठ-भाग पर लिखा है 'सवत् १५२० वर्ष ठाकुर रत्नादित्य भाउ ही चामुडा पूजनार्थ रत्नादित्य पूवी

१. हिन्दुस्तान गुजराती दैनिक, बबई, ११ नवंबर, १९४९ का अंक

२ वही, पृ० ८ ।

३ भालण कृत दशमस्कन्द-कविचरित्र, पृ० २, सन् १९१५, बदीदी

चित्त में वे लु कुर्भी रही है चोर चोर कहते है नाम ॥
 निरा दिन फारतो लु सुरभि के सगे शीर पर परत शीत घनघाम ।
 निस कुनि दोहन दधन को सुख करा बैठत नाहि जो काम ॥
 मोर पिच्छ गुजाफल ले ले वेख बनावत रचिर ललाम ।
 भालग प्रभु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब वाम ॥

पृ० २००-२०१

पद २५४ राग सारंग

कहो मैया कैसे मुख पाउं ।
 नाहिन सो लोक श्रीरामा खेलन सग कौन में जाउं ॥
 नाहिन गृहे वे प्रजवामिन के जहां चोर चोर दधि भाखन खाउं ।
 नाहिन वृन्दावन अति बलभ जा कान हु गौ चराउ ॥
 नाहिन वृन्द गोपी जन को जा कारन मृदु वेन घजाउं ।
 नाहिन जमलारुन वृख दौड जा कारन हुं आप बगउं ॥
 नाहिन प्रेम मेमो कीउ कु जा कु मेरो कथा सुनाउं ।
 भालग को उस सी कटु नाहीं अहियां के भागे प्रज के गुन गाउं ॥

पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

अथ पडवे को आयो दिन ।
 एते वास बड़े गने नाहीं कौडा कौनी नन्द भुवन
 सुत को सुन पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं लु दुन्य
 आये दो दिन भये लु नाहीं उठ चने कुन लुग जीवन
 अहि बाज कर हरि लु चले कुनि देखन लु कहां वृन्दावन
 हम पर प्रीति नाहिन मोहन की जैसे प्रज ऊपर है मन
 काहा कुमति भानक हुंदुभि की पडब रहें सांवर धन
 पादे आये को कहीं भाग राम संग चले पीत वसन
 जहाँ मिथारे गिरधर वे भवनी लोक सबधन
 विरह वेदना हरि नहिं जानत जानत है वे भालन जन

पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरी

सुत में सुनित लोक में बात ।
 मेरे सो तुम सत्य कहो सुन्दर रयामल रात ॥
 सर्दीपन को सुत मृयु भयो उदधि जल में पात ।
 बहोत दिवस ता कु निवड गए ते राम रहे वे मात ॥
 तुम पे गुरदब्दना मागी भान दीयो विरथात ।
 करबट सुत कमे बधे हे मेरे जेट तिहारे आत ॥

चित्त में वे लु कुभी रही है चोर चोर कहैत है नाम ॥
 निश दिन फौरतो लु सुरभि के सगे शीर पर परत शीत धनधाम ।
 निस कुनि दोहन दधन को सुख करी बैठत नाहि जो काम ॥
 मोर पिच्छ गुजाफल ले ले बेख बनावत रचिर ललाम ।
 भालग प्रसु विधाता की गति चरित्र तुम्हारे सब वाम ॥

पृ० २००-२०१

पद २५४ राग सारंग

कहो भैया कैसे सुख पाउं ।
 नाहिन सो लोक श्रीदामा खेलन सग कीन में जाउं ॥
 नाहिन गृहे वे प्रज्जवामिन के जहां चोर चोर दधि माखन खाउं ।
 नाहिन वृन्दावन अति बल्लभ जा कारण हु गौ चराउ ॥
 नाहिन वृन्द गोपी जन को जा कारण मृदु बेन बजाउं ।
 नाहिन जमलार्जुन वृत्त दोउ जा कारण हुँ भाव बजाउं ॥
 नाहिन प्रेम ऐमो कोउ कु जा कु मेरी कथा सुनाउं ।
 भालग को उस सी कतु नाहीं अहियां के भागै प्रज्ज के गुन गाउं ॥

पृ० २०१

२५५ राग धनश्री

भव पडवे को आयो दिन ।
 एते बरस बढ़े गने नाहीं कौडा कौनी नंद भुवन
 सुन को सुख पायो जशोदा मेरे पूरण नाहीं लु पुन्य
 आये दो दिन भये लु नाहीं डठ चने कुन जुग जीवन
 अहि वाज कर हरि लु चले कुनि देखन हु कहां वन्दावन
 हम पर प्रीति नाहिन मोहन की जैसो प्रज्ज ऊपर है मन
 काहा कुमति आनक दुंदुभि की पदव रही सोवर धन
 पाड़े आये की कहीं आश राम संग चले पांत वसन
 जहाँ मिथारे गिरधर वे भवना लोक सबधन
 विरह वेदना हरि नहिँ जानत जानत है वे भालग जन

पृ० २०१

पद २६४ राग गूजरि

सुत में सुनित लोक में बात ।
 मेरे सो तुम सन्य कहो सुन्दर स्वामल गात ॥
 सर्दापन को सुत मृयु भयो उदधि जल में पात ।
 वहीत दिवस ता कु निवड गए ते राम रहे वे मात ॥
 तुम पे गुरद्वन्दता मागी आन दीयो विरपात ।
 करबट सुन बने बचे हे मेरे जेष्ट विहारे आत ॥

नोटक

लाज हमारी छोपी तुमही सब मिलि घाल भुलायो
जहाँ जहाँ फिन्यो गहन वन गोचर तहाँ तहाँ सब भायी
भंजी भखिया कियो तुम अंजन कहे इय माता कोपी
झाड़ौ सब चतुरी चतुराई, भरे भरे वाठरी गोपी
कारिका

कपट करे है तुम भागे, सेज सूये नहीं जागे

नोटक

सेज सूये नहि जागे, बालक आय बोलावे
यमुना तीर तरुन सब देखत मोहन वेनु बजावे
लोनो चित सुराई चप्रभुज कहते कछु ना लागे
इम अबला दे धीर घरनिधर कपट करहीं तुम भागे

पृ० १०१

इन दो कवियों के अलावा कुछ अन्य भी कविया ने ब्रजभाषा में कविताएँ कीं। सत्रहवीं शताब्दी में गुजरात में काफी साहित्य ब्रजभाषा में भी लिखा गया, किंतु सरोत्तर होने के कारण यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक नहीं जान पड़ती। मीराबाई को भी गुजरात के लोग अपना कवि मानते हैं, मीरा का काल सूर के कुछ पहले या सम सामयिक पड़ता है, किंतु इनका परिचय ब्रजभाषा की मूल धारा के कवियों के साथ पहले ही किया जा चुका है। १७वीं १८वीं शती के कवियों का सक्षिप्त परिचय श्री बन्नाहरिलाल चतुर्वेदी ने 'गुजरात के ब्रज भाषी शुक पिक' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है।^१

१. पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४१३-४०

नोटक

लाज हमारी लोपों तुमहीं सब मिलि बाल भुलायो
जहाँ जहाँ फिन्पो गहन घन गोचर तहाँ तहाँ सग भायो
अंजी भखिया कियो गुन अंजन कहे ह्य माता कोपी
छाट्टी सब चतुरी चतुराई, भरे भरे वाठरी गोपी

कारिका

कपट करे है तुम भागे, सेज सूये नहीं जागे

नोटक

सेज सूये नहि जागे, बालक भाप बोलावे
पमुना वीर तरुन सब देखत मोहन वेनु बजावे
लोनो चित्त सुराई चरभुज कहते कछु ना लागे
हम भबला ये धीर धरनिपर कपट करहीं तुम भागे

५० १०१

इन दो कवियों के अलावा कुछ अन्य भी कविया ने ब्रजभाषा में कवितायें कीं। सत्रहवीं शताब्दी में गुजरात में काफ़ी साहित्य ब्रजभाषा में भी लिखा गया, किन्तु सूरोत्तर होने के कारण यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक नहीं जान पड़ती। मीराबाई को भी गुजरात के लोग अपना कवि मानते हैं, मीरा का काल ख्रि. के कुछ पहले या सम सामयिक पड़ता है, किन्तु इनका परिचय ब्रजभाषा की मूल धारा के कवियों के साथ पड़ते ही किया जा चुका है। १७वीं १८वीं शती के कवियों का सङ्ग्रह परिचय श्री बन्नाहरलाल चतुर्वेदी ने 'गुजरात के ब्रज भाषी शुक पिक' शीर्षक लेख में प्रस्तुत किया है।

(१०) रासो लघुतम, वार्ता	विक्रमी १५५०	(१० ल०वा०)
(११) ह्रिताई वार्ता	” १५५०	(छि० वा०)
(१२) भागवत गीता भाषा	” १५५७	(गी० भा०)
(१३) छीहल बावनी	” १५८४	(छी० वा०)

१४ वीं १६ वीं की पुष्कल सामग्री में से १३ हस्तलेखों को चुनने का मुख्य कारण इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता ही है। लघुतम रासो के एक पुराने हस्तलेख से कुछ वार्तायें श्री अगारचन्द नाहद ने ब्रजभारती के (आश्विन भगहन, सन् २००६) अंक में प्रकाशित कराई हैं। गद्य की कोई प्रामाणिक कृति इस युग में प्राप्त नहीं हुई, इस कमी को वे वचनिकाएँ दूर कर सकती हैं। इनमें प्राचीन ब्रजभाषा गद्य का रूप सुरक्षित है। इनका समय मैंने अत्यन्त पीछे खींचकर १५५० विक्रमान्द अनुमान किया है। ये इससे पहले की भी हो सकती हैं।

ध्वनि-विचार

§ २५६. प्रा० ब्र० में आर्यभाषा के मध्यमालीन स्तर की प्रायः सभी ध्वनियाँ सुरक्षित हैं। अनभ्रश की कुछ विशिष्ट ध्वनि प्रवृत्तियों का अभाव भी दिखाई पड़ता है। नव्य आर्यभाषा में कई प्रकार की नयी ध्वनियों का निर्माण भी हुआ।

प्राचीन ब्रज में निम्नलिखित स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं :—

अ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

पिगल ब्रज में सध्वत्तर ऐ और औ के लिए अए, और अओ, जैसे समुक्त स्वरों का प्रयोग मिलता है (देखिये § १०५) इनका परवर्ती विकास पूर्ण सध्वत्तर औ और ऐ के रूप में हुआ। प्राकृत पैंगलम् की भाषा में किया रूप में कहीं भी 'औ'कारान्त प्रयोग नहीं मिलते। सर्वत्र 'ओ'कारान्त ही दिखाई पड़ते हैं। 'औ'कारान्त किया रूप परवर्ता विकास है। प्राचीन ब्रज के उपर्युक्त स्वर सानुनासिक भी होने हैं।

§ २५७. अ का एक रूप 'अँ' पादान्त में सुरक्षित दिखाई पड़ता है।

ब्रजभाषा में मध्य अँ प्रायः और अन्त्य 'अँ' का नियमित लोप होता है। (ब्रजभाषा § ८६) नव्य आर्य भाषा के विकास के आरम्भिक दिनों में इस प्रकार की प्रवृत्ति सम्भवतः प्रधान नहीं थी। बहुत से शब्दों में अन्त्य 'अँ' सुरक्षित मालूम होता है। छन्दोबद्ध कविता की भाषा में प्रयुक्त शब्दों में इस प्रकार की प्रवृत्ति को चाहें तो मौलिक न भी मानें, किन्तु वहाँ अन्त्य 'अँ' का लोप स्वीकार करना उचित नहीं मालूम होता। अयाण (प्र० च०) सायर (प्र० च० १५) वयण (प्र० च० १३६) अठार (ह० पु० २७ अष्टादश) गेह (म० क० १) इत्यादि शब्दों में अन्त्य अँ का उच्चारण एकदम लुप्त नहीं मालूम होता। १२वीं १३वीं शती में मध्यदेशीय भाषा में भी अन्त्य 'अँ' सुरक्षित ध्वनि थी। उक्ति व्यक्ति की भाषा में डा० चाटुर्जी के मन से अन्त्य 'अँ' का उच्चारण अतदिग्ध रूप में सुरक्षित दिखाई पड़ता है। (उक्ति व्यक्ति स्टडी § ५)।

§ २५८. आद्य या मध्यम अक्षर में कभी कभी अ का इ रूप भी दिखाई पड़ता है।

(१०) रासी लघुतम, वार्ता	विक्रमी १५५०	(१० ल०वा०)
(११) ह्रिताई वार्ता	,, १५५०	(छि० वा०)
(१२) भागवत गीता भाषा	,, १५५७	(गी० भा०)
(१३) छीहल बावनी	,, १५८५	(छी० बा०)

१४ वीं १६ वीं की पुष्कल सामग्री में से १३ हस्तलेखों को चुनने का मुख्य कारण इनकी प्रामाणिकता और प्राचीनता ही है। लघुतम रासी के एक पुराने हस्तलेख से कुछ वार्तायें श्री अग्रचन्द्र नाट्य ने व्रजभारती के (आश्विन भगहन, सवत् २००६) अंक में प्रकाशित कराई हैं। गद्य को कोई प्रामाणिक वृत्ति इस युग में प्राप्त नहीं हुई, इस कमी को ये वचनिकाएँ दूर कर सकती हैं। इनमें प्राचीन व्रजभाषा गद्य का रूप सुरक्षित है। इनका समय मैंने अत्यन्त पीछे खींचकर १५५० विक्रमान्द अनुमान किया है। ये इससे पहले की भी हो सकती हैं।

ध्वनि-विचार

§ २५६. प्रा० ब्र० में आर्यभाषा के मध्यमालीन स्तर की प्रायः सभी ध्वनियाँ सुरक्षित हैं। अन्नभ्रंश की कुछ विशिष्ट ध्वनि प्रवृत्तियों का अभाव भी दिखाई पड़ता है। नव्य आर्यभाषा में कई प्रकार की नयी ध्वनियों का निर्माण भी हुआ।

प्राचीन व्रज में निम्नलिखित स्वर ध्वनियाँ पाई जाती हैं :—

अ, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ।

पिगल व्रज में सभ्यत्तर ऐ और औ के लिए अए, और अओ, जैसे सयुक्त स्वरों का प्रयोग मिलता है (देखिये § १०५) इनका परवर्ती विकास पूर्ण सभ्यत्तर औ और ऐ के रूप में हुआ। प्राकृत पैंगलप की भाषा में क्रिया रूपाँ में वहाँ भी 'औ'कारान्त प्रयोग नहीं मिलते। सर्वत्र 'ओ'कारान्त ही दिखाई पड़ते हैं। 'औ'कारान्त क्रिया रूप परवर्ता विकास हैं।

प्राचीन व्रज के उपर्युक्त स्वर सातुनास्तिक भी होते हैं।

§ २५७. अ का एक रूप 'अँ' पाशान्त में सुरक्षित दिखाई पड़ता है।

व्रजभाषा में मध्य अँ प्रायः और अन्त्य 'अँ' का नियमित लोप होता है। (व्रजभाषा § ८६) नव्य आर्य भाषा के विकास के आरम्भिक दिनों में इस प्रकार की प्रवृत्ति सम्भवतः प्रधान नहीं थी। बहुत से शब्दों में अन्त्य 'अँ' सुरक्षित मालूम होता है। छन्दोबद्ध कविता की भाषा में प्रयुक्त शब्दों में इस प्रकार की प्रवृत्ति को चाहें तो मौलिक न भी मानें, किन्तु वहाँ अन्त्य 'अँ' का लोप स्वीकार करना उचित नहीं मान्य होता। अयाण (प्र० च०) तायर (प्र० च० १५) वयण (प्र० च० १३६) अडार (इ० पु० २७ अशदश) गेह (म० व० १) इत्यादि शब्दों में अन्त्य अ का उच्चारण एकदम लुप्त नहीं मान्य होता। १२वीं १३वीं शती में मध्यदेशीय भाषा में भी अन्त्य 'अँ' सुरक्षित ध्वनि थी। उक्ति व्यक्ति की भाषा में डा० चातुर्वर्ण्य के मन से अन्त्य 'अँ' का उच्चारण अतदिग्ग रूप में सुरक्षित दिखाई पड़ता है। (उक्ति व्यक्ति स्तब्ध § ५)।

§ २५८. आद्य या मध्यम अक्षर में कभी कभी अ का इ रूप भी दिखाई पड़ता है।

१२६३. मध्यग इ का कमी कमी य रूपान्तर भी होता है ।

गोयन्द (म० क० २६५। १ < गोविन्द) मानस्यष (गी० भा० ६ < मानसिंह) व्यते (पं० वे० २६ < चित्तइ) । कृदन्तज भूतकालिक क्रिया में इ > य का आगम । 'वोल्पउ' में 'ध' बोलिअउ के इ का ही रूपान्तर है । उसी तरह सहारण शब्द १२५८ के अनुसार सिंहारण और निर स्यपारण (ल० प० क० ७१) हो गया ।

१२६४. 'अ+उ' या 'अ+इ' का औ या ऐ उद्भूत स्वर से सध्यद्वर रूप में परिवर्तन हो जाता है । यह प्रवृत्ति अवहृष्ट या षिगल ङाल में ही शुरु हो गई थी । प्राचीन ढ्रज की इन रचनाओं में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं । जिनमें उद्भूत स्वर सुरक्षित हैं, यथा—

चाल्पउ (ल० प० क० ५६।१ > चल्पौ) च्यारउ (छी० बा० ४।५ > च्यारौ) चउवारे (प्र० च० १६।१।१ > चौवारे) चउपास (प्र० च० > चौपास) चिहइ (छी० बा० १।३ > चीन्है) चडिउ (प्र० च० ३।१ > चड्यौ) उदीउई (प्र० च० ४०।३।१ > उदीउै) एतउ (ल० प० क० १३।१ > एतौ) कइमात् (रा० व० ३ > कैमास) कहइ (रा० बा० १ > कहै) करउ (म० क० ८।१ > करौ) खपइ (छी० बा० ६।४ > खपै) गहइ (छी० बा० ६।६ > गहै) दीघउ (ल० प० क० > दीघौ) दिखावइ (छि० बा० १३३ > दिखावै) घरई (स्वर्ग० > घरै) नीसरइ (ल० प० क० २।१ > नीसरै) मनइ (स्वर्ग० > मनै) । इस प्रकार के एक दो नहीं सैकड़ों प्रयोग मिलते हैं जिनमें उद्भूत स्वरों की सुरक्षा दिखाई पडती है । यह इन रचनाओं की प्राचीनता का एक सबल प्रमाण है । किन्तु हम इसे मूल प्रवृत्ति नहीं कह सकते क्योंकि उद्भूत स्वरों के स्थान पर सध्यद्वरों के प्रयोगों के उदाहरण भी कम नहीं हैं । बल्कि गणना करने पर सध्यद्वरों के प्रयोग ही ज्यादा मिलते हैं । नीचे कुछ इस प्रकार के प्रयोग उनके अन्वयश रूपों के साथ दिये जाते हैं । आनीयो (ल० प० क० ५८।२ < आनीपउ) उपजो (गी० भा० ४१ < उपजउ) औगुन (प० वे० < अउगुण < अउगुण) कैमासहिं (रा० ल० ५ < कइमासहिं) कौ (स्व० < कउ) सकै (६० मं० < सकइ) गन्यौ (गी० भा० ४१ < गणउ) चौपही (वि० प० < चउपई) चौगुनी (गी० भा० १३ < चउगुणी) चौक (म० क० २६।५।१ < चउवक < चतुष्क) चमियौ (प० वे० ३३ < चमियउ) दीसै (म० क० १२।२ < दीसइ) नाव्यो (प० वे० १० < नवउ) पहिरो (छि० बा० १३५ < पहिरउ) आदि ।

१२६५. स्वर सकोच नव्य आर्य भाषाओं की एक मूल ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति मानी जाती है । प्राचीन ढ्रज में स्वर-सकोच कई प्रकार से हुआ है ।

(१) अउ > उ

कुण (रा० ल० ३६ < कउण < कवण) जुदुराय (गी० भा० २६ < जादुराय < यादवयय) दीउ (ल० प० क० < दियउ)

(२) इअ > ई ।

अहारी (छी० बा० २०।४ अहारिअ < आहारिक) अरनाई (६० मं० < अरनाइअ < आत्मनः + कृत) करी (६० मं० < करिय < करित = कृत) दीउी (ल० प० क० < दिदिअ < इदित = इष्ट) भई (छी० बा० < भइअ

‡ २६३. मध्यग इ का कभी कभी य रूपान्तर भी होता है ।

गोपन्द (म० क० २६५। १ < गोविन्द) मानस्यघ (गी० भा० ६ < मानसिंह) व्यते (पं० वे० २६ < चितइ) । कृदन्तज भूतकालिक क्रिया में इ > य का आगम । 'योत्पउ' में 'य' वोलिअउ के इ का ही रूपान्तर है । उसी तरह सङ्करण शब्द ‡ २५८ के अनुसार सिङ्करण और निर स्यघरण (ल० प० क० ७१) हो गया ।

‡ २६४. 'अ+उ' या 'अ+इ' का औ या ऐ उद्भूत स्वर से सध्यद्वर रूप में परिवर्तन हो जाता है । यह प्रवृत्ति अवहृष्ट या विंगल काल में ही शुरु हो गई थी । प्राचीन ब्रज की इन रचनाओं में इस तरह के बहुत से प्रयोग मिलते हैं । जिनमें उद्भूत स्वर सुरक्षित हैं, यथा—

चल्पउ (ल० प० क० ५६।१ > चल्पौ) च्यारउ (छी० वा० ४।५ > च्यारौ) चउवारे (म० च० १६१।१ > चौवारे) चउपास (म० च० > चौपास) चिन्हइ (छी० वा० १।३ > चीन्है) चटिउ (म० च० ३।१ > चट्यौ) उदीठई (म० च० ४०३।१ > उदीठै) एतउ (ल० प० क० १३।१ > एतौ) कइमास (रा० व० ३ > कैमास) कहइ (रा० वा० १ > कहै) करउ (म० क० ८।१ > करौ) खपर (छी० वा० ६।४ > खपै) गहइ (छी० वा० ६।६ > गहै) दीघउ (ल० प० क० > दीघौ) दिलावइ (छि० वा० १३३ > दिलावै) घरई (स्वर्ग० > घरै) नीसरइ (ल० प० क० २।१ > नीसरै) मनइ (स्वर्ग० > मनै) । इस प्रकार के एक दो नहीं सैकड़ों प्रयोग मिलते हैं जिनमें उद्भूत स्वरों की सुरक्षा दिखाई पडती है । यह इन रचनाओं की प्राचीनता का एक सबल प्रमाण है । किन्तु हम इसे मूल प्रवृत्ति नहीं कह सकते क्योंकि उद्भूत स्वरों के स्थान पर सध्यद्वरों के प्रयोगों के उदाहरण भी कम नहीं हैं । बल्कि गणना करने पर सध्यद्वरों के प्रयोग ही ज्यादा मिलते हैं । नीचे कुछ इस प्रकार के प्रयोग उनके अन्वय रूपों के साथ दिये जाते हैं । आनीयो (ल० प० क० ५८।२ < आनीयउ) उपजरो (गी० भा० ४१ < उपजउ) औगुन (प० वे० < अउगुण < अवगुण) कैमासहि (रा० ल० ५ < कइमासहि) कौ (स्व० < कउ) सकै (व० मं० < सकइ) गन्यौ (गी० भा० ४१ < गणउ) चौपहो (वि० प० < चउपई) चौगुनो (गी० भा० १३ < चउगुणी) चौक (म० क० २६५।१ < चउवक < चतुष्क) चनिपौ (प० वे० ३३ < चनिपउ) दीधै (म० क० १२।२ < दीधइ) नान्यो (प० वे० १० < नबउ) पहिरो (छि० वा० १३५ < पहिरउ) आदि ।

‡ २६५. स्वर सकोच नव्य आर्य भाषाओं की एक मूल ध्वन्यात्मक प्रवृत्ति मानी जाती है । प्राचीन ब्रज में स्वर-सकोच कई प्रकार से हुआ है ।

(१) अउ > उ

कुण (रा० ल० ३६ < कउण < कवण) कदुराय (गी० भा० २६ < जाद्वुराय < याद्वुराय) दीउ (ल० प० क० < दियउ)

(२) इअ > ई ।

अहारी (छी० वा० २०।४ अहारिअ < आहारिक) अरनाई (व० मं० < अपनाइअ < आत्मनः + कृत) करी (व० मं० < करिय < *करित = कृत) दीठी (ल० प० क० < दिठिय < *दठित = दष्ट) भई (छी० वा० < भइअ

§ २६६ अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं ।

औंत्तु (प्र० च० १३६ <अत्तु प्रा० पैं० <अधु) हैंति हैंति (प्र० च० ४०८√हस्) करौदि (७०६ प्र० च०√कृ) यहाँ शुक के कारण मोंदि के वजन पर समवत करादि किया गया । चहुँदिसि (प्र० च० १८<चउदिसि, हश्रुति, <चतुर्दिशि) सँत (हरि० पु०<श्वास) पुँळि (ह० पु०√प्रळ्) सँवी (प० वे० ५३<सर्प) ।

§ २७० सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है । वगाँव अनुनासिका के स्पर्श से या अनुस्वारित स्वरों के साथ में रहने वाले स्वर भी सानुनासिक हो जाते हैं । उक्ति व्यक्ति प्रकरण में अनुनासिकता के विषय में विचार करते हुए इस प्रकार की सम्पर्कज सानुनासिकता के सदर्म में डा० चाटुज्या ने लिखा है कि उक्ति व्यक्ति की भाषा में यह प्रवृत्ति बंगाली और विहारी के निकट दिखाई पड़ती है, पश्चिमी हिन्दी के नहीं (देखिये, उक्तिव्यक्ति सट्टी § २१) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सम्पर्कज सानुनासिकता उक्तिव्यक्ति की भाषा की तरह ही दिखाई पड़ती है । उक्ति व्यक्ति में इस प्रकार के उदाहरणों में विहागदि (३४।२३) भाभा (१६।१६) वणिण (१४।२०) आदि दिए गए हैं । नीचे प्राचीन ब्रज के कुछ उदाहरण उपरिपठ किये जाते हैं ।

कहाँ माइ (हरि० पु०) तुम कौ (स्व० रो०<कउ) परम आपणा (ल० प० क० १३ <आपण) मुजाण (दि० वा०<१२४<मुजाण<मुजान) कवलिय (प० वे० २६<कमल) अग्रति (गी० भा० २<अमृत) वाणिया (प्र० च० १८<वणिक) जाणायो (प्र० च० १८<जाणीयउ√श) कुवर (प्र० च० १२६<कुमार) वाण (प्र० च० ४०२<वाण) पराण (प्र० च० ४०३<प्राण) काणि (प्र० च० ४०२=कानि) पाणि (प्र० च० ४०२<पाणि) मुणाव (ह० पु०<मुणाउ) नाम (ल० प० क० ६<यावत्) ।

§ २७१ पदान्त के अनुस्वार प्राय अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होते हैं । प्राकृत और अपभ्रंश काल में पदान्त अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही समझे जाते थे । विशेष के मत से पदान्त अनुस्वार विकल्प से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों माने जाते थे (देखिए प्रमै० § १८०) हेमचन्द्र के दोहों में भी अपभ्रंश के पदान्त 'उ', 'हुँ' या 'ह' इत्यादि ने अनुस्वार प्राय ह्रस्व उच्चरित होते थे । डा० तेसीतोरि का कहना है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रंश में (हेमचन्द्र) ही अनुनासिक में बदल गया था (देखिए पुरानी राजस्थानी § २०) प्राचीन ब्रजभाषा को अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति और भी विकसित रूप में प्राप्त हुई । यहाँ पर पदान्त अनुसार निश्चय ही अनुनासिक हैं । इसीलिए प्राय, इन्हें चन्द्र विन्दु से व्यक्त किया जाता है । हस्तलेखों में चन्द्रविन्दु देने का प्रचलन नहीं था, इसलिए यहाँ विन्दु ही दिया गया है, पर ये है अनुनासिक ही । यथा—

जियउ (प्र० च० १३७) हरउ, परउ (प्र० च० १३८) अततरिउ (प्र० च० ७०५) पाऊ (६० म०) ल्हहुँ (स० रो०) मनावँ (वै० प०) हाहिँ (वै० प०) चाई (प०वे० २०) तैसँ (गी० भा० ३०) सघरों, करों (गी० भा० ५८) इस प्रकार के पदान्त अनुस्वार के अनुनासिक की तरह उच्चरित होने वाले बहुतेरे उदाहरण इन रचनाओं में मरे पड़े हैं ।

‡ २६६ अकारण अनुनासिकता के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं ।

औँतु (प्र० च० १३६ < अनु प्रा० पँ० < अभु) हँसि हँसि (प्र० च० ४०८ √ हस्) करौँहि (७०६ प्र० च० √ कृ) यहाँ तुक के कारण मॉँहि के वजन पर सभवत कराँहि किया गया । चहुँदिसि (प्र० च० १८ < चउदिसि, ह्शुति, < चतुर्दिशि) सौँस (हरि० पु० < श्वास) पुँछि (६० पु० √ प्रच्छ) सौँवी (५० वे० ५३ < सर्प) ।

‡ २७० सम्पर्कज सानुनासिकता की प्रवृत्ति भी दिखाई पडती है । वगाँय अनुनासिका के स्थर्य से या अनुस्वारित स्वरों के साथ में रहने वाले स्वर भी सानुनासिक हो जाते हैं । उक्ति व्यक्ति प्रकरण में अनुनासिकता के विषय में विचार करते हुए इस प्रकार की सम्पर्कज सानुनासिकता के सर्भ में डा० चातुर्व्या ने लिखा है कि उक्ति व्यक्ति की भाषा में यह प्रवृत्ति बगाली और विहारी के निक्क दिखाई पडती है, पश्चिमी हिन्दी के नहीं (देखिये, उक्तिव्यक्ति एड्री ‡ २१) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें सम्पर्कज सानुनासिकता उक्तिव्यक्ति की भाषा की तरह ही दिखाई पडती है । उक्ति व्यक्ति में इस प्रकार के उदाहरणों में विहाणहि (३४२३) माभ (१६।१६) वणिण (१४।२०) आदि दिए गए हैं । नीचे प्राचीन ब्रज के कुछ उदाहरण उपरिथत किये जाते हैं ।

कहाँ माइ (हरि० पु०) तुम कौ (स्व० रो० < कउ) परम आपणा (ल० प० क० १३ < आपण) मुजाण (द्वि० वा० < १२४ < मुजाण < मुजान) क्वल्यि (प० वे० २६ < कमल) अप्रति (गी० भा० २ < अमृत) वाणिषा (प्र० च० १८ < घणिक) जाणायो (प्र० च० १८ < जाणीयउ √ ज्ञा) कुषर (प्र० च० १२६ < कुमार) वाण (प्र० च० ४०२ < वाण) पराण (प्र० च० ४०३ < प्राण) काणि (प्र० च० ४०२ = कानि) पाणि (प्र० च० ४०२ < पाणि) मुणाव (६० पु० < मुणाउ) नाम (ल० प० क० ६ < यावत्) ।

‡ २७१ पदान्त के अनुस्वार प्राय अनुनासिक ध्वनि की तरह उच्चरित होते हैं । प्राकृत और अपभ्रंश काल में पदान्त अनुस्वार ह्रस्व और दीर्घ दोनों ही समके जाते थे । विशेष के मत से पदान्त अनुस्वार निकल्य से अनुस्वार और अनुनासिक दोनों माने जाते थे (देखिए ग्रन्थ ‡ १८०) हेमचन्द्र के दोहों में भी अपभ्रंश के पदान्त 'उ', 'हुँ' या 'ह' इत्यादि ने अनुस्वार प्राय ह्रस्व उच्चरित होते थे । डा० तेसीतोरि का कहना है कि पदान्त अनुस्वार अपभ्रंश में (हेमचन्द्र) ही अनुनासिक में बदल गया था (देखिए पुरानी राजस्थानी ‡ २०) प्राचीन ब्रजभाषा की अपभ्रंश की यह प्रवृत्ति और भी विकसित रूप में प्राप्त हुई । यहाँ पर पदान्त अनुसार निरचय ही अनुनासिक हैं । इसीलिए प्राय, इन्हें चद्र विडु से व्यक्त किया जाता है । हस्तलेखों में चद्रविडु देने का प्रचलन नहीं था, इसलिए यहाँ विडु ही दिया गया है, पर ये है अनुनासिक ही । यथा—

जियउ (प्र० च० १३७) हरउ, परउ (प्र० च० १३८) अक्तरिउ (प्र० च० ७०५) पाऊ (६० म०) लइहुँ (स० रो०) मनावँ (वै० प०) हाँहि (वै० प०) तारँ (प० वे० २०) तैसँ (गी० भा० ३०) सपरौ, करौ (गी० भा० ५८) इस प्रकार के पदान्त अनुस्वार के अनुनासिक की तरह उच्चरित होने वाले बहुतेरे उदाहरण इन रचनाओं में भरे पड़े हैं ।

र ड—खरी (प्र० च० १३६ खडी) जोरि (प्र० च० ७०२ जोडि ७ प्र० च० ३२) पर्यो (ह० पु० पड्यो) धीरा (वि० प० < वीडा < वीटिका) जोरे (वि० प० जोहे) थोरो (वि० पु० < थोडइ < स्तोफ) करोर (गी० भा० १ < करोड < कोटि) ।

ड र—आहुडि (ह० पु० ६ बहुरि, छि० वा० १२८) तोडइ (ह० पु० तोरइ) पाडइ (ह० पु० पारइ) पडिखा (प० वे० ४ < परिखा) ।

ल र—जरे (म० क० २ जलइ) रावर (म० क० ४ < रावल < राजकुल) आरमु (म० क० ७ < आरलस्य) हैवारे (स्व० रो० ३ < हिमालय) भुवार (म० रो० ५ < भूपाल) बारु (गी० भा० २५ < जाल) रखवारु (गी० भा० ३६ < रखपाल < रत्नपाल) ।

ल का र रूपान्तर प्रायः ब्रज की सभी बोलियों में पाया जाता है (देखिए ब्रजभाषा § १०६) ।

§ २७६ न्ह, म्ह और ल्ह इन तीन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग होने लगा था ।

न्ह—दीन्हेड (ह० पु० < दिण्णड हेम० ४।४३०) न्हाले (प० वे० ६७)

म्ह—ग्रह (हरि० पु० २६ < ब्रह्म)

ल्ह—उल्हास (गी० भा० ३२ < उल्हास) मेलहै (ह० पु० < मेल्लइ हेम० ४।४३० छोडना) घरह (पं० वे० ६६)

इन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग परवर्ती अग्रभ्रश काल से ही किसी न किसी रूप में शुरू हो गया था (देखिये § ५३) किन्तु प्राचीन ब्रजभाषा में इनका बहुत प्रयोग नहीं मिलता । मध्यकालीन और परवर्ती ब्रज में अलग-तता इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है । १२वीं शती के उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी ये ध्वनियाँ मिलती हैं (द्रष्टव्य स्टडी § ३१) मिर्जाखाँ इन ध्वनियों को समुक्त ध्वनि नहीं बल्कि एक ध्वनि मानते हैं । (ए ब्रज ग्रामर, इन्ट्रोडक्शन पृ० १८) ।

§ २७७ मध्यगु क कई स्थलों पर ग हो गया है ।

अनेग (रा० ल० ३६ < अनेक) इगुणीस (ल० प० क० ७२।१ < इकुणीस < एकोन विंशति) उपगार (छी० वा० < उपकार) कातिग (पं० वे० ७१ < कातिक < कार्तिक) भुगु भ्रगु (ह० पु० < भिक् भिक्) प्रगट (रा० ल० वा० १४ < प्रकट) भुगति (छी० वा० १८।५ < भुक्ति) मगंज (प्र० च० १६ < मरकत) ।

§ २७८. च का रूपान्तर प्रायः दो प्रकार से होता है ।

च < छ

नछत्र (प्र० च० ११ < नचत्र) जच्छ (म० च० १५ < यच्छ) छत्री (प्र० च० ४०८ < चत्रिय) पतरिछ (प्र० च० ४१०।१ < प्रत्यच्छ)

च < ख

खत्तिय (छि० वा० ३१ < चत्रिय) खान्ति (छि० वा० १३२ < चान्ति) रखवालण (प० वे० १६८ < रत्नपाल) खल (म० क० ७।१ < च्ख) खलनोती (ल० प० क० ६३।१ < लच्छावती) कुछ शब्दों में च, का प रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी च का उच्चारण ख ही होता है ।

§ २७९. त का ज रूपान्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

मगंज (प्र० च० १६ < मरकत) त्य का च रूपान्तर अग्रभ्रश में होता था । चचं कुसइ

र ड—खरी (प्र० च० १३६ <खडी) जोरि (प्र० च० ७०२ जोडि ७ प्र० च० ३२) पर्यो (ह० पु० पड्यो) धीरा (वि० प० <वीडा <वीटिका) जोरे (वि० प० जोड़े) थोरो (वि० पु० <थोडइ <स्तोक) करोग (गी० भा० १ <करोड <कोटि) ।

ड र—बाहुडि (ह० पु० ६ बहुरि, छि० वा० १२८) तोडइ (ह० पु० तोरइ) पाडइ (ह० पु० पारइ) पडिखा (प० वे० ४ <परिखा) ।

ल र—झरै (म० क० २ जलइ) खवर (म० क० ४ <खवल <राजकुल) ग्यारसु (म० क० ७ <आलस्य) हैकारे (स्व० रो० ३ <हिमालय) भुवारा (म० रो० ५ <भूपाल) बारू (गी० भा० २५ <जाल) रखवारू (गी० भा० ३६ <रखपाल <रत्नपाल) ।

ल का र रूपान्तर प्रायः व्रज की सभी बोलियों में पाया जाता है (देखिए व्रजभाषा § १०६) ।

§ २७६ ढ, म् और ल्ह इन तीन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग होने लगा था ।

ढ—दीन्हेउ (ह० पु० <दिण्णउ हेम० ४।४३०) ढ्हाले (प० वे० ६७)

म्—मम्ह (हरि० पु० २६ <मल)

ल्ह—उल्हास (गी० भा० ३२ <उल्हास) मेल्लै (ह० पु० <मेल्लइ हेम० ४।४३० छोटना) गल्ह (प० वे० ६६)

इन महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग परवर्ती अवधरा काल से ही किसी न किसी रूप में शुरु हो गया था (देखिये § ५३) किन्तु प्राचीन व्रजभाषा में इनका बहुल प्रयोग नहीं मिलता । मध्यकालीन और परवर्ती व्रज में अव्यक्ता इनका प्रचुर प्रयोग हुआ है । १२वीं शती के उक्ति व्यक्ति प्रकरण में भी ये ध्वनियाँ मिलती हैं (द्रष्टव्य स्टडी § ३१) मिर्जापूँ इन ध्वनियों को सशुक्त ध्वनि नहीं बल्कि एक ध्वनि मानते हैं । (ए व्रज ग्रामर, इन्ट्रोडक्शन पृ० १८) ।

§ २७७ मध्यगु क कई स्थलों पर ग हो गया है ।

अनेग (ग० ल० ३६ <अनेक) इगुणीस (ल० प० क० ७२।१ <इकुणीस <एकौन विराति) उपगार (छी० वा० <उपकार) कातिग (प० वे० ७१ <कातिक <कार्तिक) धुगु धगु (ह० पु० <धिक् धिक्) प्रगट (ग० ल० वा० १४ <प्रकट) भुगति (छी० वा० १८।५ <भुक्ति) मर्गज (प्र० च० १६ <मरकत) ।

§ २७८ च का रूपान्तर प्रायः दो प्रकार से होता है ।

च < छ

नछत्र (प्र० च० ११ <नचत्र) जख्ल (प्र० च० १५ <यख्ल) छत्री (प्र० च० ४०८ <चत्रिय) पतरिछ (प्र० च० ४१०।१ <प्रत्यक्ष)

च < छ

सत्तिय (छि० वा० ३१ <सत्रिय) खान्ति (छि० वा० १३२ <क्षान्ति) रलघालण (प० वे० १६८ <रत्नपाल) दल (म० क० ७।१ <बृद्ध) लखनोती (ल० प० प० ६३।१ <लक्षणावती) कुछ शब्दों में च, का य रूप भी मिलता है किन्तु वहाँ भी च का उच्चारण ख ही होता है ।

§ २७९. त का ज रूपान्तर अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

मर्गज (प्र० च० १६ <मरकत) ल का च रूपान्तर अवधरा में होता था । चत्तकुसह

‡ २८३. ध्य का ऋ रूपान्तर-अपभ्रंश की तरह ही ध्य का ऋ रूपान्तर हो गया है। आश्चर्य तो यह है कि ध्य > ऋ को सुरक्षित रखनेवाले तद्भव शब्द वाद की ब्रजभाषा में कई स्थलों पर उचित न माने जाकर छोड़ दिये गए किन्तु आरभिक ब्रज में इस प्रकार के अपरिचित शब्द प्रयोग में आते रहे हैं। उदाहरण के लिए भावहिं (प्र० च० ७०६ < ध्यायति, तुलनीय हेम ४।४४०) जुक्त (सज्ञा म० क० २ < जुक्त < युज्य)।

‡ २८४ मध्यग ट का ड में परिवर्तन—

तोडइ (ह० पुराण < श्रोडति विशेष ‡ ४८६)

जड़े (प्र० च० १६ < जडित)

सकड्ड (छी वा० १० < सकट)

घडन (छी० वा० १३ < घट)

यह बहुत पुराना नियम है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है (हेम० ८।१।१६८)।

‡ २८५. त्स > छ : त्स का च्छ रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। आरभिक ब्रज में च् भी लुप्त हो गया। इस प्रकार त्स > छ के रूपान्तर मिलते हैं। जो एक कदम आगे के रूप हैं। उल्लुग (ह० पुराण < उच्छुग < उत्सग) मछि (प० वे० १६ < मच्छ < मत्स्य)।

‡ २८६. स्त > य-परिवर्तन भी सलक्ष्य है।

शुत (गी० भा० ६ < स्तुति) हथनापुर (गी० भा० ७ < हस्तिनापुर)

वर्ण-विपर्यय

‡ २८७ वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति न य आर्यभाषाओं में पाई जाती है। जैसे मध्यकालीन प्राकृत अपभ्रंश में भी इसना किंचित् रूप दिखाई पड़ता है। डा० तेसीतोरि ने वर्ण विपर्यय के उदाहरणों को चार वर्गों में बाँटा है। यह वगाकरण काफी हद तक पूर्ण कहा जा सकता है। मात्रा विपर्यय, अनुनासिक विपर्यय, स्वर विपर्यय और व्यञ्जन विपर्यय।

मात्रा विपर्यय

तवोर (गी० भा० २१ < ताम्बूल)

सहू (ल० प० क० ३ < अप० साहू < शशवत्, विशेष ‡ ६४)

कुरवा (गी० भा० ५६ < कौरव)

अनुनासिक विपर्यय

कँवलिय (प० वे० २५ < कँल < कमल)

भँवर (प० वे० २५ < भँवर < भ्रमर)

कुँवर (ह० पु० < कुँवर < कुमार)

अँकवार (ह० पुराण < अकवार < अकमाल)

स्वर विपर्यय

(१) परील्लति (स्व० पर्व० < परीक्षित)

(२) सिमरँ (गी० भा० < समिरउँ < स्मृ)

(३) पचाबननु (गी० भा० ४३ < पालजन्म)

§ २८३. ध्य का भू रूपान्तर-अपभ्रंश की तरह ही ध्य का भू रूपान्तर हो गया है। आश्चर्य तो यह है कि ध्य > भू को सुरक्षित रखनेवाले तद्भव शब्द बाद की ब्रजभाषा में कई स्थलों पर उचित न माने जाकर छोड़ दिये गए किन्तु आरभिक ब्रज में इस प्रकार के अपरिचित शब्द प्रयोग में आते रहे हैं। उदाहरण के लिए भावहिं (प्र० च० ७०६ < ध्यायति, तुलनीय हेम ४।४४०) जुभ (सशा म० क० २ < जुग्भ < सुध्य)।

§ २८४ मय्यग ट का ड में परिवर्तन—

तोड्ड (ह० पुराण < श्रोडति विशेष § ४८६)

जड़े (प्र० च० १६ < जडित)

सकड्ड (छी वा० १० < सकट)

घडन (छी० वा० १३ < घट)

यह बहुत पुराना नियम है, जो प्राचीनकाल से चला आ रहा है (हेम० ८।१।१६८)।

§ २८५. त्त > छ् : त्त का छ् रूपान्तर अपभ्रंश में होता था। आरभिक ब्रज में च् भी लुप्त हो गया। इस प्रकार त्त > छ् के रूपान्तर मिलते हैं। जो एक कदम आगे के रूप हैं। उल्लग (ह० पुराण < उच्छ्ग < उत्सग) मछ्छि (प० वे० १६ < मच्छ् < मत्स्य)।

§ २८६. स्त > थ-परिवर्तन भी सलक्ष्य है।

थुत (गी० भा० ६ < स्तुति) हथनापुर (गी० भा० ७ < हस्तिनापुर)

वर्ण-विपर्यय

§ २८७ वर्ण विपर्यय की प्रवृत्ति न य आर्यभाषाओं में पाई जाती है। जैसे मध्यकालीन प्राकृत अपभ्रंश में भी इसना किंचित् रूप दिखाई पड़ता है। डा० तेसीतोरि ने वर्ण विपर्यय के उदाहरणों को चार वर्गों में बाटा है। यह वर्णकरण काफी हद तक पूर्ण कहा जा सकता है। मात्रा विपर्यय, अनुनासिक विपर्यय, स्वर विपर्यय और व्यञ्जन विपर्यय।

मात्रा विपर्यय

तडोर (गी० भा० २१ < ताम्बूल)

सहू (ल० प० क० ३ < अप० साहू < शश्वत्, विशेष § ६४)

कुरवा (गी० भा० ५६ < कौरव)

अनुनासिक विपर्यय

कँबलिय (प० वे० २५ < कँल < कमल)

भेंवर (प० वे० २५ < भँवर < भ्रमर)

कुँवर (ह० पु० < कुँवर < कुमार)

अँनवार (ह० पुराण < अन्वर < अकमाल)

स्वर विपर्यय

(१) परील्लति (स्व० पर्य० < परील्लित)

(२) सिमरौं (गी० भा० < समिरउँ < स्मृ)

(३) पचाजननु (गी० भा० ४३ < पाचजन्य)

- (३) इद्रिन ओंगुन भरिया (प० वे० ६३) इन्द्रिया ओंगुन भरी है ।
 (४) सतनि पूरन लगने (गी० भा० ४५) सलो से भरने लगे ।

विभक्ति

§ २८१ अप्रकाशत परवता व्रज की तरह आरभिक व्रज में भी निर्विभक्तिक प्रयोग पाये जाते हैं । किन्तु व्रजभाषा में सविभक्तिक पद भी सुरक्षित हैं । यह व्रजभाषा की अपनी विशेषता है, कि उसमें खड़ी बोली की तरह येवल परसर्गों का ही नहीं विभक्तियों के भी प्रयोग बचे रहे । कर्ता और कर्म में उपर्युक्त नि या न प्रत्यय विभक्ति चिह्न का भी कार्य करता है ।

कर्म 'हि'

- (१) तिहदि चरावति (छि० वार्ता १४१) कर्म० बहुवचन
 (२) कैमासहि अहमिति हाइ (रा० वार्ता ५) कर्म, एक वचन
 (३) तिहदि कियो प्रणाम (इ० पु० ३२) कर्म बहुवचन

करण 'हि' 'प'

- (१) द्योड पओरें (प्र० च० ४०६) प्रकार से
 (२) चितौरे दीनी पीठ कर्मवाच्य, छि० वार्ता० १३१, चितौरे से पीठ दी गई ।
 (३) अर्षचन्द्र तिदि साधिउ प्र० च० ४०२ उसने साधा

पद्य 'ह'

- (१) वणह मभारि (प्र० च० १३७)
 (२) पदमद तणउ (प्र० च० १०)

बधिकरण—'हि', 'इ', 'ए'

- कुरुलेतहि (स्न० ३) मनहि लगाइ (छि० वार्ता १२८)
 मनि च्यते (प० वे० २८) सरोवरि (प० वे० ३२)
 राषलि (इ० पु०) आगरे (प्र० च० ७०२) घरहि अनतरिउ (प्र० च० ७०५)

सर्वनाम

§ २२२ उत्तमपुरुष—प्राचीन व्रज म उत्तम पुरुष सर्वनाम में दोनों रूप 'मैं' और 'हैं' पाये जाते हैं । कुछ पुराने लेखों में अपभ्रश का हउ रूप भी सुरक्षित है, जैसे प्रद्युम्न चरित (७०२) तथापि प्रधानता हउ के विकसित रूप हौं की है । मई का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है ।

- (१) हउ मतिहीन म लवउ खारि (प्र० च० ७०२)
 (२) मैं शु कथा यह कही (गी० भा० ३)
 (३) हौं न घाउ धालें (गी० भा० ५६)
 (४) ऊरमान मई दीडगा (रा० वार्ता ४६)
 (५) पूरंज म मई कादळें कियउ (प्र० च० १३६)
 (६) कि मई पुरुष विछोही नारि (प्र० च० १३७)

यहाँ हउ, हौं, मइ और मैं इन चारों रूपों के उदाहरण दिये गए हैं । प्राचीन व्रज भाषा की आरभिक रचनाओं में अपभ्रश रूप हउ (हेम० ४।३३८) और मइ (हेम० ४।३३०) भी वर्तमान थे किन्तु परवता रचनाओं में इनके विकसित रूप हौं और मैं ही प्राप्त होते हैं ।

- (३) इन्द्रिन ओगुन भरिया (प० वे० ६३) इन्द्रिवा ओगुन भरी है।
 (४) सरतिन पूरन लागे (गी० भा० ४५) सखो से भरने लगे।

विभक्ति

§ २८१ अधिकाराव परवता ब्रज की तरह आरभिक ब्रज में भी निर्विभक्तिक प्रयोग पाये जाते हैं। किन्तु ब्रजभाषा में सविभक्तिक पद भी गुरक्षित हैं। यह ब्रजभाषा की अपनी विशेषता है, कि उसमें खड़ी बोली की तरह देवल परसर्गों का ही नहीं विभक्तियों के भी प्रयोग बचे रहे। कर्ता और कर्म में उपर्युक्त नि या न प्रत्यय विभक्ति चिह्न का भी कार्य करता है।

कर्म 'हि'

- (१) तिहदि चरावति (छि० वार्ता १४१) कर्म० बहुवचन
 (२) कैमासहि अहमिति हाइ (रा० वार्ता ५) कर्म, एक वचन
 (३) तिहदि कियो प्रणाम (इ० पु० ३२) कर्म बहुवचन

करण 'ह'

- (१) दोउ पओरें (प्र० च० ४०६) प्रकार से
 (२) चितौरे दीनी पीठ कर्मवान्य, छि० वार्ता० १३१, चितौरे से पीठ दी गई।
 (३) अर्षचद्र तिदि साधित प्र० च० ४०२ उसने साधा

पछा 'ह'

- (१) वणह मभारि (प्र० च० १३७)
 (२) पदमद तणउ (प्र० च० १०)

अधिकरण—'हि', 'ह', 'हें'

- कुरुखेतहि (स० ३) मनहि लगाइ (छि० वाता १२८)
 मनि च्यते (प० वे० २८) सरोचरि (प० वे० ३२)
 रावलि (इ० पु०) आगरे (प्र० च० ७०२) घरहि अन्तरिउ (प्र० च० ७०५)

सर्वनाम

§ २९२ उत्तमपुरुष—प्राचीन ब्रज म उत्तम पुरुष सर्वनाम में दोनों रूप 'मैं' और 'हैं' पाये जाते हैं। कुछ पुराने लेखों में अपभ्रश का हउ रूप भी सुरक्षित है, जैसे प्रद्युम्न चरित (७०२) तथापि प्रधानता हउ के विकसित रूप हौं की है। मई का प्रयोग भी कई स्थानों पर हुआ है।

- (१) हउ मतिहीन म लावउ खारि (प्र० च० ७०२)
 (२) मैं जु कथा यह कही (गी० भा० ३)
 (३) हौं न घाउ घालें (गी० भा० ५६)
 (४) कुरमान मई दौडगा (रा० वार्ता ४६)
 (५) पूर्वज म मई काइडें कियउ (प० च० १३६)
 (६) कि मई पुरुष विछोही नारि (प्र० च० १३७)

यहाँ हउ, हौं, मइ और मैं इन चारों रूपों के उदाहरण दिये गए हैं। प्राचीन ब्रज भाषा की आरभिक रचनाओं में अपभ्रश रूप हउ (हेम० ४।३३८) और मइ (हेम० ५।३३०) भी वर्तमान ये किन्तु परवता रचनाओं में इनके विकसित रूप हौं और मैं ही प्राप्त होते हैं।

में के सदृश हैं (देखिये पुरानों राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डा० धीरेन्द्रवर्मा प्राकृत मङ्गेरो रूप से मानते हैं ।

§ २६५. बहुवचन के हम, हमारी आदि रूप भी मिलते हैं ।

- (१) हम तुम बयो नरायन देव (ह० पु०)
- (२) हमार राजा पै वस दयाउ (रा० वार्ता० ४)
- (३) ए सब सुद्ध हमारे देव (गी० भा० ४८)
- (४) इन मारै हमकों फल कौन (गी० भा० ५६)

‘हम’ उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है । हमारी, हमार, हमारे आदि इसी के विद्वत रूपान्तर हैं । हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे <स० अम्हे से किया जाता है । हमारी आदि रूप मङ्कारो <स० *अरमत्कार्यक. से विकसित हो सकते हैं । (देखिये तेसीतरी पुरानी राजस्थानी § ८४) ।

§ २६६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप भावः उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपों की पद्धति पर ही होते हैं । मूल रूप तुम, तू हैं जो अपभ्रंश के तुँ (हेम० ४।३३०) <सकृत त्वम् से निवृत्त हुआ है ।

- (१) अब यह राज तात तुम्ह लेहू (स्वर्गारोहण ५)
- (२) बसु राखगहारा तू दई (छी० वा० ४।६)
- (३) तुम जनि वीर घरी सन्देहू (स्व० पर्ण०)
- (४) जेहि ठा तुम्ह तँह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहि आदि विकारी रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

- (१) तो विष्णु अवरन को सरण (छी० वा० ३।६)
- (२) तो विनु और न कोऊ मेरो (र० म०)
- (३) तो सम जाही छत्री कमनूँ (प्र० च० ४०८)
- (४) तोहि रिनु मो जग पालट मयौ (ह० पुराण)
- (५) तोहि विनु नयन दलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं । तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश <तुँ <*तुम्हे से समव है । (देखिये हि० भाषा का इतिहास § २६१) मूलतः ये मो पद्यों के ही विकारी रूप हैं । ‘तो’ सर्वनाम पद्यों में भी प्रयुक्त होता है । तो मन की जानत नहीं । आदि ।

सम्बन्धो-सम्बन्ध विकारी रूप

- (१) तेरै रुनिधान जो रई (गी० भा० ६४)
- (२) न्याप गरुअत्तग तेरउ (छी० वा० १७)
- (३) नाय तुम्हारे चलिहो राई (स्व० प०)
- (४) निस दिन सुभिरन करत तिहारो (र० म०)

में के सदृश हैं (देखिये पुरानी राजस्थानी § ८३) मेरा आदि की व्युत्पत्ति डा० धीरेन्द्रवर्मा प्राकृत मद्केरो रूप से मानते हैं ।^१

§ २६५. बहुवचन के हम, हमारी आदि रूप भी मिलते हैं ।

- (१) हम तुम जयो नरायन देव (ह० पु०)
- (२) हमार राजा पै वस दयाउ (ग० नार्ता० ४)
- (३) ए सब सुहृद हमारे देव (गी० भा० ४८)
- (४) इन मारै हमकों फल कौन (गी० भा० ५६)

‘हम’ उत्तम पुरुष बहुवचन का मूल रूप है । हमारी, हमार, हमारे आदि इसी के विवृत रूपान्तर हैं । हम का सम्बन्ध प्राकृत अम्हे <स० अम्हे से किया जाता है । हमारी आदि रूप मदकारो <स० अरन्कार्यक से विकसित हो सकते हैं । (देखिये तेसीतोरि पुरानी राजस्थानी § ८४) ।

§ २६६. मध्यमपुरुष

इस सर्वनाम के रूप प्रायः उत्तम पुरुष के सर्वनाम-रूपों की पद्धति पर ही होते हैं । मूल रूप तुम, तू हैं जो अपभ्रंश के तुहूँ (हेम० ४१३३०) <सकृत त्वम् से निवृत्त हुआ है ।

- (१) अब यह सब सात तुम्ह लेटू (स्वर्गारोहण ५)
- (२) बहुत राखणहारा तूँ दई (छी० वा० ४१६)
- (३) तुम जनि वीर धरी सन्देहू (स्व० पर्व०)
- (४) जेहि ठा तुम्ह तँह होइ न हारि (गी० भा० ५२)

तो, तोहि आदि विकारी रूपों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

- (१) तो विणु अवरन को सरण (छी० वा० ११६)
- (२) तो विनु और न कौऊ मेरो (र० म०)
- (३) तो सम जाही छुत्री कमनूँ (प० च० ४०८)
- (४) तोहि विनु मों जय पालट मयी (ह० पुराण)
- (५) तोहि विनु नयन टलइ को नीर (ह० पुराण)

ये उत्तम पुरुष के मो, मोहि के समानान्तर रूप हैं । तो की व्युत्पत्ति अपभ्रंश <तुहूँ <अम्हे से समव है । (देखिये हि० भाषा का इतिहास § २६१) मूलतः ये भी पढ़ी के ही विकारी रूप हैं । ‘तो’ सर्वनाम पढ़ी में मी प्रयुक्त होता है । तो मन की जानत नहीं । आदि ।

सम्बन्धी-सम्बन्ध विकारी रूप

- (१) तेरै सनिधान जो रहै (गी० भा० ६४)
- (२) न्याय गढअलग तेरउ (छी० वा० १७)
- (३) साथ तुम्हारे चलिहो राई (स्व० प०)
- (४) निस दिन मुमिरन करत तिहारो (र० म०)

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी भाषा का इतिहास § २६२

(२) तेइ घणी सदी तिस भूपा (प० वे० ५)

(३) ते सुकृत सलिल समोपी (प० वे० ६४)

तेइ संस्कृत तधि* > तहि > तइ > तेइ का रूपांतर हो सकता है (चाटुर्ज्या, उक्ति व्यक्ति § ६७) तिहि तदि का ही रूप है ।

§ २६६ ता, ताको आदि विकारी रूप—

(१) ताको पाप मैल सम जाई (स्व० रो०)

(२) ताको रूप न सकीं बखानि (वै० पचीसी ३)

(३) ता मानिक सुत सुत को नद (वै० प०)

(४) ता घर भान मडामरु तिसै (गो० भा० ७)

इन रूपों में 'ता' व्रजभाषा का प्रतिद्ध साधित रूप है जो पितृभिन परसर्गों के साथ कई कारकों में प्रयुक्त होता है । वैसे परसर्ग-रहित रूप से यह मूलतः पद्यों में ही प्रयुक्त होता है । पद्यों ताह (अपभ्रंश) से अनुचित होकर ता बना है (उक्ति व्यक्ति § ६३) ।

३०० ताहु, तिसी, तिदि, तही, ताही आदि सम्बन्ध संवधी विकारी रूप—

(१) वरि कागड मह चिनो तिसी (द्वि० वार्ता० १३५)

(२) तिह नेवर मुनि फेरी दीठि (द्वि० वा० १३१)

(३) नारद गिति गो तिहि टाई (प्र० च० २६)

(४) ताही को भावै वैराग (गो० भा० २२)

(५) लिखत ताहि भान गुन ताहि (गो० भा० २०)

(६) तिस कउ अन्त कोइ नहिं छइई (प्र० च० १)

(७) तास चीहइ नहिं कोई (छी० वा० १)

स० तस्य > अप० तस > तसु > तामु । तिसी, तामु का ही स्त्रीलिंग रूप है जो मध्य कालीन ई प्रत्यय से बनाया गया ।

§ ३६१ बहुवचन ते, तिन्ह आदि

(१) ते सुरनर घणा विगृता (प० वे० १२)

(२) तिह मुनिष जनम विगृते (प० वे० २४)

(३) मुटिल वचन तिन कहे वहुत (गो० भा० ३४)

(४) सास ससुर ते आहि अपार (गो० भा० ५४)

तिह और तिन रूप मूलतः वर्तुकरण के प्राचीन तेण के विकार है । डा० चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति ते मध्यकालीन तेणम् + हि विभक्ति से मानते हैं (उक्ति व्यक्ति § ६७) ते संस्कृत के प्राचीन ते से सबद्ध है ।

विकारी रूप—

(१) ति इहि चरावति वौइ उचाइ (द्वि० वार्ता १४२) कर्म

(२) तैं कैसे बँविए सग्राम (गो० भा० ५४) कर्म

(३) तिन समान दूजो नहिं आन (गो० भा० ३०) करण

(४) तिन की बात मु सज्जय भनै (गो० भा० ३२) सम्बन्ध

(२) तेइ घणी सही तिस भूषा (प० वे० ५)

(३) ते सुकृत सलिल समोषी (प० वे० ६४)

तेइ सस्कृत तधि* > तदि > तइ > तेइ का रूपांतर हो सकता है (चाटुष्यां, उक्ति व्यक्ति § ६९) तिहि तदि का ही रूप है।

§ २६६ ता, ताकीं आदि विकारी रूप—

(१) ताको पाप सैल सम जाई (स्व० रो०)

(२) ताकीं रूप न सकीं बलानि (वै० पचीसी ३)

(३) ता मानिक सुत सुत को नद (वै० प०)

(४) ता पर भान महामरु तिसै (गो० भा० ७)

इन रूपों में 'ता' वज्रभाषा का प्रसिद्ध साधित रूप है जो भिन्न भिन्न परसर्गों के साथ कई कारकों में प्रयुक्त होता है। जैसे परसर्ग-रहित रूप से यह मूलतः पद्यों में ही प्रयुक्त होता है। पद्यी ताह (अपभ्रंश) से संकुचित होकर ता बना है (उक्ति व्यक्ति § ६३)।

३०० तामु, तिसी, तिदि, तही, ताही आदि सम्बन्ध संवधी विकारी रूप—

(१) करि कागद मह चिरो तिसी (द्वि० वार्ता० १३५)

(२) तिह नेवर सुनि फेरी दीठि (द्वि० वा० १३१)

(३) नारद गिसि गो तिहि टाई (प्र० च० २६)

(४) ताही को भावे वैराग (गो० भा० २२)

(५) लिखत ताहि भान गुन तादि (गो० भा० २०)

(६) तिस कउ अन्त कोइ नहि छहई (प्र० च० १)

(७) तास चीहइ नहिं कोई (छी० वा० १)

स० तस्य > अप० तसस > तमु > तामु। तिसी, तामु का ही स्त्रीलिंग रूप है जो मध्य कालीन ई प्रत्यय से बनाया गया।

§ ३६१ बहुवचन ते, तिन्ह आदि

(१) ते मुरभर घणा विगृता (प० वे० १२)

(२) तिह मुनिष जनम विगृते (प० वे० २४)

(३) कुटिल वचन तिन कहे बहूत (गो० भा० ३४)

(४) सास ससुर ते आदि अपार (गो० भा० ५४)

तिह और तिन रूप मूलतः वर्तुकरण के प्राचीन तेण के विकार हैं। डा० चाटुष्यां इसकी व्युत्पत्ति ते मध्यकालीन तेणम् + हि विमन्ति से मानते हैं (उक्ति व्यक्ति § ६७) ते सस्कृत के प्राचीन ते से संबद्ध है।

विकारी रूप—

(१) ति इहि चरापति चौह उचाइ (द्वि० वार्ता १४२) कर्म

(२) तैं बैसे वैविण सप्राम (गो० भा० ५४) कर्म

(३) तिन समान दूजो भदि भान (गो० भा० ३०) करण

(४) तिन की बात मु सज्जय भनै (गो० भा० ३२) सम्बध

(२) एह बोल न संमल्यो आन (इ० पु० ६)

(३) इह स्वर्गारोहण की कथा (स्य० रो०)

(४) इह रंभा कइ अपहर (छि० वार्ता १२७)

यह के लिए प्रायः इहि रूप का प्रयोग हुआ है। इहि, एह, इह, यह आदि रूप अग्रप्रथ के एहु (हेम० ४१३६२) से निकलित हुए हैं। एहु का सम्बन्ध डा० चाडुग्या एत् से जोड़ते हैं जिसके तीन रूप एपः, एपा और एतद् बनते हैं (वे० लै० ५५६६) कभी कभी इह का सङ्कुचित रूप 'इ' भी प्रयोग में आता है, जैसे 'इ बाद तणु रग्यो ऐसो (प० वे० ५७)।' इ या 'इयि' का प्रयोग परवर्ती व्रज में भी होता था (देखिए व्रजभाषा ५ १७४)

विकारी रूप या, याहि, आदि। या व्रज का साधित रूप है जिसके कई तरह के रूप परसगों के साथ बनते हैं।

(१) अत्र या कउ देखियउं पराण (प्र० च० ४०३)

(२) अत्र या भयी मरण को ठाँव (प्र० च० ४०६)

(३) सुनउ कथा या परिमल भोग (ल० प० क० ६७)

(४) या तँ समभै सार असार (गी० भा० २८)

(५) या ही लगी हो सेवों (गी० भा० ५७)

‡ ३०४. सम्बन्ध के यानु, इसो आदि रूप—

(१) गीता ज्ञान हीन नर इसो (गी० भा० २७)

इसो रूप स० एत-अस्य > प्रा० एवस्स से सम्बन्धित मारुम होता है। डा० चाडुग्या इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत एतस्य से मानते हैं देखिए (हि० भा० इतिहास ५ २६३)।

बहुवचन—ये, इन

(१) ये नैन दुवै बसि रावै (पं० वे० ४८)

(२) सब जोधा ए मेरे हेत (गी० भा० ३६)

(३) ए दुहुँद अन्ध के पूत (गी० भा० ४५)

(४) छीइल अकारण ए सरे (छी० वा० ११)

ये की व्युत्पत्ति डा० चाडुग्या के अनुसार प्रा० आ० भाषा के एत् > म० वा० एअ > ए से हो सकती है (उक्ति व्यक्ति स्टडी ५ ६७)।

विकारी रूप—इन—इसके साथ भी सभी परसगों का प्रयोग होता है—

(१) येवू इनमें एकै लहै (गी० भा० १७)

(२) इन मारे किमुन को राज (गी० भा० ५५)

(३) इन में को है (प० वा० २१)

इन सर्वनाम सं० एतानाम > एआण > एह अप० > एह > इह > इन।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

‡ ३०५. सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन—जो,

(१) एकादसी सहस्र जो करे (म० क० १६५)

(२) विनमें रोगी कुपथ जो कई (म० क० ३)

(२) एह बोल न संभल्यो आन (इ० पु० ६)

(३) इह स्वर्गांरोहण की क्या (स्व० रो०)

(४) इह रंभा कह अपछर (छि० वार्ता १२७)

यह के लिए प्रायः इहि रूप का प्रयोग हुआ है। इहि, एह, इह, यर आदि रूप अग्रप्रय के एहु (हेम० ४।३६२) से विकसित हुए हैं। एहु का सम्बन्ध डा० चाटुर्ग्या एत् से जोड़ते हैं जिसके तीन रूप एयः, एया और एतद् बनते हैं (वै० लै० ५६६) कभी कभी इह का सङ्कुचित रूप 'इ' भी प्रयोग में आता है, जैसे 'इ बाद तणु रग्यो ऐसो (प० बे० ५७)।' इ या 'इयि' का प्रयोग परवर्ती व्रज में भी होता था (देखिए व्रजभाषा ५ १७४)

विकारी रूप या, याहि, आदि। या व्रज का साधित रूप है जिसके कई तरह के रूप परसगों के साथ बनते हैं।

(१) अब या कउ देखियउँ पराण (प्र० च० ४०३)

(२) अब या भयौ मरण को ठाँव (प्र० च० ४०६)

(३) मुनउ कया या परिमल भोग (ल० प० क० ६७)

(४) या तँ समभौ सार असार (गी० भा० २८)

(५) या ही लागि हौ सेवो (गी० भा० ५७)

५ ३०४. सम्बन्ध के यात्, इसो आदि रूप—

(१) गीता ज्ञान हीन नर इसो (गी० भा० २७)

इसो रूप सं० एत-अत्य > प्रा० एवत्स से सम्बन्धित मात्स्म होता है। डा० चाटुर्ग्या इसकी व्युत्पत्ति सङ्कृत एतस्य से मानते हैं देखिए (हि० भा० इतिहास ५ २६३)।

बहुवचन—ये, इन

(१) ये नैन दुवें वसि रापै (पं० वे० ४८)

(२) सब जोधा ए मेरे हेत (गी० भा० ३६)

(३) ए दुर्बुद्ध अन्ध के पूत (गी० भा० ४५)

(४) छीहल अकारण ए सयै (छी० वा० ११)

ये की व्युत्पत्ति डा० चाटुर्ग्या के अनुसार प्रा० आ० भाषा के एत् > म० वा० एव > ए से हो सकती है (उक्ति व्यक्ति स्टडी ५ ६७)।

विकारी रूप—इन—इसके साथ भी सभी परसगों का प्रयोग होता है—

(१) षेधू इनमें एकै लहै (गी० भा० १७)

(२) इन मारे त्रिमुन को राज (गी० भा० ५५)

(३) इन में को है (रा० वा० २१)

इन सर्वनाम सं० एतानाम > एवाण > एह अर० > एन्ह > इन्ह > इन।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम

५ ३०५. सम्बन्ध वाचक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप पाये जाते हैं।

एकवचन—जो,

(१) एकादसी सहस्र जो करे (म० क० १६५)

(२) बिनमें रोगी कुपथ जो करै (म० क० ३)

ब्रजभाषा § १८७) किन के रूप आरम्भिक ब्रज में मिलते हैं जो उपर्युक्त उदाहरणों में दिखाई पड़ते हैं। सख्या अवश्य ही अपेक्षाकृत कम है।

§ ३०७. अघ्राणि सूचक प्रथम वाचक सर्वनाम के रूप—कहा, काहि।

- (१) कही काहि अहु (छि० वार्ता ११३)
- (२) कहा बहुत करि कीजे आनु (गी० भा० २६)

§ ३०८ अनिश्चय वाचक सर्वनाम

- (१) तिस कउ अन्त कोउ नहिं लहई (प्र० च० २)
- (२) तुम बिनु और न कोऊ मेरो (६० म०)
- (३) इहि ससार न कोऊ रह्यो (गी० भा० २५)

कोऊ ही ब्रज का मुख्य रूप है। कोई का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में नहीं दिखाई पड़ता। परन्तु ब्रज में (मध्यकालीन) भी इसका प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं था (देखिये ब्रजभाषा § १६१)

विकृत रूपान्तर—काहु, किस

- (१) मानत कया न काहु की (स्व० रोहण ६)
- (२) काहु करुना ऊपर चाऊँ (गी० भा० २३)

'किस्यो' रूप भी मिलता है। यह रूप डा० वर्मा के अनुसार खड़ीबोली के किस का संशोधित रूपान्तर है (ब्रजभाषा § १६२) किन्तु इसे अपभ्रंश कस > किस से सम्बन्धित भी कहा जा सकता है।

- (१) किस्यो देख्यो (रा० वा० ४५)

इस रूप का प्रयोग आरम्भिक ब्रज में अत्यल्प दिखाई पड़ता है।

§ ३०९ अचेतन अनिश्चय वाचक सर्वनाम के रूप

- (१) क्यूँ सो भोग जानिबे (रा० वा० २)
- (२) क्यूँ न सुके हिये मभार (गी० भा० ५८)

§ ३१० निजवाचक तथा आदर्शार्थक सर्वनाम

आरणे, आपनो, अपनी आदि रूप

- (१) तेउ रापि सरे न आपणे (प्र० च० ४०६)
- (२) परजा सुखी कीजे आपणी (६० पुराण)
- (३) करइ थालोच मरम आपणा (ल० प० क० १३)
- (४) हौं न विजै चाहौँ आपौँ (गी० भा० ५२)
- (५) इन्द्री राखहु सनइ अरुप वसि (छि० वा० २)
- (६) भीड सहइ तन आप (छि० वा० ५)

ये सभी रूप संस्कृत आत्मन् > अप्यण > अप्य से निर्मित हुए हैं। अपभ्रंश में इसी का अप्यण (हम० ४१४२२) रूप मिलता है जो ब्रज में आपन, अपनी आदि रूपों में विकसित हुआ।

करिहऊ निज सुकृत (छि० वा० १०)

व्रजभाषा § १८७) किन के रूप आरमिऋ व्रज में मिलते हैं जो उपर्युक्त उदाहरणों में दिखाई पड़ते हैं। सख्या अवश्य ही अपेक्षाकृत कम है।

§ ३०७. अप्राणि सूचक प्रश्न वाचक सर्वनाम के रूप—कहा, काहि।

(१) कही काहि अहु (छि० वार्ता ११३)

(२) कहा बहुत करि कीजै आनु (गी० भा० २६)

§ ३०८ अनिश्चय वाचक सर्वनाम

(१) तिस कउ अन्त कोउ नहिं लहई (प्र० च० २)

(२) तुम बिनु और न कोऊ मेरो (६० म०)

(३) इहि ससार न कोऊ रह्यो (गी० भा० २५)

कोऊ ही व्रज का मुख्य रूप है। कोई का प्रयोग आरमिऋ व्रज में नहीं दिखाई पड़ता। परवता व्रज में (मध्यकालीन) भी इसका प्रयोग बहुत प्रचलित नहीं था (देखिये व्रजभाषा § १६१)

विकृत रूपान्तर—काहु, किस

(१) मानत कहा न काहु की (स्व० रोहण ६)

(२) काहु करुना ऊपर चाऊँ (गी० भा० २३)

‘किस्यो’ रूप भी मिलता है। यह रूप डा० वर्मा के अनुसार खड़ीबोली के किस का सशोधित रूपान्तर है (व्रजभाषा § १६२) किन्तु इसे अपभ्रंश कस्त > किस से सम्बन्धित भी कहा जा सकता है।

(१) किस्यो देख्यो (रा० वा० ४५)

इस रूप का प्रयोग आरमिऋ व्रज में अत्यल्प दिखाई पड़ता है।

§ ३०२ अचेतन अनिश्चय वाचक सर्वनाम के रूप

(१) कछू सो भोग जानिबे (रा० वा० २)

(२) कछू न रुके हिये मभार (गी० भा० ५८)

§ ३१० निजवाचक तथा आदरार्थक सर्वनाम

आरणे, आपनो, अपनी आदि रूप

(१) तेउ राषि सने न आपणे (प्र० च० ४०६)

(२) परजा सुखी कीजै आपणी (इ० पुराण)

(३) करइ आलोच मरम आपणा (ल० प० क० १३)

(४) हौं न विजै चाहौं आपौ (गी० भा० ५२)

(५) इन्द्री राखहु सनइ अर्य वसि (छी० वा० २)

(६) भीड सहइ तन आप (छी० वा० ५)

ये सभी रूप सङ्कृत आत्मन् > अप्यण > अप्य से निर्मित हुए हैं। अपभ्रंश में इसी का अप्यण (हिम० ४।४२२) रूप मिलता है जो व्रज में आपन, अपनी आदि रूपों में विकसित हुआ।

करिहऊ निज सुकृत (छी० वा० १०)

(२) गीता ज्ञान होन नरु इसी (गी० भा० २७)

सं० एतादृश > प्रा० एदिस > एइस > अइस > ऐसा, ऐसे आदि ।

(१) कइसइ मान भग या होइ (प्र० च० ३४)

(२) देखा सगुन कैसे बरवीर (गी० भा० ५१)

(३) दिन्ह कौ कैसे सुनू पुराण (इ० पु० ७)

कीदृश > कईस > कइस > कैसा

(१) तैसे मन्त लेहु तुन जानि (गी० भा० ३)

(२) तो यह मोते हैइ तैसैं (गी० भा० ३०)

सं० तादृश > प्रा० तादिस > तइस > तैसा-

(१) कदूयो प्रश्न अर्जुन को तैसे (गी० भा० ३०)

(२) सार मादि वनु ब्राह्म्यौ तिनो (गी० भा०)

यादृश > याईस > अइस > जैसा ।

परसर्ग

§ ३१३. परसर्गों के विषय में डा० तेसीतोररी का यह निष्कर्ष अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि परसर्ग अधिकरण, करण, या अनादान कारक की संज्ञायें हैं अथवा विशेषण और कृत्व । जिस सत्ता के साथ इनका प्रयोग होता है वे उसके बाद आते हैं और उनके लिए उस सत्ता को संबन्ध कारक का रूप धारण करना होता है । अथवा कर्मो कमी अतिक्रमण और करण कारक का भी । इनमें से सिद्धें या सीं तथा प्रति अन्वय हैं (पुरानी राजस्थानी § ६८) आरंभिक ढ्रगभाषा में अनेक प्रकार के परसर्गों का प्रयोग हुआ है । श्रमश्रम की तरह केवल संतक शब्दों का ही नहीं, बल्कि अन्य पूर्ण तत्त्वम या तद्भव पूर्ण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है ।

कर्म परसर्ग—नेँ

§ ३१४ कर्ता कारक में नेँ का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है । यद्यपि यह मरुता अत्यन्त है ।

(१) राजा ने आइस दीन्हों (रा० ल० वार्ता० १४)

(२) सावंत ने स्नान कीयो (रा० ल० वार्ता० १६)

ने परसर्ग का प्रयोग १६वीं शती तक की भाषा में कहीं नहीं दिखाई पड़ता । ऊपर के उदाहरण रामो लघुतम वार्ता की बचनिकाओं से लिए गए हैं । इन्हें चाहें तो परवर्ती भी कह सकते हैं । तिर भी ने का प्रयोग संबन्ध है । कर्तिष्ठा की भाषा को छोड़कर १५वीं शती के पहले की शाब्द ही किमी रचना में 'ने' का प्रयोग मिले । कर्तिष्ठा में भी ये प्रयोग केवल सर्वनाम के जेन्ने रूप में आते हैं । इस प्रकार सत्ता के साथ प्रयुक्त 'ने' के ये अत्यन्त महत्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं । नरहरि भट्ट की भाषा में एक स्थान पर 'ने' आया है (दिल्लिये § २३१)

§ ३१५. कर्म परसर्ग—कहुँ, कौ, को, को, कूं, कँउ

तिन्हि कहुँ बुद्धि (प्र० च० १) गुणियन की है (गी० भा० २)

राखन को श्रवतरो (गी० भा० ५)

ताही को भावै वैराग (गी० भा०) सापर को तैरे (गी० भा० २६)

(२) गीता ज्ञान होन नरु इसी (गी० भा० २७)

सं० एतादृश > प्रा० एदिस > एइस > अइस > ऐसा, ऐसे आदि ।

(१) कइमइ मान भग या होइ (प्र० च० ३५)

(२) देखा सगुन कैसे बरवीर (गी० भा० ५१)

(३) दिग्व कौ कैसे मुनू पुराण (ह० पु० ७)

कईश > कईस > कईस > कैना

(१) तैसे नन्त लेहु तुम जानि (गी० भा० ३)

(२) तो यह मोरै हूँ है तैसे (गी० भा० ३०)

सं० तादृश > प्रा० तादिस > तइस > तैसा-

(१) कइयो प्रश्न अर्जुन को कैसे (गी० भा० ३०)

(२) सार माहि वनु बाण्यौ जिनो (गी० भा०)

यादृश > याईस > बइस > जैसा ।

परसर्ग

§ ३१३. परसर्गों के विशय में डा० तेसीतोररी का यह निष्कर्ष अत्यन्त उचित प्रतीत होता है कि परसर्ग अधिकरण, करण, या अनादान कारक की संज्ञायें हैं अथवा विशेषण और वृद्धन्त । जिस रुदा के साथ इनका प्रयोग होता है वे उसके बाद आते हैं और उनके लिए उस रुदा को संबन्ध कारक का रूप धारण करना होता है । अथवा कभी कभी अधिकरण और करण कारक का भी । इनमें से तिउँ या सीं तथा प्रति अव्यय हैं (पुरानी राजस्थानी § ६८) आरंभिक ब्रजभाषा में अनेक प्रकार के परसर्गों का प्रयोग हुआ है । अत्रअश्र की तरह केवळ द्योतक शब्दों का ही नहीं, बालक अन्य पूर्ण तत्सम या तद्भव पूर्ण शब्दों का भी प्रयोग हुआ है ।

कर्तृ परसर्ग—नेँ

§ ३१४ कर्ता कारक में नेँ का प्रयोग कुछ स्थानों पर हुआ है । यद्यपि यह मरुया अचल्य है ।

(१) राजा नै आइस दीन्हों (रा० ल० वातां० १५)

(२) सावंत ने स्नान कीयो (रा० ल० वातां० १६)

ने परसर्ग का प्रयोग १६वीं शती तक की भाषा में कहीं नहीं दिखाई पड़ता । ऊपर के उदाहरण रासो लघुतम वातां की बचनिकाओं से लिए गए हैं । इन्हें चाहें तो परवर्ती भी कह सकते हैं । तिर भी ने का प्रयोग संस्कृत है । कौर्तिवता की भाषा को छोड़कर १५वीं शती के पहले की शायद ही किसी रचना में 'ने' का प्रयोग मिले । कौर्तिवता में भी ये प्रयोग केवल सर्वनाम के जेन्ने रूप में आते हैं । इस प्रकार रुदा के साथ प्रयुक्त 'ने' के ये अत्यन्त महत्वपूर्ण उदाहरण कहे जा सकते हैं । नरहरि मट्ट की भाषा में एक स्थान पर 'न्हे' आया है (देखिये § २३१)

§ ३१५. कर्म परसर्ग—कहुँ, कौ, को, को, कूँ, कँउ

तिन्हि कहुँ बुद्धि (प्र० च० १) गुरियन कौ है (गी० भा० २)

राखन को अचतये (गी० भा० ५)

वाही को माँजै वैराग (गी० भा०) सापर को तरे (गी० भा० २६)

अधिकरण में मुखर रूप से मध्य से विकसित मज्जि, महि, मद्, में वाले रूप मिलते हैं । उपरि के पर और पै का भी बहुत प्रयोग होता है । अन्त, अन्तर जैसे कुछेक पूर्ण शब्द भी परसर्ग की तरह प्रयुक्त हुए हैं ।

‡ ३२०. सम्बन्ध तणउ, कउ, कौ, को, के, की (स्त्रीलिंग) तगी, तगउ

पग्रह तणउ (प्र० च० १०)

तिम कउ अन्त (प्र० च० २) जोजग कौ विस्तारा (प्र० च० १५)

मीचु को ठाह (प्र० च० ४०६) बनमेजय के रावठि (इ० पु० ५)

जाके चरन (व० मं० २) भीपम रूप की लाडली (व० मं०)

चितइ चिन तन (छि० वार्ता १२४) करम तणी (छी० वा० १८)

कउ, कौ, को, के, की आदि परसर्ग स० कृतः > प्रा० केरो > या केरक > अर० केरउ से विकसित हुए हैं ।

तन, तणउ, तनी आदि रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में कानी विवाद है । चीमस इनकी उत्पत्ति तन > तण (प्रत्यय सनातन, पुरातन) से मानते हैं । केलग ने इसका विरोध किया । सज्ञा या विशेषण से बनने वाले परसर्गों को देखते हुए किसी प्रत्यय से परसर्ग का विकसित होना नियम विरोध जैसा भाव्यम होता है ।^१ इसीलिए डा० तेसोतरी ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के अनुमानित रूप आत्मनक से की ।^२ आत्मनक > अणणउ > तणउ (दे० पुरानी राजस्थानी ‡ ७३) ।

‡ ३२१ परसर्गों के प्रयोग में कहीं कहीं व्यत्यय भी दिखाई पड़ता है ।

अधिकरण का परसर्ग करण में

का पह सीख्यो (प्र० च० ४०६)

मो पै होइहै तैसे (गी० भा० ३)

वेद व्यास पहि मुन्धी (गी० भा० ६३)

सयुक्त—कमी कमी दो बारको के परसर्ग एक साथ प्रयुक्त हुए हैं ।

जैसे— तिन को तैं अति मुख पाइये (व० मंगल)

विशेषण

‡ ३२२ विशेषणों की रचना में प्राचीन ऋजभाषा मध्यकालीन या नवीन ऋजभाषा ने बहुत भिन्न नहीं है । विशेषणों का निर्माण संस्कृत या अनभ्रश पद्धति से थोड़ा भिन्न अवश्य है क्योंकि रूप-निर्माण की दृष्टि से प्राचीन आर्य भाषा के विशेषणों की तरह, विशेष्य के लिंग, वचन आदि का अनुसरण करते हुए भी इनके स्वरूप में सर्वत्र कोई निश्चित परिवर्तन नहीं होता । कई स्थलों पर तो ये लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं । कहीं नहीं भी होते जैसे सुन्दर लडका, सुन्दर लडकी आदि । नीचे कुछ थोड़े से महत्वपूर्ण विशेषण-रूप उपस्थित किये जाते हैं । इनमें पहला पद विशेषण है दूसरा विशेष्य ।

बड़ी वार (प्र० च० ३२) उत्तम ठाऊँ (मं० क० । विकट दन्त (दे० प० १) अनूप कथा (दे० प०) चकित चित (छि० वार्ता १२०) सुपर जोवन (छि० वार्ता० १३६) कुनुकी

अधिकरण में मुख्य रूप से मध्य से विकसित मग्भि, महि, मह, में वाले रूप मिलते हैं। उपरि के पर और पै का भी बहुत प्रयोग होता है। अन्त, अन्तर जैसे बुद्धक पूर्ण शब्द भी परसर्ग की तरह प्रयुक्त हुए हैं।

§ ३२०. सम्बन्ध तणउ, कउ, कौ, को, के, की (स्त्रीलिंग) तगी, तगउ

पद्मह तणउ (प्र० च० १०)

तिम कउ अन्त (प्र० च० २) जोजग कौ विस्तारा (प्र० च० १५)

मीजु को ठार (प्र० च० ४०६) बनमेजय के शक्ति (ह० पु० ५)

जाके चरन (६० मं० २) भीषम रूप की लाडली (६० मं०)

चितर चिन तन (छि० वार्ता १२४) करम तणी (छी० वा० १८)

कउ, कौ, को, के, की आदि परसर्ग स० कृतः > प्रा० केरो > या फेरक > अर० केरउ से विकसित हुए हैं।

तन, तणउ, तनी आदि रूपों की व्युत्पत्ति के विषय में काजी विवाद है। बीमल इनकी उत्पत्ति तन > तण (प्रत्यय सनातन, पुरातन) से मानते हैं। जेलग ने इसका विरोध किया। सहा या विशेषण से बनने वाले परसर्गों को देखते हुए किसी प्रत्यय से परसर्ग का विकसित होना नियम विरोध नैसा मादम होता है।^१ इधीलिए डा० तेसीतोरी ने इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के अनुमानित रूप आत्मनक से की।^२ आत्मनक > अण्णउ > तणउ (दे० पुरानी राजस्थानी § ७३)।

§ ३२१ परसर्गों के प्रयोग में कहीं कहीं व्यत्यय भी दिखाई पटता है।

अधिकरण का परसर्ग करण में

का पह सीख्यो (प्र० च० ४०६)

मो पै होइहै तैसे (गी० भा० ३)

वेद व्यास पहि सुन्यौ (गी० भा० ६३)

सयुक्त—कभी कभी दो चारकों के परसर्ग एक साथ प्रयुक्त हुए हैं।

जैसे— तिन को तैं अति सुख पाइये (६० मंगल)

विशेषण

§ ३२२ विशेषणों की रचना में प्राचीन ब्रजभाषा मध्यकालीन या नवीन ब्रजभाषा से बहुत भिन्न नहीं है। विशेषणों का निर्माण संस्कृत या अपभ्रंश पद्धति से थोड़ा भिन्न अवश्य है क्योंकि रूप-निर्माण की दृष्टि से प्राचीन आर्य भाषा के विशेषणों की तरह, विशेष्य के लिंग, वचन आदि का अनुसरण करते हुए भी इनके स्वरूप में सर्वत्र कोई निश्चित परिवर्तन नहीं होता। कई स्थलों पर तो ये लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाते हैं। कहीं नहीं भी होते जैसे सुन्दर लडका, सुन्दर लडकी आदि। नीचे कुछ थोड़े से महत्वपूर्ण विशेषण-रूप उपस्थित किये जाते हैं। इनमें पहला पद विशेषण है दूसरा विशेष्य।

बगी चार (प्र० च० ३२) उत्तम ठाऊँ (मं० क०) विकट टन्त (वि० प० १) अनूप कथा (वि० प०) चकित चित्त (छि० वार्ता १२०) सुपर जोवन (छि० वार्ता० १३६) कुतुबी

१ ए रामर आर ६ हिन्दी लैंग्वेज § ११४।

१००—सौ (प्र० च० ११) सै (ह० पुराण)

१०१—एकोत्तर सइ (ल० प० क० ११)

कोटि (म० क० २६६,) करोर (गी० भा० १)

§ ३२४. क्रम वाचक

१—प्रथम (छी० या० १५)

२—दूजो (गी० भा० ११)

५—वंचमी (प्र० च० ११) स्त्रीलिंग

८—अष्टमी (छी० या० ५३)

९—नवमी (ल० प० क० ४) स्त्रीलिंग

अपूर्ण संख्यावाचक

३ अर्ध (प्र० च० ४०३)

§ ३२५. आवृत्ति संख्यावाचक—

चौगुनो (गी० भा० १३)

क्रियापद

सहायक क्रिया

§ ३२६. व्रजभाषा में संयुक्त क्रिया का बहुल प्रयोग होता है। संयुक्त क्रिया में सहायक क्रिया का अग्रना अलग महत्व है। सहायक क्रिया अस्तिनाचक क्रिया के रूपों से निर्मित होती है। व्रजभाषा में $\sqrt{\text{भू}}$ और $\sqrt{\text{अच्छ}}$ (अच्छई ल० प० क० ९ अर्ध आदि रूप) धातु से बनी सहायक क्रियाएँ होती हैं। नीचे भू धातु से बनी सहायक क्रिया के विविध काल के रूप दिये जाते हैं।

सामान्यवर्तमान

होइ, हुइ, हीं, होय, होरि (बहु)

कवित न होइ (प्र० च० १) सो होइ (प्र० च० ५)

होय भान (म० क० २६६) संबन्धी हैं (गी० भा० ५५)

होई, बहुवचन (वि० प०) देत हइ (रा० वा० ४८)

होइ, हुई, होय < अप० होइ < सं० भवति से बने हैं। होई बहुवचन का रूप है।
हैं रूप < अहइ < अच्छइ < अस्ति से विकसित माना जाता है।

विविध आशार्थक रूप का कोई उदाहरण इन रचनाओं में नहीं मिला। संभवतः यह रूप होइजे, हूजै, हूजो, रहा होगा, ऐसे ही रूप अन्य क्रियाओं के आशार्थक में होते हैं। इसी से मिलते जुलते रूप पुरानी राजस्थानी में उपलब्ध होते हैं (देखिये तेसोतोरि पु० राज० § ११४)

भूत धृदन्त

§ ३२७. हुआउ, भयउ, भई (स्त्रीलिंग) भौ, भये, भयौ, हुआ

सो दाढे भयऊ (प्र० च० २८) भई चितकणि (प्र० च० ४०२) भौ ताम (प्र० च० ४०३) भयौ भौचु को (प्र० च० ४०६) खंड हे भयऊ (ख० रो० ८) हजूर हुआ (रा० वा० ४८) हुआ उछाइ (ल० प० क० ५१) भई (छि० वार्ता १२७) भौ जिमि खौर (छि० वार्ता

एकवचन—सोदर (प्र० च० १६) चलइ (प्र० च० ३३) भीजइ (प्र० च० १३६)
रोवइ (प्र० च० १३६) पाडै (इ० पु०) झुरै (इ० पु०) मेल्लै (इ० पु०) विनसै (म० क० १)
करै (म० क० २६५) हींडइ (ल० प० क० ७) देयै (छि० वातां १२६) बनावइ
(छि० वा० १३६) ।

बहुवचन की क्रिया में हि विभक्ति अपभ्रश में चलती थी, कुछ स्थानों पर हि विभक्ति सुरक्षित है । अहिं > अइं > ऐ के रूप में परिवर्तन भी हुआ है ।

हि—कराहि (प्र० च० ७०६) जाहि (गी० भा० ३८) गुजहि (छी० वा० १७)

इ—लागइ (इ० पुराण २) जाइ (छि० वा० १२५) देषइ (छि० वा० १२५)

पीवइ (छी० वा० १०) ।

एँ—मनावै (वे० प० २)

ऐँ—रावै (स्व० रो० ६) आवै (छि० वातां १२५)

वर्तमान कृदन्त से बना सामान्य वर्तमान काल

§ ३३३ वर्तमान कृदन्त के अत वाले रूप किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान में प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकारके प्रयोगों का प्रचलन मध्यकाल में ही आरम्भ हो गया था । सङ्कृत अन्तकः > अम० अन्तउं > अत, अती के रूप में इनका विकास हुआ । पठन्त > पठन्तउ > पठत पडती या पडति । डा० तेसितोरो का विचार है कि सभ्यतः अपभ्रश में ही दन्त्य अनुनासिक व्यञ्जन दुर्लभ हो कर अनुनासिक मात्र रह गया था जैसा कि सिद्ध हेम ५।३८८ में उद्धृत करंतु और प्राकृतवैगलम् १।१३२ में उद्धृत जात से अनुमान किया जा सकता है । (पुरानी राजस्थानी § १२२) अन्त वाले रूप भी अवदृष्ट में सुरक्षित हैं । किन्तु अन्त > अत की प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल दिखाई पडती है । बाद में ब्रजभाषा में अन्त वाले रूप प्रायः अत-अती वाले रूपों में बदल गए । कहीं कहीं अन्त वाले रूप मिलते हैं उन्हें अपभ्रश का प्रभाव ही कहना चाहिए जैसे—

(१) जे यहि छन्द मुगन्तु (इ० पु० ३०)

(२) घोर पाप पीयन्तु (इ० पु० ३०)

१४११ वि० के प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण में अवदृष्ट की तरह अन्त वाले रूप ही मिलते हैं । बाद में १५वीं शती के उत्तरार्ध से अत वाले रूप मिलने लगे । उदाहरण—

(१) दुप मुख परत न दीडि (इ० म० १)

(२) देखी पूवन क वर मागत (इ० म०)

(३) मोहन महलन करत विलास (विष्णुपद)

(४) देखति निरति चित्र चहुँपासि (छि० वातां १३२)

(५) तिन्हहिं चरावनि वाह उचाइ (छि० वातां १५२)

(६) आवति सपइ वार वार (छी० वा० ७)

इन रूपों में इ कारान्त अर्थात् ति वाले रूप स्त्रीलिंग में है । छीदल वावनी में अपभ्रश के प्रभाव के कारण कुछ अतउ वाले रूप भी मिलते हैं ।

चित चिन्ता चिन्तउ हरिण (३)

एकवचन—सोदर (प्र० च० १६) चल्द (प्र० च० ३३) मीजद (प्र० च० १३६)
रोवइ (प्र० च० १३६) फाटे (ह० पु०) भुरै (ह० पु०) मेलइ (ह० पु०) बिनसै (म० क० १)
करै (म० क० २६५) हींइर (ल० प० क० ७) देपै (छि० वातां १२६) बजावइ
(छि० वा० १३६) ।

बहुवचन की क्रिया में हि विभक्ति अपभ्रश में चलती थी, कुछ स्थानों पर हि विभक्ति
सुरक्षित है । अहिं > अइं > ऐ के रूप में परिवर्तन भी हुआ है ।

हि—कराहि (प्र० च० ७०६) बाहिं (गी० भा० ३८) गुअहिं (छी० वा० १७)

इ—लगइ (ह० पुराण २) जाइ (छि० वा० १२४) देपइ (छि० वा० १२४)
पीवइ (छी० वा० १७) ।

एँ—मनावै (वि० प० २)

ऐँ—राखै (ख० रो० ६) आवै (छि० वातां १२४)

वर्तमान कृदन्त से बना सामान्य वर्तमान काल

§ ३३३ वर्तमान कृदन्त के अत वाले रूप किंचित् परिवर्तन के साथ सामान्य वर्तमान
में प्रयुक्त होते हैं । इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन मध्यकाल में ही आरम्भ हो गया था । सङ्कृत
अन्तकः > अण० अन्तउं > अत, अती के रूप में इनका विकास हुआ । पठन्त > पठन्तउ >
पठत पढती या पढति । डा० तेसीतोरों का विचार है कि संभवतः अपभ्रश में ही दन्त्य
अनुनासिक व्यञ्जन दुर्जल हो कर अनुनासिक मात्र रह गया था जैसा कि सिद्ध हेम ४।३८८ में
उद्धृत करतु और प्राकृतपैंगलम् १।१३२ में उद्धृत जात से अनुमान किया जा सकता है ।
(पुरानी राजस्थानी § १२२) अन्त वाले रूप भी अवदृष्ट में सुरक्षित हैं । किन्तु अन्त > अत की
प्रवृत्ति ज्यादा प्रबल दिखाई पडती है । बाद में ब्रजभाषा में अन्त वाले रूप प्रायः अत-अती
वाले रूपों में बदल गए । कहीं कहीं अन्त वाले रूप मिलते हैं उन्हें अपभ्रश का प्रभाव ही
कहना चाहिए जैसे—

(१) जे यदि छन्द मुगन्तु (ह० पु० ३०)

(२) घोर पाप पीटन्तु (ह० पु० ३०)

१४११ वि० के प्रद्युम्न चरित और हरिश्चन्द्र पुराण में अवदृष्ट की तरह अन्त वाले
रूप ही मिलते हैं । बाद में १५वीं शती के उत्तरार्ध से अत वाले रूप मिलने लगे । उदाहरण—

(१) दुप मुख परत न दीठि (ह० म० १)

(२) देवी पूजन कर वर मागत (ह० म०)

(३) मोहन महलन करत विलास (विष्णुपद)

(४) देखति निरति चित्र चहुँपासि (छि० वातां १३२)

(५) तिन्हहिं चरावनि वाह उचार (छि० वातां १४२)

(६) आवति सपइ वार वार (छी० वा० ७)

इन रूपों में इ कारान्त अर्थात् ति वाले रूप स्त्रीलिङ्ग में है । छीहल वावनी में अपभ्रश
के प्रभाव के कारण कुछ अतउ वाले रूप भी मिलते हैं ।

चित चिन्ता चिन् - - - (३)

क्रियार्थक-संज्ञा

§ ३३६. परवती ब्रज की ही तरह आरंभिक ब्रज में भी क्रियार्थक संज्ञा के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक 'ध' वाला रूप और दूसरा 'न' वाला। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि साधारणतया पूर्व में धातुओं में 'नो' लगाकर भी इस तरह के रूप बनते हैं (देखिये ब्रजभाषा § २२०) नीचे प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाओं से इस तरह के रूप उद्धृत किये जाते हैं।

'न'—करन (प्र० च० ३१) पोषन (म० क० २६४) रचन (छि० वा० १२०)
देखन (छि० वा० १२४) राखन (गी० भा० ५) भाजन (छी० वा० १३)
घडन (छी० वा० १३) करण (छी० वा० १३)।

'नि'—स्त्रीलिंग रूपों में 'नि' लगता है।

चितवनि, चलनि, मुरनि, मुसक्यानि (छि० वा० १३५)

'व'—चलिबे को (१० वार्ता ८) होइव (गी० भा० १६)
बहिबे (गी० भा० २७)।

§ ३३७. भूत वृद्धन्त—भूतकाल में भूत वृद्धन्त के बने रूपों का निश्चयार्थ में प्रयोग होता है। ये रूप कर्तों के अनुसार लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं। भूतकाल के उत्तमपुरुष के रूप—

- (१) रचिउ पुराण (प्र० च० ७०५)
- (२) अबतरिउँ (प्र० च० ७०५)
- (३) सुमिरयो आदीत (६० पु० ४)
- (४) कियो कबीत (६० पुराण ४)
- (५) हउ सहिउँ सब (छी० वा० १५)
- (६) पावी मति (स्त्रीलिंग हरि० पु० ३)

भूतकाल में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। प्रायः ये रूप एकवचन में ऊ, ओ, औ, ओ कारान्त, बहुवचन में ए-अथवा ऐ-कारान्त तथा सभी पुरुषों में स्त्रीलिंग रूपों में एकवचन में ईकारान्त तथा बहुवचन में ई-कारान्त होते हैं। उत्तमपुरुष का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। बाकी के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मध्यम पुरुष के रूप

- सौख्यो पोरिस (प्र० च० ४०६) मारिउ कास (प्र० च० ४१०)
भुंजिउ राज (प्र० च० ४१०)
पूलियौ मूड अब पत्त तजि (छी० वा० १२)
ये भ्रजुस कीवउ घणो (छी० वा० १२)
एह बोल म संमेल्यो आन (६० पुराण ६)

अन्य पुरुष के रूप

ऊकारान्त ओकारान्त तथा औकारान्त होते हैं।

क्रियार्थक-संज्ञा

§ ३३६. परवर्ती ब्रज की ही तरह आरम्भिक ब्रज में भी क्रियार्थक संज्ञा के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक 'ज' वाला रूप और दूसरा 'ज' वाला। डा० धीरेन्द्र वर्मा का मत है कि साधारणतया पूर्व में धातुओं में 'नी' लगाकर भी इस तरह के रूप बनते हैं (देखिये ब्रजभाषा § २२०) नीचे प्राचीन ब्रजभाषा की रचनाओं से इस तरह के रूप उद्धृत किये जाते हैं।

'न'—करन (प्र० च० ३१) पोपन (म० क० २६५) रचन (छि० वा० १२०)
देखन (छि० वा० १२५) राखन (गी० भा० ५) मानन (छी० वा० १३)
घडन (छी० वा० १३) करण (छी० वा० १३)।

'नि'—स्त्रीलिंग रूपों में 'नि' ल्याता है।

चितवनि, चलनि, सुरनि, मुसकयानि (छि० वा० १३५)

'व'—चलिबे को (५० वार्ता ८) होइब (गी० भा० १६)

कहिबे (गी० भा० २७)।

§ ३३७. भूत कृदन्त—भूतकाल में भूत कृदन्त के धने रूपों का निश्चयार्थ में प्रयोग होता है। ये रूप कर्ता के अनुसार लिंग-वचन के अनुसार परिवर्तित भी होते हैं। भूतकाल के उत्तमपुरुष के रूप—

- (१) रविउ पुराण (प्र० च० ७०५)
- (२) अबतरिउँ (प्र० च० ७०५)
- (३) सुभिरयो आदीत (ह० पु० ४)
- (४) किवौ कमीत (ह० पुाण ४)
- (५) हउ सहिउँ सब (छी० वा० १५)
- (६) पावी मति (स्त्रीलिंग हरि० पु० ३)

भूतकाल में उत्तमपुरुष, मध्यमपुरुष और अन्यपुरुष के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता। भावः ये रूप एकवचन में ऊ, ओ, औ, ओ कारान्त, बहुवचन में ए-अथवा ऐ-कारान्त तथा सभी पुरुषों में स्त्रीलिंग रूपों में एकवचन में ईकारान्त तथा बहुवचन में ई'कारान्त होते हैं। उत्तमपुरुष का उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है। बाकी के उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मध्यम पुरुष के रूप

सीख्यो पोरिस (प्र० च० ४०६) मारिउ कास (प्र० च० ४१०)

शुंजिउ राब (प्र० च० ४१०)

फूलियौ मूढ अब पत्त तजि (छी० वा० १२)

ये भ्रुत कीयउ घणो (छी० वा० १२)

एह बोल म संमल्यो आन (ह० पुाण ६)

अन्य पुरुष के रूप

ऊकारान्त ओकारान्त तथा औकारान्त होते हैं।